ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रंथमाला, हिन्दी ग्रंथांक—२१

खोजकी पगडंडियाँ

मुनि कान्ति सागर

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

भारतीय विद्या एवं संस्कृतिके अनन्य गवेषक

राजस्थान-पुरातत्त्व-विभागके प्रधान

आचार्य श्री जिनविजयजीके

कर कमलोंमें

●

विषय-सूची

प्रस्तावना ७

आत्म-वक्तव्य ९

१—ललित कला

१—जैनाश्रित चित्रकला ३

२—बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकला .. ६१

३—महाकोसलके जैन-भित्ति-चित्र . . १०९

४—भारतीय शिल्प एव चित्रकलामे काष्ठका उपयोग ११९

५—राजस्थानमे सगीत . १३२

२—लिपि

१—महाराज हस्तीका नवोपलब्ध ताम्रशासन १४५

२—कलचुरि पृथ्वीराज द्वितीयका ताम्रशासन .. १५६

३—गुप्त-लिपि १६६

३—भौगोलिक और यात्रा

१—मेरी नालन्दा यात्रा १७१

२—विन्ध्याचल-यात्रा २०३

३—कला-तीर्थ मैहर २१६

४—जैन दृष्टिमे पाटलिपुत्र २३०

प्रस्तावना

श्रीमुनि कान्तिसागरजी प्राचीन विद्याओके मर्मज्ञ अनुसधाता हैं। जैन मुनि लोग पैदल यात्रा करते है। इस पैदल यात्राके समय मुनिजीने पुरातत्त्व-सबधी अनेक ऐसे स्थलोको देखा है जहा साधारणत. आजकलके आधुनिक दृष्टि-सपन्न अनुसधाता नही पहुच पाते। इन ऐतिहासिक स्थानो, मदिरो, देवमूर्तियो, कलाशिल्पोका बडा ही रोचक वर्णन उन्होने "खोजकी पगडडिया" नामक पुस्तकमे दिया है। यह पुस्तक न तो मौजी घुमक्कडका यात्रा-विवरण है और न पुरातत्त्वके ऐकान्तिक आराधककी नीरस मापजोख। फिर भी इसमे दोनोके गुण मौजूद है। मुनिजी प्राचीन स्थानोको देखकर स्वय आनद-विह्वल होते हैं और अपने पाठकोको भी उस आनदका उपभोक्ता बना देते है। पुस्तकमे किसी प्रकारकी 'हाय-हाय' या उच्छ्वास-भरी भाषा बिल्कुल नही है। सहज भावसे वे द्रष्टव्यका वर्तमान रूप और अतीत इतिहास बता देते है।

स्वभावत उनका अधिक ध्यान जैन ऐतिह्य और परपराकी ओर गया है। जैनतीर्थोंकी यात्राका उन्हे अवसर भी अधिक मिला है और जैन-शास्त्रोके वे अच्छे ज्ञाता भी है। फिर भी उनकी दृष्टि बहुत ही व्यापक और उदार हैं। उनका ऐतिहासिक ज्ञान बहुत गभीर है। वस्तुत. इस समय जैन परपराके अधिक आलोडनकी आवश्यकता भी है। कम लोग पुरातत्त्वके जैन पहलूका परिचय रखते है। इसीलिए मुनिजीका यह प्रयत्न और भी महत्त्वपूर्ण और अकर्षक हो गया है।

मुनिजीके कहनेका ढग भी बहुत ही रोचक है। बीच-बीचमे उन्होंने व्यंग्य-विनोदकी भी हल्की छीटें रख दी है। इतिहासको सहज और रसमय बनानेका उनका प्रयत्न बहुत ही अभिनदनीय है। जो लोग इति-

हासको शुष्क और दुरूह बनाते हैं वे मनुष्यको उसके यथार्थ रूपमें समझने देनेके सामूहिक प्रयत्नमें बाधा ही उत्पन्न करते हैं। मुनिजीने ऐतिहासिक तथ्योंको बडे रोचक ढगसे उपस्थित किया है। यह इस पुस्तकका बडा भारी गुण है।

मैं हृदयसे मुनिजीकी इस छोटी-सी पुस्तकका स्वागत करता हू और आशा करता हू कि उन्होंने अपनी लबी पैदल यात्राओंमें जो अनमोल रत्न सग्रह कर रखे है उन्हे धीरे-धीरे हिंदी पाठकोके सामने और भी अधिक मात्रामें रखते जाएगे। तथास्तु।

हिन्दू विश्वविद्यालय काशी
७-९-५३

—(डा०) हजारीप्रसाद द्विवेदी

आत्म-वक्तव्य

यो तो सर्वसाधारणके लिए जानना यह अनिवार्य नही कि लेखक जो कुछ प्रसव करता है, उसके पृष्ठभागमे किस प्रकारकी प्रेरणा कार्य करती है ? किंतु पाश्चात्य परम्परासे प्रभावित मनोवैज्ञानिकोको रचनाकी अपेक्षा उस चक्रके सचालनमे सहायक प्रवृत्तियोके प्रति अधिक जिज्ञासा दृष्टिगोचर होती है। यह विचार प्रत्येक लेखकके साथ सम्बद्ध तो होना चाहिए पर ऐसा देखा कम ही गया है। व्यक्तिका समुचित मूल्याकन निखरे हुए व्यक्तित्वपर अवलबित है। व्यक्तित्वका विकास जिन महान् प्रेरणाओके आधारपर होता है, उनसे जनता स्वर्णिम निर्माणकी ओर भलीभाति आकृष्ट हो सकती है। अनुभवसे सिद्ध है कि कभी-कभी जनताकी रुचिके परिष्कार व नैतिक उत्थानमे कृतिकी अपेक्षा कृतिरचना प्रेरकतत्त्व अधिक सफल व उत्प्रेरक प्रमाणित हुए हैं। स्थूल दृष्टि प्रकृतिके बाह्यावरण तक सीमित रहती है, अर्थात् वह कलाकारके कृतित्वपर ही स्तभित हो जाती है किंतु द्रष्टा अपनी सज्ञा यही नही खो बैठता, वह अन्तर्जगत्के निगूढतम तत्त्वोके तहतक पहुँचता है। कृतित्वका उचित मूल्याकन वस्तुपरक न होकर भावना-परक है। वस्तु तो विषयका आशिक व स्थूल रूपमात्र है। रूपकी अपेक्षा रूपनिर्माण-चित्तवृत्तिके मथनका महत्त्व अधिक है। जीवन कुछ ऐसा है कि न जाने किस समय किस सामान्य घटनासे बदल जाय। सचमुच जहातक मानवविकासका प्रश्न है विकसितमानवकी अपेक्षा उसके क्रमिक विकासकी घडियाँ अगणित उज्ज्वल व्यक्तित्वका निर्माण कर सकती है। विकास-विषयक प्रेरणा व्यष्टयात्मक होकर भी तत्त्वत पूर्णत समष्टयात्मक है।

मेरे वैयक्तिक जीवनमे अभिरुचि रखनेवालोकी ओरसे कई बार जिज्ञासा प्रकट की गई कि जैनमुनि होते हुए भी मेरा विशिष्ट आकर्षण आध्यात्मिक साधनाके केन्द्रसम मदिरोकी अपेक्षा जीर्ण-विशीर्ण व वृक्ष-

लताओसे परिवेष्टित निर्जन खडहर व गिरिकन्दराओके प्रति क्यो है? प्राय इसकी उपेक्षा करना ही उचित समझा। ऐसा अनुभवजन्य विश्वास रहा है कि रुचिका भावी प्रशस्त व परिष्कृत परिणाम सस्कार जनित होते हुए भी सर्वथा आकस्मिक नही है। भावजगत् रूपी रुचि-बीज मानस धरातलमे अवश्य ही किसी न किसी रूपमे रहते है। उच्च कोटिके प्राणवान् बाह्य सस्कारो द्वारा सामयिक परिस्थिति और प्रेरणाके अनुसार उनका पोषण होता है। विकसित जीवनके पृष्ठभागमे अवश्य ही कोई न कोई उत्प्रेरक व स्फूर्तिप्रद एक या अधिक घटनाए रहती है जो आगे चलकर उसे विशिष्ट सज्ञासे अभिषिक्त कर उसका अपना स्वतत्र व आदर्शमूलक स्थान बना देती है। प्राय देखा गया है कि बाल्यजीवनकी कतिपय विशिष्ट घटना या रुचि क्रमश पोषिक होकर जीवनसाधनाको केन्द्रित कर लेती है।

बचपनसे ही मुझे निर्जनवन व एकान्त खडहरोसे विशेष स्नेह रहा है। अपनी जन्मभूमि जामनगरकी बात लिख रहा हू। वहाका खडित दुर्ग ही मेरा क्रीडास्थल रहा है। "होडिया कोठा" और तत्सन्निकटवर्ती विशाल व स्वच्छ सरोवर सौराष्ट्रमे सौंदर्यके प्रतीक समझे जाते है। आजसे २२ वर्ष पूर्वकी बात है—सरोवरके किनारेपर टूटे हुए खडहरोकी लम्बी पक्ति थी, जहाँ बारहो मास प्रकृति स्वाभाविक शृगार किये रहती है। कहना चाहिए वे खडहर सस्कृति, प्रकृति और कलाके समन्वयात्मक केन्द्र थे। उन दिनो मै गुजराती चौथी कक्षामे पढता था। पढनेमे भारी परेशानीका अनुभव होता था पर अभिभावकोका तकाजा इतना कडा व अटल था कि बिना शाला गये माँका प्यार छोडकर भोजनतक मिलना असम्भव था। अधिक नियत्रण व्यक्तिको कभी कभी स्वच्छन्द बना देता है यदि उसका दृष्टिकोण स्वस्थ न हो तो। मै और मेरी बहिनने अपना बचतका वैधानिक मार्ग सुगमतापूर्वक निकाल ही लिया। उन दिनो "पढने"का तात्पर्य केवल इतना ही था कि शालाके समय घरपर न रहना। शालाके समय अपने बस्ते लेकर हम लोग सरोवर तटवर्ती खडहरोमे छिपा देते और वही खेला करते। क्षुधाका अनुभव होनेपर "आणदा बाबा"

के चौकमे लगी फलोकी दूकानपर चले जाते और फल चुराकर क्षुधा शात करते। जलाशयमे तृषा बुझाकर खडहरोकी राह चल देते। पाँच बजते ही घरकी ओर चल पडते। बस यही प्राय. नित्यका क्रम था। शिक्षक या परिचित द्वारा घर शिकायत पहुँचनेपर कभी-कभी पिटाई भी खूब होती पर क्रम अपरिवर्तनीय ही रहता।

खडहर बनानेवालोके प्रति उन दिनो भी हमारे बाल हृदयमे अपार श्रद्धा थी। इसलिए कि छिपकर खेलनेका वहाँ बडा ही अच्छा प्रबन्ध था। खडहरके खम्भोपर खीची हुई आडी-टेढी विलक्षण रेखाएँ कभी-कभी अवश्य ही चिताका कारण बन जाती कि हमारी शालाके ब्लेक बोर्डका ड्राइग आखिर इन निर्जन पत्थरोमे किसके लिए उत्कीर्णित कर रक्खा है और घण्टानादके साथ पूजे जानेवाले भगवान्‌की अधटूटी ये मूर्तियाँ, बिना पानी चढाये यहाँ क्यो निखरी पडी हैं ? निकट ही मदिरोके जन-कोलाहलसे हमे आश्चर्य होता कि वहाँ भी भगवान् हैं और यहाँ भी। वहाँ जानेवालोकी सख्या बहुत बडी थी और यहाँ केवल हम दो ही थे। इतना अन्तर क्यो ? कभी-कभी बाल-मानस यह सोचनेको विवश करता कि शायद इस जेलमे भगवान् सजा तो नही काट रहे हैं ? अपरिपक्व व भावुक मानस वस्तुविशेषके प्रति जो भी राय बनावे, ठीक है। भला तब हमे क्या पता था कि ये खडहर तो मानवता की अखड ज्योति और राष्ट्रिय पुरुषार्थ और लोकजीवनके प्रेरणात्मक भव्य प्रतीक हैं। जैन कुलमे उत्पन्न न होते हुए भी अल्प वयमे मैने जैन-मुनि दीक्षा अगीकार की। जैन-मुनियोके लिए किसी भी प्रकारका वाहन-व्यवहार सर्वथा वर्जित है। अत पाद-विहार अनिवार्य है। यातायातके साधनो द्वारा विश्वनैकटच स्थापनके युगमे भी आज श्रमण-परम्परा उन्नत है। भारतकी एकमात्र यही ऐसी सास्कृतिक सस्था है जो वैयक्तिक, नैतिक व आध्यात्मिक साधनाके साथ शोध-खोजमे भी गहरी अभिरुचि रखती आई है और रखती है। सौभाग्यसे जिस सम्प्रदायमे (खरतरगच्छमे) मै दीक्षित हुआ उसका सास्कृतिक इतिहास सापेक्षत अत्यन्त उज्ज्वल रहा है। जैन-साहित्य-

सृजन और ललितकलाके परिपोषणमें इस सम्प्रदायका अपना विशिष्ट स्थान है। मेरे अभिभावक मुनिराज श्री मगलसागरजी महाराज भी पुरातत्त्वान्वेषण व प्राचीन साहित्यमे पर्याप्त रुचि रखते है। उनकी एतद्विषयक अनुभूतिने मेरा मार्ग अधिक स्पष्ट किया। विहार प्रदेशमें आनेवाले प्राचीन स्थान और त्रुटित खडहरोके प्रति वे मेरा ध्यान आकृष्ट करते और उनके महत्त्वपर मार्मिक प्रकाश डालकर मनोरजन करते। मेरा निश्चित विश्वास रहा है कि इतिहास, पुरातत्त्व और कलाका सक्रिय ज्ञान ही आन्तरिक चेतनाको जगा सकता है। लेखनी थामनेके पूर्व ४ दर्जनसे अधिक खडहर देख चुका था। शिवाजी द्वारा विनिर्मित सोनगढके दुर्गने मुझे बहुत प्रभावित किया था। खडहरोकी समस्त वस्तुओका व्यवस्थित अध्ययन करनेके लिए, मैने अपनी दैनिक क्रियाओके बादका समय स्थिर किया। पुरातन शिल्पकृतियाँ, भास्कर्य, दुर्ग और भवनके विविधतम मनोहर भावोको आत्मसात् करनेके लिए शिल्पशास्त्र, मूर्तिविधानशास्त्र-सूचित विषयपर वर्तमान प्राच्य व पाश्चात्य विद्वत्समाज द्वारा लिखित ग्रन्थोंके अतिरिक्त पूर्व गवेषित खडहर-विवरणोको सूक्ष्मतया देखना पडा। बाल्यकालीन सस्कार अनुकूल परिस्थिति पाकर पल्लवित-पुष्पित होने लगे और प्रत्येक वस्तुको गम्भीरताके साथ देखनेकी दृष्टि बनने लगी।

रसमय अनुभूतिको समुचित रूपेण व्यक्त करना उन दिनो मेरे लिए कठिन था। सौभाग्यवश चातुर्मासके लिए बम्बई जाना पडा। वहाँ प्राचीन गुजराती भाषा और साहित्यके गभीर गवेषक श्रीयुत मोहनलाल भाई दलीचन्द देसाई एडवोकेट (अब स्वर्गीय), भारतीय विद्याभवनके प्रधान सचालक पुरातत्त्वाचार्य मुनि श्री जिनविजयजी और प्रख्यात पुरा-तत्त्वज्ञ डॉ० हसमुखलाल धीरजलाल साकलिया आदि अध्यवसायी अन्वेषकोका सत्सग मिला। उनके दीर्घ अनुभव द्वारा शोधविषयक जो मार्ग-दर्शन मिला, उससे मेरी अभिरुचि और भी गहरी होती गई। मेरे मानसिक विकासपर और कलापरक दृष्टि-दानमे उपर्युक्त विद्वत्त्रिपुटिने जो श्रम किया है, फलस्वरूप 'खडहरोका वैभव' एव प्रस्तुत पुस्तक है।

'खोजकी पगडडियाँ' तीन भागोमे विभक्त हैं—ललितकला, लिपि और भौगोलिक यात्रा। तीनो विभाग एक ही विषयपर केन्द्रित है। जितना बौद्धचित्रकलापर अद्यावधि प्रकाश डाला गया है, उतना जैन चित्रकलापर नही। हिन्दीमे जैन-चित्रकलापर प्रकाश डालनेवाली सामग्री अत्यन्त सीमित हैं। ललितकलाके समस्त निबन्धोपर मुझे कुछ नहीं कहना, किन्तु जहाँतक सम्भव हो सका और उपलब्ध साधन मुझे प्राप्त हो सके, उनका उपयोग करनेका प्रयास किया गया है। भारतीय भित्ति-चित्र और मुगल राजपूत पूर्व विकसित चित्रकलाकी मूल्यवान सामग्री जैनाश्रित ग्रथस्थ वाड्मयमे ही सुरक्षित रह सकी है। हिन्दू धर्माश्रित चित्रकला-पर एक निबन्ध इसमे जाना आवश्यक था, किन्तु ठीक समयपर तैयार न हो सकनेके कारण न जा सका, इसका खेद है। इस विभागकी दूसरी मुख्य अपूर्णता चित्रोका न होना है। मेरे जैसा भिक्षु उनको कहाँ जुटाता फिरता ?

जीवन सतत पर्यटनशील रहनेके कारण कलाविषयक नवीन सामग्री उपलब्ध होती ही रहती है। इन पक्तियोके लिखते समय अनायास मुझे एक ऐसी जैनाश्रित चित्रकलाकृति श्रीयुत चाँदमलजी सोगानी द्वारा प्राप्त हुई जिसके उल्लेखका लोभ सवरण नही कर सकता। मेरा तात्पर्य सचित्र भक्तामरस्तोत्रसे है। यों तो इसकी दर्जनो सचित्र प्रतियाँ मेरे अवलोकन-मे आई है पर इस प्रतिका महत्त्व जितना धार्मिक दृष्टिसे है, उससे कही अधिक हिन्दी भाषाविज्ञान और चित्रकलाकी दृष्टिसे है। विशिष्ट प्रकारके भावोका चित्र द्वारा प्रकाशन आजके मनोवैज्ञानिकोकी देन मानी जाती है। यह कृति उसका अपवाद है। प्रत्येक काव्यके प्रत्येक वाक्यका इतना सुन्दर और सफल अकन अन्यत्र शायद न मिले। कलाकारने एक एक भावमूलक वाक्यका स्वतत्र चित्र खीचकर तात्कालिक मनोविज्ञान-का सुन्दर स्वरूप उपस्थित किया है। मुगल चित्रकलाकी यह उत्कृष्टतम कलाकृति असावधानीका ऐसा शिकार बनी है कि लेखन-प्रशस्ति व बहु-मूल्य चित्रका कुछ भाग नष्ट हो गया। सौभाग्यसे प्रशस्तिका जो आंशिक रूप बच सका, वह इस प्रकार है—

"सवत् १६६४ व्रषे (वर्षे) वैसाष सुदी ७ कौ मनोहरदास कास्थ (कायस्थ)। चित्रामुकीनै। सवतु १६६५ व्रषे चैत्र सुदी १ भौम वासरे लीषत (लिखितम्) प। सिरोमनि भक्ता-मर स्तवन। भावार्थ काव्यार्थ पचासिका शुभ शुभमस्तु ॥ पोथी लिषाई साहूधनराज गोलापूरव कर्म्म क्षयनिमित्ते।

पुस्तकके आदिमे 'भट्टारक श्री महिचद्र गुरुभ्यो नम' अर्वाचीन लिपिमे लिखा है जो चित्रित व लिखित भक्तामरके बादकी है।

यात्राओके विषयमे मेरा अनुभव रहा है कि भारतीय सभ्यता और सस्कृतिके मूलरूपको जितना पादविहारी भोलीभाली जनतामे बैठकर आत्मसात् कर अनेक विलुप्तप्राय सामग्रीको प्रकाशमे ला सकता है, दूसरे वाहन-विहारीके लिए सभव नही। जनजीवनमे मूल्यवान सास्कृतिक तत्त्व आज भी किस प्रकार विद्यमान है और पाश्चात्य शिक्षासे प्रभावित मानस उसे किस तरह विस्मृत कर चुका है बल्कि कभी-कभी उपहास तक कर बैठता है आदि बातोंका प्रत्यक्ष परिचय बिना ग्रामीण मनोवृत्ति अपनाये नही पाया जा सकता।

दृष्टिसम्पन्न मानव जहाँ जायगा उसे अपने विषयकी ठोस सामग्री उपलब्ध हो ही जायगी। कला और शोध-परक अभिरुचिके कारण मैंने अपने विहारमे आनेवाले खडहर व पुरातन स्थानोको देखना अनिवार्य समझा है। मेरे मार्गसे १०-१५मील भीतर भी कोई क्षेत्र पडता तो मैं उसे बिना देखे आगे नही बढता हूँ—चाहे मुझे वहाँ जानेपर भले ही निराश ही क्यो न होना पडा हो। यद्यपि शोधकके जीवनमे निराशा-जैसी कोई वस्तु ही नही होती। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है एक ही स्थानकी यात्रा मुझे कई बार करनी पडी है। जब-जब मैं खडहरोमे गया नवीन विचारोसे प्रेरित हुआ हूँ। कभी-कभी तो ऐसे स्थान भी अवलोकनमे आये जहाँ शोध-सामग्रीकी प्राप्तिकी आशा न थी, पर आकस्मिक उपलब्ध हो जाती। बीहड वनोमे आज भी भारतीय गौरव बिखरा पडा है जहाँ पुरातत्त्व-विभागके कर्मचारी नही पहुँच पाते।

प्रस्तुत पुस्तकमे नालदा, विध्याचल, मैहर और पटनाकी यात्रा ही दे सका हूँ। ये यात्राएँ केवल भौगोलिक मात्र न होकर ऐतिहासिक हो गई है। इस बातका यथाशक्य ध्यान रखा गया है कि पुरातत्त्व-विषयक पारिभाषिक शब्दावलीके कारण अधिक दुरूह न हो जाय, और भाषाके आवरणमे कही मूलरूप ही ढक न जाय। मै इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि पत्थर और रेखाओकी कविता भाव-विहारी कोमल हृदय ही पढ सकता है। ब्रह्माण्ड-व्यापी रूपकी वास्तविक पहचान विशिष्ट चित्तवृत्ति द्वारा ही सभव है। तात्पर्य कलाकारके दानका सच्चा अधिकारी कलाकार ही हो सकता है। वहाँ बुद्धि काल-परक मर्यादाका परीक्षण करती है तो हृदय अन्तरात्माका।

इन पक्तियोके लिखे जानेतक डोगरगढ, बरहटा, धनसौर, पनागर और भोपालके खडहरोकी यात्राएँ तैयार हो चुकी हैं, यदि सयोग अनुकूल रहे तो ये भी रुचि-शील पाठकोके सम्मुख आ ही जायँगी।

खोजकी बिखरी हुई पगडडियोको सामूहिक रूपसे उपस्थित करनेमे भारतीय ज्ञानपीठके उत्साही मत्री श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीय और बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैन एम० ए० ने जो प्रयास किया है तदर्थ मै उनका हृदयसे आभार मानता हूँ।

हमारा समाज शोध विषयक प्रवृत्तिमे कितनी रुचि रखता है, इसका एक उदाहरण देना आवश्यक समझता हूँ। मै फरवरीमे नरसिहपुर (मध्यप्रदेश) था। १३ फरवरीको एक सज्जनके यहाँ पगडडियोके प्रूफ्स और मूल पाण्डुलिपि पहुँची। इधर प्रेस व मत्रीजीका तकाजा था कि मैं प्रूफ्स शीघ्र भेज दूँ। मै क्रमश भोपाल आया। मैने प्रेससे शिकायत की कि मुझे प्रेसकॉपी व प्रूफ्स तो नही मिले है। यह बात जूनकी है। पोस्ट ऑफिस विभागीय जाँच करनेपर ज्ञात हुआ कि १३ फरवरीको डिलीवरी नरसिहपुर दी जा चुकी है। जब मैने उस सेठको और मेरे परिचित बाबू गोकुलचन्दजी कोचरको वेदना भरा पत्र लिखा कि आप वहाँ जाकर पता तो लगाइये कि उस डिलीवरीका क्या हुआ? जब श्री कोचरजी उनके वहाँ पहुँचे तो विदित हुआ कि एक रजिस्ट्री आई तो थी पर बेकार

समभकर रद्दीके कमरेमे डाल दी गई है। श्रीमत साहित्यकी कितनी सीमातक उपेक्षा कर सकते है मुझे आज ज्ञात हुआ। श्रीगोकुलचन्दजी कोचरने बडे परिश्रमपूर्वक खोजकर मुझे भिजवाया, तदर्थ मै उनका भी आभार मानना अपना परम कर्तव्य मानता हूँ।

परमपूज्य गुरुवर्य्य उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराज व मुनिश्री मगलसागरजी महाराजने समय-समयपर मुझे सत्परामर्श देकर जो पथ प्रदर्शन किया है तदर्थ उनके चरणोमे वदनापूर्वक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

जैनाश्रित चित्रकला पुरातन चित्र जो प्रकट किया जा रहा है वह मुझे मध्यप्रदेशके पुरातत्त्व-साधक श्रीलोचनप्रसादजी पाडेय द्वारा प्राप्त हुआ है, प्रस्तुत-पुस्तककी प्रस्तावना काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागके प्रधान और हिन्दी साहित्य और भाषाके गभीर आलोचक श्री डॉ० हजारीप्रसादजी द्विवेदीने लिखकर इसकी शोभा द्विगुणित कर दी है। श्री पाडेयजी तथा आचार्य श्री द्विवेदीका मै चिरऋणी हूँ। प० रामेश्वरजी गुरु M. S. C. (जबलपुर), प्रो० जगदीश व्यास M. A. (जबलपुर) व सुषमा साहित्य-मदिरके सचालक श्री सौभाग्यमलजी जैनको विस्मरण नही कर सकता जिन्होने समय-समयपर अपनी सम्मतियोसे और मेरे लेखन-कार्यमे हर तरहसे मदद देकर मेरी बडी सहायता की है।

प्रान्तमें मै आशा करता हूँ कि इन पगडडियोको, राजमार्गके रूपमे, कलाकार वदलकर शोधका भावी मार्ग प्रशस्त करेंगे। मेरी मातृभाषा गुजराती होनेके कारण यदि हिन्दी भाषा-विषयक दोष दिखे तो पाठक उदार चित्तसे क्षमा करे।

मोढ-स्थानक
मारवाडी रोड, भोपाल
२१-६-१९५३

—मुनि कान्तिसागर

ललित-कला

जैनाश्रित चित्रकला

चित्रकला

संसारकी ललित-कलाओमे चित्रकला एक ऐसी कला है, जिसमें महान् तत्त्वोका समीकरण हुआ है। न जाने कितने अतीत कालके मानवीय भावोके आकर्षक और विचारोत्तेजक तत्त्वोका समुचित अकन सहज स्वभावसे इसमे स्फुरित हुआ है। इस कला द्वारा गम्भीर और व्यापक मनोभावोको बडी आसानीसे जनताके सम्मुख रखा जा सकता है। पूर्वकालीन जानतिक उन्नतिके अस्तित्त्वके रहस्य और स्वर्णिम स्मृतियोको चिरस्थायी बनाने और उनका प्रतिनिधित्त्व करनेकी अपूर्व क्षमता तत्कालीन चित्रकलामे है। विभिन्न भाषा-भाषी मनुष्योकी उच्चातिउच्च नैतिक विचारधारा, उनके रहन-सहन एव तदगीभूत जीवनगत घटनाओकी वास्तविकता बहुत-कुछ अशोमे उस समयकी चित्रकलामें अन्तर्निहित है। कभी-कभी हृदयगत मूल्यवान् भावोके प्रवाहका यथावत् व्यक्तिकरण शब्दो द्वारा नही किया जा सकता। पर रग और रेखाओके माध्यमसे विशिष्ट कोटिके अकथनीय विचारोका उद्घाटन बडी सहूलियतसे हो सकता है। रेखाएँ सुस्पष्ट होकर विशेष अर्थ और गम्भीरताका वास्तविक रहस्य उपस्थितकर मानव-हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। वास्तविक चित्र एक उत्तम खण्ड-काव्यसे कम महत्त्वपूर्ण नही। चित्रकर्त्ताको भी एक आदर्श कविसे कम प्रयत्न नही करना पडता। सफल चित्रकारकी कल्पनाशक्ति, विचार-स्वच्छता एव वास्तविकताका यथावत् अकन करनेकी शक्ति कविकी मानसिक पृष्ठभूमिसे भी बढकर होती है। मुझे स्पष्ट शब्दोमें कहना चाहिए कि सच्चे अर्थमें वही कलाकार

है, जो मूक भाषामे, अपने मस्तिष्क एव हृदयके गूढतम भावोंके प्रवाहकी धाराएँ अस्खलित रूपसे, साधारण उपकरणो द्वारा प्रवाहित करनेकी अपूर्व क्षमता रखता है। अत यदि व्यापक रूपमे उसे उच्च कोटिका दार्शनिक कहे, तो क्या अनुचित है। वह विश्व-भाषा—तेजोमयीपर शब्दशून्य वाणी—मे केवल रेखाओंके अतुलित बलपर अपना परिष्कृत हृदय बहा देता है। कलाकारकी चिन्तनसीमा विस्तृत एव उसकी विचार-धारा भी अन्तर्मुखी होती है। कलाकारके ससारमे विचरण करनेके लिए उसके मूलभूत तत्त्वोको आत्मसात् करना पडता है। जिन्होने प्राचीन चित्रोके आभ्यन्तरिक रहस्यको समझनेका थोडा-बहुत यत्न किया है, वे जानते है कि भावपूर्ण रेखाकनके देखते ही चित्रान्तर्गत ऊर्मियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। द्रष्टाके हृदय-कमलपर उनका बहुत गहरा प्रभाव पडता है। अत मानवकी चित्तवृत्तियोके अनुभव एव हृदयगत ऊर्मियोको उपस्थित करनेमे चित्रकला ही सर्वोच्च जीवित कला है। चित्रकला विश्व-लिपि है, विश्व भाषा है।

व्यापकता

प्राचीन भारतमे चित्रकला उन्नतिके शिखरपर आरूढ थी। गार्हस्थ्य-जीवनके प्रधान उपकरणसे लगाकर मृत्यु-पर्यन्त जीवन इससे ओतप्रोत था। पुरातन साहित्यपर यदि हम दृष्टि केन्द्रित करे, तो विदित होगा कि चित्रकलाके महत्त्व, चित्रोकी आवश्यकता और उनके उपकरण, मानव-जीवनमे उनका स्थान, शरीरके भिन्न-भिन्न अग-उपागोसे सम्बन्धित रंग, विषयोका विशद विश्लेषण आदि उसमे भरा पडा है। प्राचीन कला कृतियाँ भी उसमे वर्त्तमान हैं। यदि विशिष्ट दृष्टिकोणसे देखे, तो चित्रकलामें चित्रित भाव-भगिमा, शारीरिक गठन एव सर्वांगपूर्णताका अच्छा आभास मिले बिना न रहेगा। चित्रकलाके छोटे-से-छोटे सिद्धान्त-का भी जो विशद् विश्लेषण हमारे पूर्वजोने किया था, वैसा विचार अन्य

राष्ट्रोंमे सम्भवत न मिले। कालचक्रका प्रभाव अबाध गतिसे चलता ही रहता है। चित्रकला भी कालकी गति और बलको देखकर अवश्य ही प्रभावित हुई है, जैसा कि विभिन्न कालीन साहित्यिक सकेतोंसे स्पष्ट है। प्रसगवशात् यह लिखना भी आवश्यक है कि जिन प्राचीन चित्रोकी रेखाओ और रगोमे सजीवता थी, वह भित्ति-चित्र-कलाके बाद विलुप्त-सी हो गई। अजन्ताका कलाकार अपनी सामान्य रेखाओंके बलपर एक सम्पूर्ण विषयको आसानीसे अपनेमे मिला लेता है। परन्तु एलोरामें यह बात नही पाई जाती। अर्थात् शैलीकी विभिन्नता स्पष्ट है। नहीं कहा जा सकता कि भित्ति-चित्रोके निर्माणकर्त्ताओने किस आनन्दमें विभोर होकर हृदय और मस्तिष्कके चचल भावोका परित्यागकर तूलिकाओके जरिये उपर्युक्त चित्र विश्वको इसीलिये भेंट किए कि वे भी अपनी मस्तीके भावोसे आविर्भूत कलात्मक कृतियोसे लाभ उठा सके। उन कलाकारोका परम आदर्श स्वान्त सुखाय था। वे लक्ष्मीके दास नही कलादेवीके परम साधक—उपासक थे।

जैन-चित्रोंकी प्राचीनता

ईस्वी पूर्व छठवी सदीमे चित्रकलाका इतना विकास हो चुका था कि बुद्धदेवको उसमे भाग न लेनेके लिए श्रमणोको आदेश देना पडा। तात्कालिक मगधके इतिहास व वैशालीकी खुदाईमे प्राप्त भाजनों पर की गई चित्रकारीसे स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों यह कला वर्ग विशेषकी रुचिपोषक न होकर जनतामे भी व्याप्त थी। मगध श्रमण-सस्कृतिका ईस्वी पूर्व छठवी शतीमे प्रमुख केन्द्र था। यद्यपि उस समयकी चित्रकलापर प्रकाश डाल सके, वैसी कृतियाँ, भाजन चित्रकारीको छोडकर, उपलब्ध नही हैं, पर तत्कालीन टेराकोटा—मृर्मूर्तियाँ व अन्य चूना पलस्तरवाली कुछ-एक कलात्मक प्रतीकोंसे उस समयकी रेखाओका परिचय पाया जा सकता है। मूर्ति और चित्रमें

रूपगत भेद भले ही हो, पर धर्मागत एकता रहती है। जैनोके ग्यारह अंगोका चतुर्थांग **समवायांग** सूत्र है। इसमें ७२ कलाओंका निर्देश करते हुए **रूपनिर्माण** कलाका उल्लेख किया है जो चित्रकलाका परिचायक है, क्योकि रूपनिर्माणमे भाव व्यक्त्यर्थ आधार अपेक्षित है, चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल। आधार जितना सूक्ष्म होगा उतनी ही कला श्रेष्ठ समझी जायगी। तात्पर्य मूर्तिकी अपेक्षा, कला विवेचकोने चित्रकलाको, इसलिए अधिक महत्त्व दिया है कि इसमे कलाकारको अत्यन्त सीमित स्थानमे आत्मस्य सौन्दर्य व लोक-रुचिकी वृद्धि करने वाले सूक्ष्मतम अंगोको व्यक्त करना पडता है, जो गम्भीर चिन्तन, दीर्घकालीन साधना और मर्मभेदी निरीक्षणपर ही अवलम्बित है।

प्रसगत एक बातका उल्लेख आवश्यक जान पडता है, वह यह कि ईस्वी पूर्व **रूपनिर्माण** शब्द व्यापक अर्थका द्योतक रहा जान पडता है, कारण कि महामेघवाहन श्री **खारवेलके** शिलोत्कीर्ण लेखमे भी **रूप** शब्द आया है जो इस प्रकार है—**"ततो लेखरूप अणनाववहारविधिविसारदेन—अर्थात् बादमें लेख, रूपगणना, व्यवहारविधिमें उत्तम योग्यता प्राप्त करके।** इस **रूपशब्द** पर बहुत कम लोगोने ध्यान दिया है। डॉ० भगवानूलाल इन्द्रजीने **रूपका** अर्थ चित्रविद्या किया है और **पभोसाके** लेखमें—जिसे इस पक्तिका लेखक स्वय देख चुका है—**"श्रीकृष्णगोपीरूपकर्ता"** मे डॉ० **बूलरने** रूपका अर्थ प्रतिमा किया है। **निसग्गिय पाचित्तिय** नामक बौद्ध-ग्रन्थकी टीका **सामन्त पासादिकामें रूपं छिन्दित्वाकतो मासको, रूपं सामुत्थापेत्वा कतमासको** में **'रूप'** का अर्थ **"सिक्के परकी मूर्ति"** है[1]।

प्राचीन जैन-साहित्यके तलस्पर्शी अध्ययनसे ज्ञात होता है कि उसमे भारतीय चित्रकला पर प्रकाश डालने वाले, उनका महत्त्व बताने वाले,

---

[1] **नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, पृ० ५०६।**

किस समय चित्रकलाकी व्यापकता, किन सामाजिक परिस्थितियोंके कारण अधिक बढ चली थी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वात्मक ज्ञातव्यों-का पता चलता है। ऐसे उल्लेखोंकी, भारतीय कला समीक्षकोंने आज तक उपेक्षा की है। जब बौद्ध-संस्कृति व चित्रकलाके विषयोंको स्पष्ट करनेके लिए उनके द्वारा निर्मित साहित्यकी मदद ली जाती है, तो फिर जैनाश्रित चित्रकला व उसके गम्भीर अध्ययनमे जैन-साहित्यको उपेक्षित रखना, क्या उसके साथ अन्याय नही है।

जैन-साहित्यमें चित्रकला विषयक जो भी उल्लेख आये हैं वे केवल पौराणिक ही नही हैं, अपितु उनमेंसे कुछ-एकका ऐतिहासिक दृष्टिसे भी महत्त्व है। तात्कालिक समसामयिक अन्य ऐतिहासिक साधनो द्वारा, तथाकथित तथ्यपूर्ण उल्लेखोका समर्थन भी होता है। बल्कि मैं तो कहूँगा कि भारतीय रूप निर्माण पद्धतिकी सभी धाराओका अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा, जब तक वर्णित उल्लेखोंका उचित पर्यवेक्षण नहीं हो जाता।

षष्टाग **नायाधम्मकहा—ज्ञाताधर्मकथा**[1]मे **उक्खित्तणाय** अध्ययन-मे महाराजा **श्रेणिक**का जो प्रसग वर्णित है, वह भारतीय गृह-निर्माण-कला, तदंगीभूत उपकरण एव चित्रकला पर प्रकाश डालता है। भवनका वर्णन करते हुए चित्रकलाका उल्लेख इन शब्दोमे किया गया है —

अब्भितरओ पत्त सुविलिहियचित्तकम्मे—जिसके भीतरी भागमें उत्तम और पवित्र चित्रकर्म किया गया है।

आठवे **मल्लि** अध्ययनमे भी भित्तिचित्रोका उल्लेख किया गया है[2]। यह प्रसग एक चित्रकारसे सम्बन्ध रखता है । मिथलाके राजा **कुम्भराज**के पुत्रने एक चित्रशाला बनवाई । उसकी दीवारपर एक

---

[1]**ज्ञाताधर्मकथा—पृष्ठ १२ ।**

[2]**ज्ञाताधर्मकथा—पृष्ठ १४२-४३ ।**

शिल्पीने केवल अँगूठा देखकर राजकुमारी मल्लिकाका पूरा चित्र बना दिया। राजकुमारको यह देखकर सन्देह उत्पन्न हुआ कि राजकुमारीसे शिल्पीका अच्छा सम्बन्ध नही, और उसने शिल्पीको प्राणदण्डकी आज्ञा दे दी। परन्तु, बादमे, सच्ची बात सामने आई। राजकुमारका भ्रम दूर हुआ, और शिल्पीको प्राणदण्ड देनेके बजाय निर्वासित किया।

मूल उल्लेखमे तूलिका शब्द आया है, यही शब्द **उपनिषदोंमें** भी पाया जाता है। उपर्युक्त उल्लेखका आंशिक उद्धरण इसीलिए लिया है कि उन दिनो भी तादृश्य चित्रपद्धति कितनी विकसित थी।

उपर्युक्त ग्रथके तेरहवें अध्ययनमें **नन्दमणियारकी** कथामे, जनताके आरामके लिए राजगृहसे बाहर, श्रेणिककी अनुमतिसे एक चित्र-सभा निर्माण करनेका उल्लेख इन शब्दोमें दृष्टिगोचर होता है—

ततेणं से णंदे पुरच्छिमिल्ले वनसंडे एगं महं चित्तसभं करावेत्ति[1]।

उपरोक्त उल्लेख उस समयकी परिष्कृति लोकरुचिका परिचायक है।

उत्तराध्ययनसूत्रके ३५वे अध्ययनमे जैन-मुनियोके लिए स्पष्ट उल्लेख है कि, **'चित्रवाले मकानमें निवास करनेकी इच्छा, भिक्षु** (मुनि) **मनसे भी न करे[2]'**। ठीक, इसी उल्लेखका समर्थन और न ठहरनेके उद्देश्यको स्पष्ट करनेवाला दूसरा उल्लेख **दशवैकालिक** सूत्रमें आया है। यह आर्य शय्यंभवसूरिकी मुनि-मार्ग निदर्शक कृति है, जिनका

---

[1] वही पृष्ठ १७९।

[2] मणोहरं चित्तहरं।
मल्लधूवेण वासिअं।
सकवाडं पंडुरुल्लोअं।
मनसावि न पच्छए।
उत्तराध्ययनसूत्र, अ० ३५, श्लो० ४

निर्वाण वीरनिर्वाणके ५८ वर्ष बाद हुआ। वर्णित उल्लेखमें सूचित किया गया है, "कि भित्तिचित्रको—चित्रांकित नारीको अथवा विविध अलंकारोंसे सुसज्जित जीवित स्त्रीको भी नहीं देखना। यदि दृष्टि पड़ भी जाय, तो सूर्यके सम्मुखसे जिसप्रकार दृष्टि खींच लेते हैं उसी प्रकार हटा लेना"[1]। आर्य भद्रबाहु[2] स्वामीने कल्पसूत्रमें सचित्र यवनिकाका उल्लेख इस प्रकार किया है—

"अप्पणो अदूरसामंते नाणामणिरयणमंडियं
अहिअपिछणिज्जं महग्घवरपट्टणुग्गयं
सण्हपट्टभत्तिसयचित्तताणं इहामिय-उसभ-तुरग-नर-मगर-विहग-
वालग-किन्नर-रुरुसरभ-चमर-कुंजर-वणलय-पउमलयभत्तिचित्तं अब्भि-
तरिअं जवणियं अंछावेइ।"

पादलिप्तसूरि द्वारा रचित तरंगलोला (रचना-काल विक्रमकी तीसरी शती) परसे श्री नेमिचन्द्रसूरि द्वारा अवतारित 'तरंगवती' कथामें (रचना-काल ग्यारहवी शताब्दी) चित्र-पटोका विशद् उल्लेख है। जब अजन्टाकी कला विकसित हो रही होगी, उन दिनो वहाँ वाकाटकों-का राज्य था। पादलिप्तसूरिके समयमे वस्त्र-पटोका अकन भी स्वतन्त्रता पूर्वक किया जाता था। वर्णित चित्र न केवल धर्ममूलक ही थे, अपितु प्रकृतिसे भी सम्बद्ध जान पडते है। 'वसुदेवहिन्दी' मे चित्रित यक्ष-प्रतिमा-का उल्लेख हुआ है[3]। यह ग्रन्थ विक्रमकी छठवी शताब्दीमें निर्मित

---

[1]चित्तभित्तिं न लिज्झाए।
नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठुणं।
दिट्ठिं पडि समाहरे। अध्य० ८, गा० ४१

[2] इनका स्वर्गवास ईस्वी पूर्व ३५७में हुआ।

[3] चित्तकम्म लिहिया विव अक्खपडिमा एककचित्ता अच्छइ पृ० ७२।

हुआ। उस समय अजण्टाके महत्त्वपूर्ण भित्तिचित्रोंका अंकन हो चुका था। वहाँके चित्रोंमें समर्याद शृंगारसूचक यक्ष दम्पत्तिका भव्य चित्र है। इस कालके अन्य साहित्यिक ग्रन्थों तथा चित्रोंमें यक्षोंका व्यापक उल्लेख मिलता है। सम्भव है ईस्वीपूर्व सातवीं शतीमें प्रचलित जिस यक्षपूजाका वर्णन जैनागमोंमें आया है, सम्भव है गुप्तकालमें भी यक्ष मान्यताके अवशेष रहे होंगे। यक्ष-चित्रकी सूचना अजण्टाके वर्णित चित्रकी ओर तो इंगित नहीं करती?

अभी तक जिन उल्लेखोंकी चर्चा उपयुक्त पंक्तियोंमें हुई, वह कलाके अभ्यासियोंके लिए अच्छा मार्गदर्शन कराती है; पर अब यहाँ मुझे एक ऐसा उल्लेख उद्धृत करना है जो न केवल चित्रकारकी कुशलतापर ही प्रकाश डालता है, अपितु उसकी व्यवहारिक पद्धतिकी ओर भी संकेत करता है। यह उल्लेख प्रासंगिक होते हुए भी तात्कालिक कलात्मक वातावरणका संकेतात्मक परिचय देता है। उल्लेख इस प्रकार है—

चित्तकारो पच्छा अमवेतूणं पमणजूतं करेति तत्तियं वा वण्णयं करेति जत्तिएणं समप्पति

आवश्यकचूर्णि, पृ० ५५७।

"चित्रकार, बिना नापे ही पीछेसे प्रमाणयुक्त चित्र तैयार करता है? या उतना ही रंग तैयार करता है, जितनेसे चित्र पूर्णतः अंकित हो जाय।"

विक्रम संवत ९२५ में **श्रीशीलांकाचार्य** रचित **चउपणमहापुरुष चरियम्**में उल्लेख आया है कि भगवान् पार्श्वनाथने दीक्षाके पूर्व, राजीमती व नेमिजिनके भित्तचित्र, एक प्रासादमें देखे थे।

महामुनि **स्थूलभद्र**की एक महत्त्वपूर्ण जीवन घटनासे जैन-समाजका, एक भी व्यक्ति शायद ही अपरिचित होगा, वह यह कि उन्होंने, पाटलीपुत्रकी शोभारूप गणिका **कोसा**की चित्रशालामें चातुर्मास यापन किया था। पूर्व परिचित गणिकाका गृह, षटरस भोजन, शृंगारिक हाव-

भावयुक्त कोसाकी चेष्टा, वर्षा ऋतु और वेश्याकी चित्रशालामें चातुर्मास ये सब घटनाएँ, साधकके जीवनमें बाधक हो सकती हैं, यह अनुभवका विषय है। पर अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति सम्पन्न व समभावी महामुनि स्थूलभद्रके ऊपर उपर्युक्त घटनाओंका लेशमात्र भी प्रभाव न पडा। तात्पर्य कि उस समय प्रत्येक श्रीमन्तके घरोमे, राज-सभाओमे और राज-भवनोमें स्वतन्त्र चित्रशालाएँ निर्माण करानेकी प्रथा थी। वात्सायनसूत्रसे व चित्रकला विषयक अन्य उल्लेखोसे उपर्युक्त पक्तियोका समर्थन होता है।

उपर्युक्त सूचनात्मक सकेतोके अतिरिक्त **अनुयोगद्वार** सूत्र, **परिशिष्ट पर्व** आदि अनेक जैनसाहित्यिक ग्रन्थोमे सैकडो, चित्रकला विषयक विस्तृत, विवेचनात्मक व व्यवहारिक उल्लेख सगृहीत हे। स्थानवृद्धिके कारण उन सभीका उल्लेख या सकेतमूलक परिचय नही दिया जा सका।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उपर्युक्त उल्लेखोमे ऐतिहासिक तत्त्व कितना है? यद्यपि यह प्रश्न सरल नही कि शीघ्रतासे हल कर लिया जाय। इसपर मै अभी तो अधिक विवेचनमें न जाकर इतना ही कहना उचित समझता हूँ कि इन उल्लेखोकी सत्यता समझनेके लिए हमारे पास एक दृष्टि चाहिए। बुद्धिजीवी इस बातसे इकार नही कर सकता कि साहित्य तात्कालिक समाजका प्रतिबिम्ब ही नही है। कलाकार सामयिक तथ्योको व्यक्त करते समय प्राचीन परम्पराका अनुसरण करता हुआ भी, तत्सम सामयिक कलात्मक व रूढिगत, सामाजिक तत्त्वोकी उपेक्षा कदापि नही कर सकता। जिस समय उपर्युक्त ग्रन्थोका प्रणयन हुआ, उस समयकी चित्र कलात्मक-पद्धतिका अकन इन ग्रन्थोमें हुआ ऐसा समझना चाहिए। इन पक्तियोके पीछे कोरी भावुकता नही, तथ्य भी है। उपर्युक्त पक्तियोमे मै सूचित कर चुका हूँ कि उल्लिखित कतिपय उल्लेख ऐसे है, जिन्हे समसामयिक चित्रोसे या ऐतिहासिक उल्लेखोसे परखा जा सकता है। चित्रकलाको परखनेका माध्यम है, उसकी रेखाएँ व रंग, यही चित्रकी आत्मा है। इन्हीके माध्यमसे कलाकार

असीमित भावोको सीमित कर आनन्दकी सृष्टि करता है, रसका संचार करता है, एव उत्प्रेरक भावनाओका सूत्रपात करता है। तात्पर्य कि मूक चित्रोके, रग व रेखाएँ, स्वर हैं। तज्जनित शब्द अपरिवर्तनशील रहता है। यह सादृश्य चित्रोको छोडकर, विश्वमे कही न मिलेगा। **विष्णुधर्मोत्तरपुराणके चित्रसूत्रको** हृदयगम किए बिना चित्रोंके भाव, उनकी भाषा, अनेक भावोको व्यक्त करने वाली उनकी रेखाएँ और रस सूचक रग एव शैलीका समुचित ज्ञान नही हो सकता। बिलकुल इसी दृष्टिकोणको ध्यानमें रखकर, जैनसाहित्य-वर्णित चित्र कलात्मक उल्लेखोका, व समसामयिक क्रमिक विकसित प्राप्त भारतीय भित्तिचित्रोकी परम्पराका निष्पक्ष व तलस्पर्शी अन्त. परीक्षण हुए बिना, कथित परम्पराका हार्द नही समझा जा सकता। तात्पर्य कि उपलब्ध चित्रोके प्रकाशमे इन और अप्रकाशित अन्य उल्लेखोका सिंहावलोकन किया जाय वा उपलब्ध उल्लेखों द्वारा प्रदर्शित किंचित् स्पष्ट मार्गकी रेखाओको ठीकसे समझकर इन उपलब्ध चित्रोंको समझा जाय और समसामयिक शिल्पावशेषोकी रेखाओका भी निरीक्षण किया जाय। इस प्रकार तुलनामूलक अध्ययन ही उपर्युक्त प्रश्नका उचित उत्तर दे सकता है।

समस्त ससारमें जितने भी प्राचीन कलाके उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, वे प्राय भित्तिचित्रके हैं। पुरातन गुफा, धर्मस्थान, राजप्रासाद या श्रीमन्तोके निवास स्थानो पर विविध प्रकारके चित्राकनोका समर्थन कलात्मक ग्रन्थोसे होता है। मै यहाँ पर चौदहवी शताब्दीके एक ग्रन्थका उद्धरण देनेका लोभ संवरण नही कर सकता। 'ठक्कुर फेरू' ने स्वरचित 'वास्तुसार'के गृह प्रकरणमे उल्लेख किया है कि **गृहके मुख्य द्वारपर कलश आदि चित्रित हो तो बहुत शुभकारक समझना**[1]। गृहमें

---

[1] 'सहमेव जे किवाड़ा पिहियेती य उग्घडंति ते असुहा।
चित्तकलसाइसोहा सविसेसा मूलबारि सुहा ॥१३६॥

किनके चित्र होने चाहिए और किनके नही ? इन पर भी ग्रन्थकार ने विचार किया है, जैसा कि **योगनियोंके नाटक, महाभारत, रामायण और राजाओंके युद्ध, ऋषियोंके व देवोंके चरित्र आदि विषयक चित्रोंका अंकन गृहस्थोंके घरमें न होना चाहिए**[1]।

इस प्रकारके अकन शुभ माने गये है—

फलवाले वृक्ष, पुष्प लताएँ, सरस्वती व नवनिधान युक्त लक्ष्मीदेवी, कलश, वर्धापनादि मांगलिक चिन्ह और सुन्दर स्वप्नोंकी माला, ऐसे चित्रोंके अंकन गृहमें शुभ माने गये है।"[2]

फेरुके उपर्युक्त विचार मनोवैज्ञानिक है, उस समयकी परम्पराका भास होता है । अट्ठारहवी शतीतक तो उपरिलिखत विचारोका पालन किया जाता था, जिसका पता १७ और १८ शतीके नगर वर्णनात्मक साहित्य-ग़ज़लोसे अवगत होता है, पर बादमें इस प्रथाका सार्वत्रिक परिपालन कम हुआ है। मैने स्वय (नासिक जिलेके) **चांदवडेमें अहल्याबाई होल्करके** निजी राजप्रासादकी भित्तिपर रामायण और महाभारतके चित्र देखे है, जो महाराष्ट्र-तूलिकाके श्रेष्ठतम निदर्शन है।

प्राचीन जैन-भित्तिचित्र

जिस प्रकार राजभवन और सार्वजनिक स्थानोपर लोक-रुचिके पोषक चित्र अकित करवाये जाते थे, ठीक उसी प्रकार धार्मिक स्थान जैसे गुफा या देव मदिरोकी दीवालोपर भी अपने-अपने सम्प्रदायोंके महापुरुषोकी विशिष्टतम और उत्प्रेरक घटनाएं व अन्य सास्कृतिक

---

[1] **'ओइणिनट्टारंभं अरहरासयणं च निवाजुद्धं।**
रिसिचरिअ देवचरिअं इअचित्तं गेहि नहु जुत्तं ॥

[2] **'फलियतरु कुसुमवल्ली नवनिहाणजुअलच्छी किलसं वद्धावणयं सुमिणावालयाइ सुहचित्तं,**

वास्तुसार, गु० संस्करण, पृ० ६७-८।

चित्र अंकित करवाये जाते थे। यह प्रथा प्राचीन थी। मूर्ति-चित्र व्यक्तिगत वस्तु थी, जो हरेक व्यक्ति, इच्छा रहते हुए भी, नही बनवा सकता था, भित्तिचित्रोसे सभी लाभान्वित हो सकते थे, प्रशिक्षित भी भावोसे प्रेरणा पाकर धर्मगत रहस्यको आत्मसात् कर सकते थे।

भित्तिचित्रोकी आलेखन पद्धतिपर मैं अन्यत्र विचार व्यक्त कर चुका हूँ। प्राचीन जैन-भित्तिचित्र मध्यप्रदेशकी पहाडीमे प्राप्त हुए है। इनका उल्लेख स्वतत्र निबधमे किया जा चुका है।

यद्यपि जैनाश्रित भित्तिचित्रोकी सख्या सापेक्षतः अल्प है, पर जो भी है, वे जैनत्वका सफल प्रतिनिधित्व करते हुए, तात्कालिक लोक-रुचिका प्रदर्शन भली भाँति कर लेते है। मुझे लिखते प्रसन्नता हो रही है कि प्राचीन कालकी इस पृथाका विकाश मध्यकालीन जैनोने खूब किया, और आज तक जैन-समाजने, आशिक रूपसे इस पद्धतिको सुरक्षित रखा है।

पल्लव कला

पल्लव कला भी भारतीय चित्रकलामे श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त किये हुए है।

जोगीमाराके जैनाश्रित भित्तिचित्रोके बाद पल्लव भित्तिचित्रोका स्थान आता है। यह स्थान तजोरके समीप पद्दकोटा राज्य स्थित पहाडियो-मे अवस्थित है। इसे **सिद्धण्णावास-सित्तन्नवासल** भी कहते है। यहाँ मुनियोकी समाधियाँ काफी हैं। ये गुफाएँ किसी समय जैन-मुनियोका आश्रम स्थानके रूपसे प्रसिद्ध रही होगी। नामसे तो यही ध्वनित होता है कि वीतरागके प्रशस्त पथका अनुशरण करनेवाले स्वपर कल्याण रत, मोक्षकामी मुनियोंने अपने जीवनकी बहुमूल्य अतिम घडियाँ वहाँ व्यतीत की होंगी। जो कुछ भी हो, पर इतना सत्य है कि यह आत्मशोधनका पुनीत स्थान अवश्य रहा है, जहाँ आत्मलक्षी सस्कृतिके साधक विश्रान्ति

लेते थे। प्रकृति अपना स्वाभाविक सौन्दर्य यहाँ फैलाये रहती थी। गुफाओं-का निर्माण भी ऐसे दुर्गम स्थान पर हुआ है, जहाँ पर प्रमादपूर्वक गमन असम्भव है। थोडी भी असावधानी जीवनको खतरेमे डाल सकती है। गुफाके स्थान पर ई० स० पूर्व तृतीय शताब्दीका एक लेख पाया गया है, जो इस बातका द्योतक है कि उन दिनों भी यहाँ जैनविहार था, तब बाद मे इसे बढाकर, अलकरणो द्वारा सजाकर, पूर्व सम्बन्ध जागृत किया।

इन गुफाओका आध्यात्मिक महत्त्व तो है ही, पर भारतीय चित्र-कलाकी दृष्टिसे भी अनुपेक्षणीय है। यहाँ पर जो मडोदक चित्र पाये गये है उनका अपना सास्कृतिक व कलात्मक महत्त्व है। सर्वोत्कृष्ट और बृहत्तर चित्र गुफाकी छतपर है, अतिरिक्त स्तभों पर भी चित्रित है। अद्यावधि सुरक्षित चित्रोमें दालानकी छतका भाग बहुत ही महत्त्वपूर्ण और वैविध्यका प्रतीक है। समस्त भाग कमलपुष्पोसे छाया हुआ है। तालाबका दृश्य तो अत्यन्त चित्ताकर्षक है।

कमलके मध्यमे मत्स्य, हस, महिषी हाथी और हाथोमे धारण किये हुए तीन श्रावक है। कमलदडोकी आडी-टेढी रचना इतनी सुन्दर और सजीव प्रतीत होती है कि कुछ क्षणोके लिए अजन्ताके कमलाकन भी विस्मृत हो जाते है। सामनेके स्तम्भ पर खिलते हुए कमल, कलाकार की दीर्घकालीन साधनाके परिचायक है। स्तम्भोपर नायिकाओकी आकृतियाँ है। पर एक आकृति इतनी सुन्दर और रसपूर्ण है कि हृदय नही चाहता इससे दूर हटा जाय। सौन्दर्यपुजका एकीकरण सचमुच अनुपम है। उसकी भावभगिमा, अगविन्यास, वस्त्र-पहनाव विस्मय-जनक है। प्रो० डूबीलने इसे **देवदासी** माना है, जैसा कि दक्षिण भारतकी प्रथा रही है। पर जैन-सस्कृति तो सदासे त्याग प्रधान रही है और देवदासी-जैसी प्रथा जैन-धर्ममे कभी नही रही। इस प्रकारकी आकृतियाँ अप्सराओका प्रतिनिधित्व करती है।

यही एक स्तम्भपर राजाका चित्र अकित है, जो बड़ा ही मार्मिक

है। सितन्नवासलके चित्र व मूर्तियाँ भारतीय स्थितिशील कलाके क्रमिक विकासकी कडियाँ है; पर खेद है, जिस संस्कृतिसे उनका सम्बन्ध है, शताब्दियोतक जिस समाजका उनने प्रतिनिधित्व किया, वह आज उनको भूल चुका है। उनका सास्कृतिक मूल्याकन तक विदेशियोको करना पडा।

कलाकी इस सग्रहात्मक सामग्रीसे तत्रस्थजनता तो वर्षोसे परिचित थी। पर सीधेसादे जानपद क्या समझें कि ये हाथी, घोडे और कमल, भारतीय कलाके उज्ज्वल प्रतीक और चित्र श्रमण-परम्पराके इतिहासके नक्षत्र है। इनको प्रकाशमें लानेका श्रेय मि० हूंबेल और मि० लौंगहुर्स्टको है। **स्टडीज इन इंडियन पेंटिंग्ज** मे मडोदकके चित्र प्रकाशित हैं।

इतने विवेचनके बाद, अब इनके इतिहास, शैली व निर्माणकाल पर भी, थोडा-सा दृष्टिपात कर लेना उचित होगा।

जिस भू-भाग पर आज जैनगुफाएँ हैं वहाँ उन दिनो पल्लवोका राज्य था, जैसा कि वहाँ एक शिलोत्कीर्ण लिपिसे सिद्ध है । पल्लव-वंशीय राजा **महेन्द्रवर्म्मन्** (लगभग ई० स० ६००-६२५) ललितकलाओकी सभी शाखाओमें गहरी रुचि रखते थे। काव्य और सगीतके प्रति इनका कैसा आकर्षण था, इसका उल्लेख मान्दुर लेखमे आया है। इसने **मामन्दुर** की गुफाएँ उत्कीर्णित करवाई थी। सित्तन्नवासलकी और मामन्दुर स्थापत्यशैलीमे अन्तर नही है। सितन्नवासलकी गुफाए जैन-संस्कृतिसे सम्बन्ध रखती है। **महेन्द्रवर्मन्** (प्रथम) ने **अप्पर** नामक विद्वानके प्रबोधसे जैनधर्म ग्रहण किया था। **अप्पर** प्रथम तो जैन था पर बादमें शैव स्त्रीके सौन्दर्य पर अपने आपको समर्पित कर, शैव हो गया, फलतः महेन्द्रवर्मन् अपने आपको **चित्रकलारिपु** लिखता है। नृत्यकलाका भी वह पडित था। कहा तो यह भी जाता है कि इसने नृत्यकलापर स्वतत्र ग्रन्थका प्रणयन किया था। नृत्यकलासे अभिन्न संगीतपर भी पांडित्यपूर्ण अधिकार रखता था। सगीत विषयक अर्थात् स्वर सूचक

संकेत वाले लेख स्व० डॉ० **हीरानन्दशास्त्री** (एपिग्राफिया इंडिका वॉ १२) व **मि० टी० ए० गोपीनाथ राव**को मिले थें। उनको समझने के लिए जैनागमका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है, कारण कि किंचित् शब्द विन्यासको छोडकर शेष भागमे पर्याप्त साम्य है।

श्री गौरीशकर चटर्जीने स्वरचित "**हर्ष**" मे (पृ० २६२) में सूचित किया है कि "हर्ष के समकालीन महेन्द्रवर्मा के शासन कालमे एक नवीन शैलीका विकास हुआ, जिसका नाम **महेन्द्रशैली** पडा। महेन्द्रवर्माने ईट तथा पत्थरके अनेक मन्दिर बनवाये। जैसा कि **जुभो डुब्रेयिल** कहते है "वे (महेन्द्रवर्मा) तामिल सभ्यताके इतिहासमे एक महान् व्यक्ति थे।" शिल्प तथा चित्रकलाके विकासमे उन्होने जो कुछ योग दिया, उसीके आधार पर यह दावा आधृत है। उपर्युक्त पक्तियोसे स्पष्ट हो जाता है कि पल्लव वशीय महेन्द्रवर्मन् ललित कलाओके उपासक व उन्नायक थे। उनके समयमे ही अर्थात् सातवी शती ईस्वीमे सित्तन्नवासल-का निर्माण हुआ। इस गुफामे ५ जिनमूर्ति है। एकका चित्र अभी मेरे सम्मुख है। औरोको भी मै देख चुका हूँ। अजन्ताकी बौद्ध-मूर्तियो-मे और इनमे स्थापत्य व मूर्तिकालकी दृष्टिसे बहुत कम अन्तर है। यहाँ-की दीवालोके पलस्तर, अलकरणशैली, डिजाइन भी अजन्ताका स्मरण दिलाती है। प्रो० डुबीलने, जो पल्लव कलाके माने हुए विशेषज्ञ हैं, **पल्लवकला** पर स्वतन्त्र निबन्ध लिखा है, (इडियन एन्टीक्वेरी मार्च १९२३) उनका तो मन्तव्य है कि पल्लव स्थापत्य व चित्रशैली स्वतन्त्र है। पर अजन्ताके प्रभावसे प्रभावित है। मूर्तिकला और चित्रकलासे पल्लवका दान स्मरणीय रहेगा।

महेन्द्रवर्मन् स्वय विद्वान् भी था। इनके **मत्तविलास** प्रहसनसे जैन-सस्कृतिकी—आर्हतोकी व्यापकताका अच्छा आभास मिलता है। उसमे एक कापालिक आर्हतोकी आलोचना करता बताया गया है। यह महेन्द्रवर्मन्के धर्म-परिवर्तनका प्रभाव विदित होता है।

पल्लवोंके बाद भी सामान्य भित्तिचित्र उपलब्ध तो होते हैं— जैसे उडीसाकी भुवनेश्वरकी जैन-गुफाएँ, पर वे शैली व उपयोगिता-के ख्यालसे विशेष महत्त्व नही रखते। वे तो केवल क्रमिक विकासकी कडियाँ मात्र है।

भारतीय चित्रकलाकी परम्परा अजण्टा, सित्तन्नवासल, बाघ, बादामी और एलौराके बाद दूसरी दिशामे मुड गई है, अर्थात् उपकरण या माध्यम बदल गये। पूर्व भित्तिचित्रोका बाहुल्य था तो बाद ग्रन्थस्थ चित्रोका। उत्तर व पश्चिमीय भारतमे सहस्रावधिक ग्रन्थस्थ चित्रकलाके प्रतीक उपलब्ध हुए है। दोनोकी धाराएँ पृथक-पृथक है। उनके कलाकार किस विशिष्ट पद्धतिसे अनुप्राणित है, स्पष्टत नही कह सकते, पर उपलब्ध चित्रोकी शैली व भारतीय सास्कृतिक इतिहासके कतिपय उल्लेखोके प्रकाशमे, कहनेका साहस किया जा सकता है, कि उत्तरभारतीय अधिकतर प्रतीक एजण्टाकी कलासे प्रभावित है। यह शैली तिब्बत व ब्रह्मदेश तक फैली हुई थी। यद्यपि वहाँके कलाकारोने लेखन पद्धति व अन्य उपकरणोमे पर्याप्त स्वातन्त्र्यका परिचय दिया है। तत्तत् प्रान्तीय प्रभावसे अभिषिक्त वे प्रतीक, रेखाओकी मौलिकताओको सुरक्षित रखे हुए है। शिल्पस्थापत्य व तत्कालीन धातु-मूर्तियोसे उपर्युक्त पक्तिका समर्थन होता है। इतिहाससे सिद्ध है कि बौद्धोका तिब्बतके साथ सास्कृतिक सम्बन्ध था। बहुतसे बौद्ध साधु भी कुशल कलाकार थे। इन्हीके द्वारा अजण्टाशैली किंचित् परिवर्तनके साथ फैली।

पश्चिमीय भारतमे जो चित्रपद्धति दशम शतीके बाद विकसित हुई, उसके बीज या कलाकारोका उत्प्रेरक, एलौर-शिल्प रहा है। चित्र व शिल्पकलाके तुलनात्मक अध्ययनसे ज्ञात होता है, कि एलौराकी गुफाओमे उत्कीर्णित शिल्प रेखाएँ, जैनाश्रित चित्रकलाकी प्रेरणा-शक्ति है। अजण्टाके बाद चित्रकलाकी समाप्तिपर जो आवरण पडता है, वह एलौराके गुफाओमे जाकर उठता है, यहाँ की कला, अजण्टाके

समान भौतिक नही है, अपितु विशुद्ध अध्यात्मिक है। दक्षिण भारतकी चित्रकलाके इतिहासमे एलौराका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पश्चिम भारतीय जैनाश्रित कलाकारोने एलौराके शिल्पसे प्रेरणा ली, पर चित्र-लेखनमे प्रान्तीय उपकरण व शैलीको उपेक्षित न रखा। एलौरा और ग्रन्थस्थ चित्रकलाके बीचके सबधको जोडनेवाले जैनाश्रित चित्रकलाके प्रतीक उपलब्ध नही होते, पर हाँ, दक्षिण भारतमे इतिहासकी कडियोको जोडनेवाली लडियाँ उपलब्ध होती है। जिसके परिचयके लिए म्टेलाशक्रामरि का **"ए सर्वे ऑव पेंटिंग इन द देकन" और एनुअल रिपोर्ट "आर्किलाजिकल रिपोर्ट निजाम स्टेट" देखना चाहिए।**

परिवर्त्तन

बारहवी शताब्दीसे जैन-कला पुन अपना रूप बदलकर पुनरुज्जीवित होने लगी, क्योकि विजयी शासक अपनी मदोन्मत्त मनोवृत्तिके वशीभूत होकर भारतीय सस्कृति और कलाके गौरवको उच्चासन प्रदान करानेवाली कला-कृतियोको नष्ट करनेपर तुले हुए थे, जब जैन-राजकर्मचारी गण और श्रीमन्तवर्ग भारतीय साहित्य और ललित-कलाओके सरक्षण एव सृजनमे तल्लीन थे। राज्याश्रय भी प्रचुर परिमाणमे मिलता था। गुजरातके सुविख्यात कलाकार श्रीयुत रविशकर महाशकर रावल निम्न शब्दोमे सूचित करते है :—

> "भारतीय कलाका अभ्यासी जैन-धर्मकी उपेक्षा कदापि नही कर सकता, क्योकि उसका मन तो उस (जैन-धर्म) कलाका महान् आश्रयदायक और सरक्षक मालूम होता है। वैदिक कालसे प्रारम्भकर मध्यकालीन देव-देवियोकी कला-सृष्टिके शृगारसे हिन्दू-धर्म लादा जा रहा था। समय-प्रवाहके साथ कला भी शनै.-शनै. उपासनाके परम पवित्र स्थानसे पतित होकर इन्द्रिय विलासका साधन बन रही थी। कदाचित् प्रकृतिको ही उस समय ये सब बातें अमान्य

हो। तदनुसार मुसलमानोके भीषण आक्रमणोने उसकी स्थिति छिन्न-भिन्न कर दी। हिन्दू-धर्मने दरिद्रता और निर्बलता स्वीकार की और **सोमनाथ**-जैसा पावन तीर्थ खण्डहर बन गया। उस समय कलाश्री पूज्य और पवित्र भावसे प्रश्रय देनेवाले जैन राज्यकर्मचारी-गण एव धनवानवर्गके नाम और कीर्ति अमर रखकर कलाने अपनी सार्थकता सिद्ध की। **महमूद ग़जनवीकी** सहार-वृष्टि समाप्त होते ही गिरनार, शत्रुजय और आबूके शिखरोपर कलाकारोके औज़ार गर्जित हो उठे और सम्पूर्ण जगत् आश्चर्यके सागरमे डूब जाय ऐसे **अमरावती**—देवताओकी नगरीकी भाँति चमक उठे। प्रत्येक धर्म-साधक उपर्युक्त कला-सृष्टिमे महान् एकाग्रता, पवित्रता और मनका समाधान प्राप्त करता। जैन-धर्मने कलाको जो कीर्त्ति और यश उपार्जित कराई, उसपर सारा भारत गौरवान्वित है और समस्त भारतका यह अमर उत्तराधिकार है[1]।

ग्रन्थस्थ जैन-चित्रकला

भारतीय राजपूत और मुगल चित्रकलाके पूर्व अर्थात् १६वी शताब्दीके पूर्व मिलनेवाली चित्रकलाको दो भागोमे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम कोटिमे वे चित्र आते है, जिनकी उपलब्धि नेपाल और उत्तर-बगालमे ११वी शताब्दीमे होती है। द्वितीय श्रेणीमे वे चित्र है, जो गुजरात, काठियावाड और राजपूताने तथा तन्निकटवर्ती स्थानोमे ११वी शताब्दीके अन्तके मिलते है। दोनोमे एक-दूसरेका अनुसरण या परस्पर सम्बन्ध रहा है, ऐसा ज्ञात नही होता। उभय कलाओमें पर्याप्त वैषम्य है, अर्थात् उभय शैलीके चित्रोकी कला प्राचीन भारतीयोने अपने-अपने ढगकी निर्मित की है। पूर्वकी कला प्रधानतया बौद्ध-ग्रन्थोमे एव पश्चिमकी

---

[1] 'श्रीजैनचित्रकल्पद्रुम', पृ० २९।

कला जैनोंके हस्तलिखित धर्ममान्य ग्रन्थो व ताडपत्रीय प्रतियोमें उपलब्ध है। यही जैनाश्रित ग्रन्थस्थ चित्रकलाका प्रारम्भ काल है।

ताड़पत्रोको विविध प्रकारसे सस्कारितकर उनपर कथा-प्रसग व पूर्व आचार्योंके चित्र मिलते हैं, जिनको दो भागोमें बाँटा जा सकता है। प्रथम विभागका आरम्भ महाराज सिद्धराज जयसिह चौलुक्यके राज्योदयसे होता है। वि० स० ११५७ (ई० ११००)की चित्रित निशीथचूर्णि उपलब्ध होती है, जो जैनाश्रित कलामे सर्वप्राचीन है। इस बीच जैन-पोथियाँ बहुत लिखी गईं। वि० स० १३४५ (ई० १२८८)में यह काल पूर्ण होता है। उपर्युक्त कालीन युगके चित्रोकी रेखाएँ तो उतनी सुन्दर नही है, पर रगोकी विविधताका बाहुल्य है। द्वितीय श्रेणीके चित्र काष्ठ-फलको, हस्तलिखित पुस्तकोकी विशेष सुरक्षाके हेतु बनी काष्ठकी पेटियों तथा प्राचीन वस्त्रोपर चित्रित किये गए है। तृतीय विभागमे वे चित्र भी समाविष्ट किये जा सकते हैं, जो कश्मीरी कागजपर अकित है। विक्रमकी १५वी शतीसे इसकी शूरूआत होती है। यही कला १६वी सदीके अन्तिम समय तक अपने स्वतन्त्र प्रवाहमे प्रवाहित होती रही, पर बादमें राजपूत और मुगल कलाओके प्रभावमे आकर वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठी। तृतीय श्रेणीके चित्रोमे जैन-चित्रोके अतिरिक्त वे चित्र भी आ सकते है, जो वैष्णव सम्प्रदायके **बालगोपाल-स्तुति, गीतगोविन्द, दुर्गासप्तशती** आदि धर्मग्रन्थोमे अकित है।

नाम करण,

१५वी शताब्दी पूर्व जितनी भी कलात्मक चित्र कृतियाँ प्राप्त होती हैं, वे केवल जैनधर्ममान्य ग्रन्थोमे ही प्राप्य है। प्राप्ति-स्थान भी पश्चिमीय भारत है। अत कला-समालोचकोने **जैनकला** या **श्वेतांबर-कलाके** नामसे सम्बोधन किया। श्री नानालाल चमनलाल मेहताने इस शैलीको **गुजरातीकला** नाम दिया, परन्तु विचारणीय प्रश्न तो यह

रह जाता है कि इस कलाकी सीमा केवल गुजराततक ही सीमित नही है, बल्कि इसके उदाहरण पश्चिम भारतके प्रत्येक भूभागमें मिलते है। विक्रम सवत् १५२२मे युक्तप्रान्तके जौनपुर, मालव प्रान्तान्तर्गत माडवगढमे क्रमश **कल्पसूत्र** और **उत्तराध्ययन** (स० १५२९) चित्रित किये गये है। इनके और गुजरातमे पाये गये जैनाश्रित चित्रोमे अन्तर नही है। इस शैलीकी व्यापकताका मुख्य कारण श्रीयुत साराभाई नवाब यह मानते है कि गुजरातके स्वतत्र हिन्दू राजाओके आश्रयमे मुगल शासन करते थे, अत चित्रकारोका भी आदान-प्रदान हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही[1] और यह असभव भी नही जान पडता, क्योकि उन दिनो इस प्रकारकी प्रथा भारतमे थी, जैसा कि तात्कालिक साहित्यसे सिद्ध है। कुछेक चित्रित प्रतियोमे चित्रकारके नाम भी मिलते है। चित्रकार "देईयाक" (सवत् १४७४)ने खभातमे कालककथाके चित्राकित किये। "**मुग़ल सम्राट अकबरके दरबारमें जितने भी प्रधान चित्रकार थे, उनमेंसे 'माधव' 'केशव' और 'भीम' तीनो गुजराती थे। उन्होने अपनी कला-कृतियोमें अपने आपको गुजराती शब्दसे सम्बोधित किया है। इससे स्पष्ट है कि अकबरके दरबारमें गुजरातके कलाकारोका समुचित आदर होता था। गुजराती कलाकारोकी इस प्रतिष्ठासे सिद्ध होता है कि मुग़ल समय पूर्व गुर्जर-चित्रकलाका एक स्वतंत्र सम्प्रदाय था[2]।**"

सुप्रसिद्ध चित्रकला मर्मज्ञ श्री **रायकृष्णदासजीने** ११वी शतीसे १५वी शतीतकके समस्त तथाकथित प्रतीकोकी शैलीको **अपभ्रंशशैली**की सज्ञा दी है। यही परम्परा सूचित समय बाद '**राजस्थानी**'के रूपमे परिणित हो गई। यदि वह स्वतत्र **जैनशैली** होती तो एकाएक इतना परिवर्तन न होता। रायजीने यह भी कहा है कि वर्णितशैलीके चित्रोका

---

[1] **साराभाई नवाब—"जैनचित्रकल्पद्रुम पृ० ३१।**

[2] **साराभाई नवाब—ज्ञानोदय व० ३, अं० ४, पृ० २८४।**

निर्म्माण व उपलब्धि, अपभ्रंश भाषा-भाषी भूभागमे ही हुई है। इस शैलीके प्रथम दर्शन एलोराकी गुफान्तर्गत चित्रित, गरुड़स्थ विष्णु व नदी-पर स्थित शिवके चित्रोमे होता है। इसका प्रभाव केवल पश्चिम भारतीय चित्रोपर है ऐसी बात नही है, पर दक्षिण भारतीय चित्रकलाकी १३वी शतीतक विकसित परम्परा पर भी दृष्टिगत होता है। विजयनगरकी चित्रपद्धति भी इससे कम प्रभावित नही।

सुप्रसिद्ध तिब्बतीय इतिहासकार पडित तारानाथका मन्तव्य है कि अपभ्रंशशैलीका प्रादुर्भाव राजस्थानमे हुआ, और क्रमश. अपनी मौलिकताके बलपर सारे देशमे फैली। जिन्होने राजस्थानके शिल्प स्थापत्य व मूर्तिकलाका गभीर अध्ययन किया है, वे तारानाथकी बातको निर्भ्रान्त नही कह सकते। मै तो कम-से-कम विश्वास कर सकूँ, ऐसी स्थितिमे नही हूँ। इस सम्बन्धमे मैंने शान्तिनिकेतन, "कलाभवन"के आचार्य व भारतके प्रतिनिधि कला-समालोचक श्रीयुत नन्दलालजी वसुसे इस सम्बन्धमे बातचीत की थी और उस समय मेरे पास वर्णितशैलीके कलात्मक जो प्रतीक थे। वे उन्हे बताये भी, आपने दृढतापूर्वक कहा कि जैनाश्रित चित्रकलाका मूल एलोराके शिल्पमे है। सास्कृतिक इतिहास भी इस बातका समर्थन करता है।

इस शैलीके चित्रोका प्राप्ति स्थान (अधिकतर) गुजरात होनेसे इसे 'गुजरातीकला' नाम दिया गया जान पडता है।

"जो कुछ भी हो, इस शैलीका उद्गम स्थान दक्षिणको माननेके पर्याप्त कारण हैं। सबसे पहले हम इस शैलीका दर्शन एलोराके कैलाशनाथ-के ९ शताब्दीके चित्रोंमें पाते हैं, और हो सकता है कि जिस तरह अपभ्रंश भाषाने सर्वप्रथम दक्षिणमें साहित्यिक रूप ग्रहण कर गुजरात, राजपूताना तथा मालवामें प्रवेश किया, उसीतरह अपभ्रंश चित्रशैली भी यहाँसे उद्भूत होकर देशमें चारों ओर फैल गई। यह बात असंभव नहीं है, क्योंकि अपभ्रंशके कवियों और मध्यकालीन चित्रकारोंमें सांस्कृतिक

एकता अवश्य मानी जाती थी। राजशेखरने अपनी 'काव्यमीमांसा'में तो कविसभामें अपभ्रंशके कवियों और चित्रकारों को एक ही श्रेणीमें स्थान देनेकी बात कही है।"[1]

दक्षिणमें 'अपभ्रंश' शैलीका जन्म हुआ, पर इसके क्रमिक इतिहासकी सामग्री गुजरातमें ही और वह भी जैन-भंडारोंमें ही मिलती है।

जैनाश्रित गुर्जरकला भारतीय चित्रकलाके इतिहासमें बहुत ही महत्त्वका स्थान रखती है। वह राजपूत और मुगल कलाओंको जन्म देनेके सौभाग्यसे मण्डित है। स्पष्ट शब्दोंमें मुझे कहना चाहिए कि इत-पूर्वकालके चित्र जैनोंने ही निर्माण करवाये और सुरक्षित भी रखे। खुशी-की बात है कि चित्रकाल और किसी-किसीमें चितारेका नाम तक उल्लिखित मिलता है। कुछ चित्र ऐसे भी देखनेमें आते हैं, जिनमें ईरानी कलमका स्पष्ट मिश्रण है। ईरानी प्रभाव कब आया, यह जरा विचारणीय है। ऐतिहासिक दृष्टिसे देखा जाय तो, सूचित प्रभाव सर्वप्रथम, उस **कल्पसूत्र**की प्रतिमें दृष्टिगत होता है, जो १४७६ ईस्वी जौनपूरमें[2]

---

[1] डॉ० मोतीचन्द "दक्खिनीकलम" शीर्षक निबन्ध, कला-निधि व० १, सं० १, प० २७।

[2] मुनि श्रीजयविजयने 'तीर्थमाला'में यवनपुर-जौनपुरका उल्लेख इस प्रकार किया है—

अनुक्रमें जउणपुरि आविया जिनपूजी भावन भावीयई
वोइ देहरइ प्रतिमा विख्यात पूजी भावई एकसो सात, ८०,
'प्राचीन जैनतीर्थमाला, पृ० ३१।

इस उल्लेखसे सिद्ध है कि १८वीं शताब्दीतक तो वहाँ जैनोंका वास था। जौनपुरमें लिखे कुछ ग्रन्थ भी मिलते हैं। मुग़ल इतिहासमें जौन-पुरका स्थान महत्त्वपूर्ण था। उन दिनों पटना और दिल्लीके बीच यही बड़ा नगर था।

लिखी गई थी। इसमें आलेखित चौहत्तर हाशिये हैं। वयाविजय सग्रहकी एक प्रति, जो पद्रहवी शतीके अन्त और सोलहवीके आदिम भागमें चित्रित की गई थी, उससे जाना जाता है कि उस समयका गुजराती कलाकार, न केवल ईरानी कलासे परिचित ही था, अपितु उसमे व्यवहृत कलात्मक अलकारोका उपयोग भी अन्य कृतियोंमें करता था। इसके मार्जिनमे प्रदर्शित आखेट विषयोमे ईरानी योद्धाओकी वेशभूषा १५वी शतीके अतिम चरणकी है। इस प्रकार अनेक कृतियाँ पश्चिमीय भारतमें निर्मित हुई है।

यदि अभिलषित विषयका समीचीन विभागीकरण करे, तो चार भाग आसानीसे किये जा सकते है—(१) ताडपत्रोपर चित्रित और बोर्डर्स वगैरह। (२) ताडपत्रीय ग्रन्थोंको भली प्रकार बाँधकर मजबूत रखनेके लिए काष्ठफलक स्वतन्त्र बनते थे। उनके आभ्यन्तरिक भाग विशेष रूपसे साफ किये जाते थे और उनके ऊपर किसी जैनाचार्य, तीर्थंकर या किन्ही ऐतिहासिक घटनाओके चित्र अकित रहा करते थे। (३) वस्त्रोपरि चित्रित चित्र। (४) कश्मीरी कागजकी पोथियोपर खीचे गये चित्र। प्राचीन कालमे व्यापारियोके बही-खातोके बेकार कागजोका कूटा तैयार करवाकर उनपर एक साफ कागज लगवाकर चित्र अकित करवाये जाते थे। प्रतिमा-चित्रोकी अधिकता इसी कोटिकी है। इनमे ताडपत्रीय कलाको प्राचीन कहना सगत जान पडता है।

चित्रांकनका ढंग

यहाँपर विचार इस बातका करना है कि जैन-पोथियो और विभिन्न उपकरणोपर चित्राकन किस ढगपर होता था। यह विषय जितना कठिन है, उतना ही रुचिकर भी है। प्राचीन [illegible] और अर्द्धचित्रित प्रतियाँ मैने बहुत-सी देखी है—कुछ मेरे सग्रहमें भी है। अतः यह बात मैं अधिकार-पूर्वक कह सकता हूँ कि प्रधानत ग्रन्थ-लेखक और चित्रकार भिन्न-भिन्न

होते थे, तथापि निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता है कि लेखक और चित्रकार एक नही होते थे। आज भी कुछ ऐसे साधु है, जिनका चित्रात्मक प्रतिकृतियोमे सिद्धान्तत विश्वास नही है, पर वे चित्र सुन्दर बना लेते हैं, इसलिए कि विचारविहीन मानव उन्हे देखकर फँस जायँ। इसे तैरापन्थी श्वेताम्बर सम्प्रदाय कहते है। कभी-कभी ऐसा देखा गया है, लिखनेवाला चित्रके प्रधान स्थानको छोड देता था। प्रतिका लेखन-कार्य धारावाहिक रूपसे चलता था। चितारेकी स्मृतिके लिए कही-कही पर प्रसगसूचक शब्द भी लिख देते थे। चितारे सर्वप्रथम मोटे और भद्दे रूपमे सफेद, नीला और यदि स्वर्णकी स्याहीका काम बताना हो तो पीला आदि रगोसे चित्रकी विशेष प्रकारकी पृष्ठभूमि तैयार कर लेते थे, जिसमे रक्त वर्णकी प्रधानता रहती थी। बादमे उसपर सुन्दर सूक्ष्म तूलिकाओसे (जहाँतक मेरा ध्यान है, प्राचीनकालमे चूहेके या गिलहरी[1]की पूँछोके चूलोकी बारीकसे बारीक तूलिकाएँ बनती थी) बारीक रेखाएँ खीचकर उनमे यथोचित रग भर देते थे। उनमे स्त्रियो और पुरुषोकी

[1]प्राचीन परम्पराके लेखक और चित्रकार गिलहरीको विशेष ढंगसे पकड़ते थे। एक विशाल वस्त्र बिछाकर उसपर विभिन्न प्रकारके अन्नकण या परिपक्व खाद्य बिखेर दिये जाते थे, एवं एक बड़ी चलनीमें लकड़ी फँसा कर उसे पतली रस्सीसे बाँधकर एक आदमी दूर रस्सी पकडे बैठ जाता था। ज्योंही गिलहरी खाद्यके लोभसे चलनीके नीचे आती, त्योंही रस्सी खींच लेते थे, जिससे वह चलनीमें गिरफ्तार हो जाती थी। बादमें आदमी उसकी पूँछके बाल काटकर पाँच मिनटके भीतर ही उसे छोड़ देता था। बालोंको एकत्रकर मयूर-पंखके अग्रिम भागमें रस्सीसे बाँध दिया जाता था। यही सूक्ष्म तूलिका-निर्माण-विधान है। आजतक कहीं-कहीं इसी प्रयोगसे काम चलता है। यह तो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तूलिकाकी बात है। बड़ी तूलिका बनानेके लिए अश्व-पूँछके बाल काममें लाये जाते थे।

मुखाकृतियोपर विशेष ध्यान दिया जाता था। वस्त्रो एवं आभूषणोपर भी कम ध्यान नही दिया जाता था। नासिकापर अधिकतर लाल रंगका उपयोग होता था। जैन-साधुओके वस्त्र मोतीवत् श्वेत दिखाए जाते थे। प्राचीन चित्रोंके अवलोकनके बाद मै इस निश्चयपर पहुँचा कि इन चित्रोंमें पाँच प्रकारके रगोका प्रयोग होता था। शरीरकी भव्यता, शृंगारिक आभूषणोकी विलक्षणता, विशिष्ट शैलीकी भाव-भगिमा, शारीरिक गठन और अग-प्रत्यगका समीचीन उठाव, नीले रगके विभिन्न शैलीके हाशियेपर चित्रित जगली जानवरोके भव्य चित्र—जैनाश्रित चित्रकलाकी ये कुछ विशेषताएँ है।

कागजकी पोथियाँ इस प्रकार भी चित्रित की जाती थी। सर्वप्रथम कश्मीरके कागजको सुन्दर ढगसे कतरकर उसे नमकके पानीमें डुबोकर निकाल लिया जाता था, जिससे उसकी उम्र बढे और घुटाईमें चमक भी आये। बादमे उसपर इच्छित रगका लेपकर स्निग्ध पाषाणसे खूब घुटाई होती थी, ताकि सलवटे निकल जायँ और रगोकी चमक भी निखर उठे। चारो ओर बोर्डर अलगसे खीचा जाता था। लाल और बदली रग विशेषरूपसे व्यवहृत होते थे। उसपर स्वर्ण या रजतकी स्याहीसे लिखी हुई लिपि चमक उठती थी। अध्यात्मतत्त्व वेदी **श्रीमद्देवचन्द्रजीकी अध्यात्मगीताकी** दो प्रतियाँ मुझे प्राप्त हुई हैं, जिनकी लेखन एव चित्रकला उपर्युक्त ढगकी है। उनके हाशियेपर प्रकृतिका तादृश चित्र मनोहर और भव्य है। चित्रकला ही आध्यात्मिक भावोकी धारा बहाने लगती है और ग्रन्थका विषय तो वही है। उभय सामंजस्य आकर्षक है। यद्यपि यह कृति १९वी शतीकी चित्रित है, पर भावोकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व-पूर्ण है। प्राकृतिक चित्रोका इतना अच्छा सकलन, इस शताब्दीकी अन्य कृतियोमे नही मिलता, इसमे **'भारंड'** पक्षीका अकन विशेष आकर्षणको लिये हुए है। इससे पता चलता है कि उन दिनो वह भारतमे अवश्य ही रहा होगा। १८वी शताब्दीकी एक आयुर्वेदिक कृति मेरे सग्रहमें है, इसमें

भारड पक्षीके ग्रडोके छिलकोका प्रयोग चक्षु-ज्योति वृद्ध्यर्थ आया है और अनुभूत प्रयोग है। अत यह मानना पडता है, तबतक वह यहाँ था। अब तो पता नही लगता।

ताड़पत्रीय चित्र (प्रथम भाग, वि० सं० ११५७-१३५६)

अद्यावधि जो प्राचीन जैन-साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसका अधिकाश भाग ताडपत्रोपरि लिखित है। जैनेतर साहित्य यो तो भूर्जपत्रपर भी लिखा हुआ प्राप्त हुआ है; पर जैन-भण्डारोमे कुछ ऐसे मूल्यवान् ग्रन्थ मिले हैं, जो ताडपत्रोपर उल्लिखित होनेके साथ उनकी लिपिकी मरोड भी शुद्ध जैन है। प्राचीनकालीन लेखन-विषयक उपकरणोपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि उस समय अपने देशमे कागजका प्रचलन नही था। मध्य-एशियासे मुसलमानोद्वारा इसका आगमन भारतमे हुआ। उनके साथ कागज भी स्थायी व्यवहारकी वस्तु बन गया। आज भी भारतके कुछ भागोमे ताडके पत्र ग्रथ-लेखनके काममे आते है, पर कलाकी दृष्टिसे उनका महत्त्व नही। यो तो ताडके वृक्ष कई प्रकारके होते है, पर उन सबमे 'श्रीताल' मजबूत, स्निग्ध और सुन्दर होता है, जो मलबारसे आता था। अत इसीपर लिखित सैकडो ग्रन्थ मिले है। १५वी शताब्दीतक जैनोने लेखनमे इनका व्यवहार किया।

भारतीय चित्रकलाका विकास ताडपत्रोपर भी खूब हुआ। स्पष्ट कहा जाय, तो ताडपत्रोपर जो चित्रकला अवतरित हुई और विकसित होते-होते आजतक यत्किंचित् अशमे सुरक्षित रह सकी है, उसका सम्पूर्ण श्रेय जैनोको ही मिलना चाहिए, क्योकि उन्होने अपने द्रव्यको बहाकर कलाकारोकी समस्त आवश्यकताओकी पूर्तिकर उच्चश्रेणीकी कला-कृतियाँ सर्जित करवाई। मै गर्वके साथ कह सकता हूँ कि भारतीय मध्य-कालीन चित्रकलाके नमूने इनको छोडकर अन्यत्र नहीके बराबर मिलते है। इनके अध्ययनके बिना भारतीय चित्रकलाका अध्ययन अपूर्ण रहेगा।

जैन-धर्मके इतिहास-पटपर दृष्टि केन्द्रित करनेसे विदित होता है

कि दक्षिण-भारतमें दिगम्बर **और** पश्चिम-भारतमे श्वेताम्बर जैनोंका आधिपत्य था और वर्तमानमे भी है। जिस कालकी ताडपत्रीय चित्रकला-का उल्लेख यहाँपर किया जा रहा है, वह युग जैनोके लिए स्वर्णका था। **चौलुक्य** और **बघेले** राजा जैन-धर्मको आदरकी दृष्टिसे ही नही देखते थे, अपितु उनके राज-कालमे शासनके ऊँचे-से-ऊँचे पदोपर जैन ही नियुक्त थे। वे न केवल शासक ही थे, अपितु कई तो उच्च श्रेणीके विद्वान्, ग्रन्थ-कार और कलाके उपासक भी थे। स्वाभाविक रूपसे चौलुक्य राजा शिल्पादि ललित-कलाओमे बहुत अभिरुचि रखते थे। परमार्हत **श्रीकुमार-पाल** राजाने जो कार्य कलाके उन्नयनमे किया है, वह अद्वितीय है। इस पूर्व गुजरातमे ज्ञानभण्डार थे या नही, यह एक प्रश्न है; परन्तु इतना अवश्य कहना पडेगा कि कुमारपालने सर्वप्रथम अपनी राजधानीमे ज्ञानागार खुलवाया और ताडपत्र मँगा सैकडो ग्रन्थ लिखाकर विद्वानोकी सुविधाके लिए वितरण कराये।

वि० स० ११५७की चित्रित एक **निशीथचूर्णिकी** सचित्र प्रति मिली है, जो महाराज **जयसिंहके** राज्यमे लिखी गई। **ज्ञाताधर्मकथा** आदि तीन अगसूत्र भी इस कालकी सचित्र कृतियाँ है। महाराज कुमार-पालके राज्यकी **ओघनिर्युक्ति** (वि० स० १२१८) और ६ अन्य ग्रन्थ चित्रित उपलब्ध हुए है। उनमेसे प्रथम ग्रन्थमे स्वय कुमारपालका भी एक चित्र है, जो इतिहासकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। अन्य ग्रन्थोमे पौराणिक शासन देवियोके चित्र है, जो भारतीय शिल्प और प्रतिमा-निर्माणकी दृष्टिसे विशेष उपयोगी है। सौभाग्यकी बात है कि चित्र साफ है। श्वेताबर ताडचित्रके और भी नमूने उपलब्ध है, पुरातत्त्वाचार्य श्रीमान् **जिन-विजयजी** "चित्रकलाकी दृष्टिसे ताडपत्रीय पुस्तकोका आकर्षण" शीर्षकमे अपने विचार इन पक्तियोमें व्यक्त करते है—

"पुरातन इतिहासके उपादानकी दृष्टिसे इन ताड़पत्रीय पुस्तकोंका क्या महत्त्व है, यह तो संक्षेपमें हमनें ऊपर बताया ही है। इसके सिवा

एक ओर सांस्कृतिक उपादानकी दृष्टिसे कुछ ताड़पत्रीय पुस्तकोंका अधिक आकर्षण है। वह है चित्रकलाकी दृष्टिसे। ताड़पत्रीय पुस्तकोंमेंसे किसी-किसीमें कुछ चित्र भी अंकित किये हुए उपलब्ध होते हैं। यद्यपि इन चित्रोंमें विशेषकर जैन-उपास्य देव तीर्थंकरोंके प्रतिबिम्ब होते हैं; पर साथमें कुछ और-और दृश्योंके चित्र कहीं-कहीं मिल जाते हैं। ऐसे दृश्योंमें प्रधानतया जैनाचार्योंकी धर्मोपदेशके स्वरूपकी अवस्थाका आलेखन किया हुआ मिलता है। इस आलेखनमें आचार्य सभापीठपर बैठे हुए धर्मोपदेश करते बतलाये जाते हैं और उनके सम्मुख श्रावक और श्राविकागण भाव-भक्तिपूर्ण उपदेश श्रवण करते दिखाये जाते हैं। कहीं कुछ ऐसे ही और भी अन्यान्य प्रसंगोचित दृश्य अंकित किये हुए दृष्टिगोचर होते हैं। गुफाओंके भित्ति-चित्रोंके अतिरिक्त ऐसे छोटे, परन्तु विविध रंगोंसे सज्जित, इतने पुराने चित्र हमारे देशमें और कोई नहीं मिलते। इसलिए चित्र कलाके इतिहास और अध्ययनकी दृष्टिसे ताड़पत्रकी ये सचित्र पुस्तकें बड़ी मूल्यवान् और आकर्षणीय वस्तु हैं"।

पश्चिम-भारतकी भाँति दक्षिण-भारतके जैन-भडारोका परिशीलन अद्यावधि समुचित रूपेण नही हुआ। अत कुछ लोगोने मान लिया कि दिगम्बर जैन चित्रकलाके नमूने नही मिलते। सच बात तो यह है कि दिगम्बर जैन विद्वानोंने अभीतक अपने पूर्वजो द्वारा सरक्षित विपुलतम ज्ञानराशिका समीचीन पर्यवेक्षण ही नही किया। देशी और विदेशी विद्वानोने इन चित्रोपर जो-कुछ कार्य किया है, उससे हमे विश्वास हो जाता है कि दक्षिण-भारतके जैनोने ताडपत्रीय ग्रन्थोको तो सचित्र बनाया ही है, पर साथ-ही-साथ अन्य चित्रोकी भी कलात्मक सृष्टि करनेमे वे पश्चात्पाद नही रहे। मद्रास गवर्नमेण्ट म्यूजियमसे Tirupatti Kunram' (१९३४) नामक अत्यन्त मूल्यवान् ग्रन्थ मि० टी० एन०

"जैन-पुस्तक-प्रशस्ति-संग्रह', प्रस्तावना, पृ० २०।

रामचन्द्रम् द्वारा लिखित प्रकाशित हुआ है । इसमें प्रकाशित चित्रोसे दक्षिण-भारतकी जैन-चित्रकला-पद्धतिका सामान्य आभास मिलता है। इनमेसे अधिकाश चित्र भगवान् ऋषभदेव और महावीरकी जीवन-घटनाओपर प्रकाश डालते हे, परन्तु फिर भी उस समयके पहनाव, नृत्यकला (प्लेट ५३-५४-५५-५६-५७-५८-६०-६१)के तत्त्वोका परिज्ञान हो जाता है। इसमें सन्देह नही कि इनमेसे सभीको उत्कृष्ट कला-श्रेणीमे नही रखा जा सकता, तथापि इनका अपना वैशिष्ट्य है।

श्रीधवलाका स्थान दि० साहित्यमे महत्त्वका है। मूडविद्रीमें इसकी एक प्रति लिखी हुई मिली है, जो सचित्र है। षट्खण्डागम भाग ३में कुछ चित्रोका प्रकाशन हुआ है। इनमेसे ऊपर उभय चित्र बडे भावपूर्ण है। तीर्थंकरोकी पद्मासनावस्था, वीतरागमुद्रा और यक्ष-यक्षिणीके मुख-सौरभ विस्मयकारक भव्यताको लिये हुए है। द्वितीय चित्र दिगम्बराचार्योंके प्रतीत होते हे। एक चित्र—जो दाहिनी ओर है—आचार्य **हेमचन्द्र सूरिजीके** प्रमुख ताडपत्रीय चित्रका स्मरण करा देता है। उभय-साम्य स्पष्ट है। शेष पत्रोमे बाहुबली स्वामी और अन्य तीर्थंकर परमात्माके भावोके अकनके बाद अन्तिम पत्रमे जैनोके भौगोलिक इतिहाससे सम्बन्धित चित्र हे। इन चित्रोके मध्य-भागमें कमलाकर चक्र सुन्दररूपसे चित्रित है। खेद इस बातका है कि जहाँपर चित्र प्रकट किये गये हैं, वहाँ उनकी कला एव समयसूचक विवरण नही है। अत. मूल चित्रके अभावमें निश्चित निर्माण-समय कैसे किया जा सकता है।

जैसलमेरकी चित्र समृद्धि

भारतीय चित्रकलाके सरक्षणमें **खरतरगच्छीय** आचार्य **श्रीजिनभद्र सूरिजी**का स्थान सबसे आगे है। आपने जैसलमेरमें जैनज्ञानभडारकी स्थापना कर भारतीय सस्कृतिके मूल्यवान् साधनोकी रक्षा की। यदि आप उन दिनो इस महत्त्वपूर्ण सरक्षणपर ध्यान न देते तो आज हमे,

चित्रकलाकी महत्त्वपूर्ण सामग्रीसे वंचित रह जाना पडता। अभीतक जैसलमेरकी ख्याति तालपत्रीय प्रतोके कारण थी, पर **मुनि पुण्यविजयजीकी** गवेषणाने प्रमाणित कर दिया कि मध्यकालीन भारतीय कलाके इतिहासपर प्रकाश डालनेवाली मौलिक सामग्रीका भी वह अनुपम सग्रह है। आपने चौदह काष्ठफलक और ताडपत्रके चित्र खोज निकाले। इनमेसे कुछ एकका प्रकाशन उपर्युक्त शीर्षक सूचित ग्रन्थमे हुआ है। शेष भविष्यमे प्रकट होगे। ऐसी आशा है।

काष्ठपर चित्र

रूपनिर्माणमे जैनाश्रित कलाकारोने अद्वितीय नैपुण्यका जो सुपरिचय दिया है, वह स्पर्द्धाकी वस्तु है। कलाकारोने रूपाधारके लिए कोई निश्चित निर्णय नही किया है, वे किसी भी प्रकारके आधारसे अन्त सौदर्यको 'रूपदान' देनेको सक्षम थे। कवि **कीट्स**ने मृण्पात्रमे शिल्पनैपुण्यका प्रतीक देखकर उस अमर रचनाकी प्रेरणा पाई, जो सौदर्य विवेचकोके लिए मन्त्ररूप है— **"ब्यूटी इज ट्रुथ, ट्रुथ इज ब्यूटी"**। कलाका विचार आधारसे नही, पर पात्रगत आधेयसे होता है। उपादानसे कला धन्य होती है, कलाकारके नैपुण्य, उसकी अन्तर्मुखी दृष्टि-वृत्ति एव प्रतिभासे। **प्रसिद्ध चित्रकार माइकेल ऐंजेलो** ठीक ही तो कहा करता था कि— **"पत्थरके हर टुकड़ेमें मूर्ति है, भास्कर उसके अनावश्यक अंशोको तराशकर मूर्तिको प्रकाशमें ला देता है, जो लोकचक्षुके अन्तरालमें है।"** श्रीरवीन्द्रनाथका मन्तव्य है कि उच्च कोटिकी कलाके उपादान सर्वत्र भरे पडे है। पर है कितने व्यक्ति ऐसे जो बिखरे हुए अमूर्त तथ्योको एकत्र कर सत्यकी ओर, जनताको उत्प्रेरित कर सके और कलाकी अन्त वाणीके उन्नत आदर्शको समझ सके। जिस प्रकार रसज्ञता दैवी वरदान है, उसी प्रकार रूपदान भी। रूपशिल्प या चित्रमे महानताका अभाव नही, अभाव होता है कुशल कलाकारका।

उपर्युक्त शीर्षकसे बहुतोको आश्चर्य होगा कि लकडीपर भी चित्र हो सकते है ? पर इसमें विस्मयकी कोई बात नही हैं। सामान्य आधारके सहारे सुन्दर रससृष्टि करना ही तो कलाकारकी कुशलता है। इस विषय-पर मैं अन्यत्र स्वतत्र रूपसे विचार कर चुका हूँ[1]। अतः यहाँ तो प्रासगिक रूपसे इतना ही कहूँगा कि जैनाश्रित कलामे २५०० वर्ष पूर्वसे काष्ठका व्यवहार, कलाकारोने सफलतापूर्वक किया है। जैनागम एव तदुत्तरवर्ती साहित्यिक ग्रन्थोसे भी इसका समर्थन होता है। यहाँ मैं केवल चित्रकला-विषयक काष्ठोकी ही चर्चा करना उचित समझता हूँ।

भोजपत्र पर लिखे ग्रन्थोकी सुरक्षाका नेपाल व कश्मीरियोने, क्या और कैसा प्रबन्ध किया था, यह तो नही बता सकता, पर जैनोने ताडपत्रो-पर लिखित ग्रन्थ-रक्षाकी जो व्यवस्था की थी, वह हमारे सम्मुख है। कलात्मक कृतियोकी रक्षाके उपादान भी तो कलापूर्ण होने चाहिएँ न ? लेखनकार्यमे उपयोगी ताडपत्र स्वभावत ढाई-तीन फुटसे कम लम्बे नही होते। अत उनको सुरक्षित रखनेके लिए मध्य-भागमें तीन या आवश्यकता-नुसार अधिक, छिद्र बनाकर मजबूत रस्सीमे पिरोकर काष्ठफलकोमें कसकर बाँधे जाते थे, जैसे कोई शत्रुको बाँधता हो। ऐसे फलकोके भीतरी भागको खूब स्वच्छ-स्निग्धकर, पृष्ठभूमि निमित्त कोई रगसे पॉलिसकर, तदुपरि कथाप्रसगोको स्पष्ट करनेवाले, तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओंपर वेधक प्रकाश डालनेवाले, तीर्थंकरोके या महान् शासन प्रभावक आचार्यके सास्कृतिक कार्योसे सम्बद्ध, या प्रकृतिके सौंदर्यका प्रतिनिधित्व करनेवाले आकर्षक चित्र अकित किये जाते थे। इस प्रथाका पालन ब्रह्मदेश, तिब्बत तथा चीनमें भी किया जाता था।

उपर्युक्त पक्ति-वर्णित काष्ठफलकोका पता सर्वप्रथम जैसलमेरमें तब लगा, जब स्वर्गीय आचार्य श्री जिनकृपाचन्द्रसूरिजी अपने उपाध्याय

---

[1]भारतीय शिल्प एवं चित्रकलामें काष्ठका उपयोग, पृष्ठ ११९।

मुनि सुखसागरजी आदि सुयोग्य शिष्यो सहित वहाँके **जिनभद्रसूरि** स्थापित ज्ञानभंडारका अन्वेषण कर रहे थे । यही प्रथम जैनाचार्य थे, जिनने श्रीसघका विश्वास[1] प्राप्तकर, प्राचीन साहित्यका जीर्णोद्धार किया। आपके साथ १८ तो मात्र लिपिक ही थे। यह घटना वि० स० १९८२ की है। आपको यहाँपर जैनसाहित्यान्वेषण करते समय दो काष्ठफलक सचित्र दृष्टिगोचर हुए। इनको आपने, वहाँके पुरातन विचारके लोगोको समझा-बुझाकर उन्हे बडोदा स्टेट फोटोके लिए भेजा, जो बादमें "गायकवाड ऑरियण्टल सीरिज"के **अपभ्रंश काव्यत्रयीमे** प्रकाशित हुए। इन फलकोपर तात्कालिक प्राकृत भाषाके उद्भट कवि व उत्कृष्ट क्रिया पात्र **श्रीजिनवल्लभसूरि** और अपभ्रंश भाषाके लोक कवि **श्रीजिनदत्तसूरिजीके**

---

[1]विश्वास शब्दका प्रयोग मैं सकारण ही कर रहा हूँ । इतःपूर्व वहाँपर जैन-मुनि पहुँचे थे, वे वहाँके लोगोंकी धार्मिक भावनाका अनुचित लाभ उठाकर, भंडारसे बहुमूल्य पुस्तकें चुरा लाये थे, जो आज गुजरातके प्रसिद्ध ज्ञानभंडारकी शोभा है । विद्वानोमें न जाने यह दोष क्यों आ गया है । स्व० बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर भी बताते थे, उन्होने एक अति प्रसिद्ध विद्वान्को रागमालाके चित्रोंका एलबम अवलोकनार्थ दिया, उन्होंनें वर्षोंतक रखा, बहुत तक़ाज़ेके बाद जब एलबम वापिस मिला तो वे चित्र ही नदारत थे । नाहरजी जहरका घूँट पीकर रह गये । इन पंक्तियोंके लेखकका भी ऐसा ही अनुभव है । जब वह कलकत्तामें था, तब एक विद्वान्को, कवि जामीके हजके वर्णनका एक हस्तलिखित ग्रन्थ, केवल एक सप्ताहके लिए दिया, इसमें विशुद्ध ईरानी क़लमके पाँच चित्र थे । स्वर्णकी भूमिपर काली रेखाओंमें चित्र थे । कला और सौंदर्यकी दृष्टिसे तो अमूल्य थे ही, पर साथ ही इसपर जहाँगीरके कुतुबख़ानेकी मुहर भी लगी थी। मैंने बहुत प्रयास किया, पर प्राप्त करनेमें अभी तक असफल रहा। अभी भी हमारा राष्ट्रिय चरित्र कितने निम्न स्तरपर है ?

ऐतिहासिक चित्र अंकित हैं। ये चित्र जब प्रकाशित हुए, तब इनपर कलालोचकोंका ध्यान नहीं गया, बल्कि साम्प्रदायिक समझकर उपेक्षित कर दिये।

१९४२के भीषण राष्ट्रिय आन्दोलनके समय, भारतका एक प्रतिभा सम्पन्न और गवेषणाके कार्यमें, लोकसेवामें सम्पूर्ण जीवन देनेवाले महान् सशोधक, सदलबल जैसलमेर पहुँचा और पाँच माहतक अविरत भावसे रक्त-शोषक श्रमकर वहाँके पुरातन ज्ञानभंडारोंको छान डाला, वह वयोवृद्ध व्यक्ति और कोई नहीं, भारतीय विद्याभवन (बम्बई)के भूतपूर्व आचार्य और राजस्थान पुरातत्त्व विभागके वर्तमान अवैतनिक सचालक श्रद्धेय पुरातत्त्वाचार्य **मुनि जिनविजयजी** थे। आपने दो काष्ठफलक और खोज निकाले, जो भारतीय मध्यकालीन इतिहास और चित्रकलाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। इन फलकोंका प्रकाशन भारतीयविद्या—सिंघीस्मृति—अंकमें हुआ है।

इन फलक-चित्रोंका धार्मिक महत्त्व तो निर्विवाद है ही, पर इससे अधिक मूल्य है चित्रकलाकी दृष्टिसे। परिचय देते हुए मुनिश्रीने लिखा है—

"चित्रपट्टिकाके रंग आकर्षक व रेखाएँ सुन्दर, सुभग और सुमार्जित हैं। स्त्री, पुरुष और यतिमुनियोंकी आकृतियाँ अच्छी बनी हुई होनेके कारण उनका अंगविन्यास सम्यक् रीत्या मरोड़वाला बनाया गया है। स्त्रियोंके कर्णकुंडल ध्यान आकृष्ट कर सकें, वैसे हैं। स्तनमंडलका उन्नत वर्तुलाकार तो अजंताके चित्रांकनकी ही परम्पराका प्रत्यक्ष परिचय देता है। इनसे हमें यह भी आभास मिल सकता है कि अजंताकी चित्रकला और गुजरात-राजस्थान अर्थात् पश्चिम भारतकी चित्रकलाका परस्पर ऐतिहासिक सम्बन्ध रहा है।"[1]

इस विषयपर सुप्रसिद्ध कलाविद् श्रीनानालाल चमनलाल म्हेता

---

[1]भारतीयविद्या भा० ३, पृ० २३५।

विस्तारसे लिख रहे हैं। मैं केवल इतना ही कहूँगा कि ये चित्र उस समयकी सामाजिक व संगीत तथा नाट्यपद्धतिपर भी अच्छा प्रकाश डालते है। इनके निरीक्षणसे स्पष्ट हो जाता है कि ये एलोराकी कलासे खूब प्रभावित है। उस समयका कलाकार स्थिर भावोका अकन तो करता ही था, पर गतिमय भावोको भी सफलताके साथ तूलिकामें लपेट लेनेमे भी सक्षम था। डॉ० मोतीचन्द इन फलकोपर लिखते है—

'उन्हे देखकर मुझे यह पता चला कि ताड़पत्रपर लिखे चित्र मध्य-कालीन भारतीय पश्चिमकलाके जिन अगोपर प्रकाश डालनेमें अक्षम हैं, वह प्रकाश इन पट्टलियोसे मिलता है।'[1]

मुनि श्रीजिनविजयजीके बाद मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी जैसलमेर पहुँचे और आपने १४ सचित्र काष्ठफलक ढूंढ निकाले। इनसे पश्चिम भारतीय चित्रकलापर पर्याप्त प्रकाश पडता है। ये सब प्राय बारहवी शतीके आसपासके हैं, जैसा कि उनमे चित्रित कमलवेलसे सिद्ध है। इन फलकोमे सापेक्षत वैशिष्ट्य है, वह यह कि **'गेंडा'** व **'जिराफ'**का अकन। डॉ० मोतीचन्दका अभिमत है कि भारतीय चित्रकलामे शायद् यह प्रथम अकन है। यो तो विश्वविख्यात कोणार्क (उडीसा) मदिरके थरमे जिराफ है, पर वह अकन १३वी शतीके मध्यका है।

प्राचीन शिल्पके प्रकाशमे इनको देखे तो पता चलेगा कि कलाकारने उससे जो प्रेरणा ली है वह वैयक्तिक है या पारम्परिक। मुझे पारम्परिक ही जान पडती है। कमलवेल तो अमरावती, साँची और मथुरा शैलीका अनुकरण स्वरूप जान पडती है।

श्रीयुत साराभाई नवाबके सग्रहमे भी एक कलापूर्ण काष्ठफलक है। इसपर भरत और बाहुबलिके चित्र अकित है। वि० स० १४२५की दो काष्ठ पट्टिकाएँ **पुष्पमालावृत्ति**की प्रतिमे पाई गई है, जो ३३+३

---

[1] **जैसलमेर नी चित्र समृद्धि, प्राक्कथन।**

इच है। दोनोपर भगवान् पार्श्वनाथके १० पूर्वभव एवं पचकल्याणकोका अंकन है। काम बहुत सूक्ष्म है। पर असावधानीसे बहुत-सा भाग नष्ट हो गया है। सौभाग्य इतना ही है कि रेखाएँ बच गई हैं। स० १४५४की सूत्रकृतांग पर भी एक पटली मिली है। इसपर भगवान् महावीरके कुछ भव व दूसरी ओर कल्याणकोके भाव है। चित्र बहुत स्पष्ट व सुरक्षित है। यदि दूसरी पटिका भी उपलब्ध हुई होती तो और भी प्रकाश मिलता। लेखनका निर्देश होनेसे इनका विशेष महत्त्व है।

१५वी शतीतक तो तालपत्रोका रिवाज था पर बादमे इनका स्थान कागजने लिया और काष्ठफलकोका स्थान वेटियोने या पुट्ठो'ने लिया। पर हाँ काष्ठ-चित्र परम्पराका प्रवाह प्रकारान्तरसे चलता रहा। अब हस्तलिखित ग्रन्थोके लिए तदाकार बक्स बनने लगे थे। इनपर भी सुन्दर चित्रकारी मिलती है। ऐसे नमूने मेरे सग्रहमें हैं। एकपर सरस्वतीका चित्र है, एकपर गणेश'का।

१६वी शताब्दीके बाद काष्ठचित्र परम्पराका अच्छा विस्तार हुआ जान पडता है। जो प्रसग काष्ठफलकोपर चित्रित किये जाते थे, अब उनने वृहत्तर रूप धारण किया। जैनमदिरोकी काष्ठछतो व दीवालोपर जैन-सस्कृतिसे सम्बद्ध अनेक भावोका अकन पश्चिम भारतमे हुआ, इस परिवर्तन-से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनकी लोकरुचि कलाकी ओर झुकी हुई थी।

जैनाश्रित काष्ठचित्रकलाका विकसित भाग अभीतक विद्वज्जगत्को

'पुराने बहीखातोंके कागज़ोंको कूटकर प्रताकार पुट्ठे बनाये जाते थे। इनमें भी श्रमणोंका कलाकौशल परिलक्षित होता है। इनकी कटाई इतनी सुन्दर व भावपूर्ण होती थी कि स्वयं चित्रके रूपमें बदल जाती थी। बादमें फिर चाँदीके पुट्ठे भी बनने लगे थे। इस कलापर ध्यान देना जरूरी है।

'इसका चित्र "भारतीय विद्याभवन" परिचयपत्रमें प्रदर्शित है।

अपनी ओर आकृष्ट नही कर सका है। मैंने ऐसे कुछ चित्र सूरत व अहमदाबादके जैनमंदिरोमें देखे हैं। मुगलकलाके पूर्व इतिहासपर ये चित्र अच्छा प्रकाश डाल सकते है, कारण एक प्रकारसे मै इन्हे वय सन्धि कालीन चित्र मानता हूँ। राजपूत और मुगल चित्रकी बीचकी कडियाँ इन्हीमें बिखरी है। भारतीय चित्रकला मर्मज्ञोका मैं साग्रह इस ओर ध्यान आकृष्ट करता हूँ। **अहमदाबाद, सूरत, राधनपुर, पाटन** और **खंभातके** मदिरोमे इनका अच्छा सग्रह है। मुझे सखेद लिखना पडता है, कि हमारे मदिरोके कलाशून्य हृदयवाले व्यवस्थापको द्वारा ऐसी मूल्यवान् सामग्रीका बहुत बडा भाग तो नष्ट हो चुका। अवशिष्ट भागकी सुरक्षाका वैज्ञानिक प्रबन्ध अपेक्षित है।

ताड़पत्रीय चित्रकला

अब दूसरा विभाग **अल्लाउद्दीन** खिल्जीके आक्रमणके बाद आरम्भ होता है। प्रथम विभागकी अपेक्षा इस श्रेणीके ताडपत्रीय चित्र (वि० स० १३५७-१५००) अत्यन्त सुन्दर उपलब्ध हुए है। रगो और रेखाओंका विकास उन दिनो उन्नत पथपर था, जैसा कि तात्कालिक चित्रोकी सजीवतासे जान पडता है। **सिद्धहैमव्याकरण** (वि० स० १४२७)के कल्पसूत्र और कालक-कथाकी अनेक प्रतियाँ भी प्राप्त है। उपर्युक्त विभागोकी चित्रित प्रतियोका यहाँ केवल उल्लेख ही करना उचित है। इनमेंसे कुछ चित्रोका प्रकाशन **श्रीजैन-चित्र-कल्पद्रुममे** हुआ है।

वस्त्रोंपर चित्र

भारतवर्षके विभिन्न भागोमे और तिब्बतमे कपड़ोपर भी अपने-अपने मनोभावोके अनुकूल चित्र और लेखन-कार्य होते थे। वस्त्रोके उभय भागोके छिद्रोको बन्द करनेके लिए गेहूँ या चावलका विशेष रूपसे माँड तैयार करके लेप कर दिया जाता था। सूखनेके अनन्तर मोहरेसे

वस्त्रोंकी खूब घुटाई होती थी। प्राचीन जैन-ज्ञान-भण्डारोंमें वस्त्रोंपर चित्रित और लिखित बहुत-सी सामग्री प्राप्त हो चुकी है; परन्तु उनपर कलात्मक अध्ययन उचित रीतिसे अद्यावधि नही हो पाया है। विक्रम सवत् १४०८की एक प्राचीन वस्त्र-चित्रकृति मिली है, जिसपर माता सरस्वतीका भव्य चित्र अकित है। एक पचतीर्थी पट भी मिला है, जो इतिहासकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। **मि० एन० सी०** मेहताने इसका परिचय **इण्डियन आर्ट एण्ड लेटर्स** (१९३२)मे दिया है, पर वह अनेक ऐतिहासिक भूलोसे भरा पडा है। उदाहरणके लिए वनराजके परिपालनमें पूर्णरूपसे सहायक श्रीशीलगुणसूरिको उनका गृह-मन्त्री बताया गया है।

वि० स० १९३९मे बम्बईमे आचार्य श्रीपूज्यजी **श्रीजिनचन्द्रसूरिजीने** एक विज्ञप्तिपत्र मुझे दिखाया था, जो २२ हाथ लम्बा और १॥ हाथ चौडा रहा होगा। उसपर चित्र तो नही है, पर दोनो तरफ़के बोर्डर बहुत अच्छे रगोसे सुसज्जित है। उसका लेखनकाल वि० स० १४३१ है। वह पट **सिंघी-सिरीज**मे छप भी चुका है। इस प्रकारके विज्ञप्तिपत्र-विषयक पट प्राय वस्त्रोपर ही पाये जाते है, जिनका भौगोलिक दृष्टिसे बहुत बडा महत्त्व है। ऐसे पटोका एक सग्रह भी **एण्श्येण्ट विज्ञप्तिपत्राज**[1] (डॉ०

---

[1]विज्ञप्तिपत्रोंकी जैनाश्रित चित्रकला भारतीय कलामें अपना स्वतन्त्र और गौरवपूर्ण स्थान रखती है। कहना न होगा कि यह जैनोंकी बहुत बड़ी मौलिकता है। वे भारतीय इतिहास, रेवेन्यु-विभाग एवं म्यूनिसिपैलिटीके स्थान-निर्णयमें विशेष सहायक प्रमाणित हुए है। जैन-धर्मगुरुओंको प्रत्येक गाँवोंका समूह अपने यहाँ पधारनेके लिए विशिष्ट शैलीमें उनके गुणोकी वर्णना करते हुए विज्ञप्तिपत्र भेजा करता था। उस पत्रमें गाँवके प्रधान चौराहे, बाजार, राजा-महाराजाओंके प्रासाद एवं धनी गृहस्थोंके विशाल महल, धर्मस्थानोंके चित्र (जिनमें मस्जिदें भी सम्मिलित हो जाती थीं), प्रसिद्ध वापिकाएँ एवं वहाँकी स्त्री, पुरुष तथा रीति-रिवाज आदिका सुन्दर सजीव चित्रण किया जाता था। बीकानेर और उदयपुरके

हीरानन्द शास्त्रीके सम्पादकत्वमें) नामसे निकला है। **वसंतविलास** भी एक जैनाश्रित चित्रकलाका उत्कृष्टतम वस्त्र-चित्रात्मक उदाहरण है। ससारमें यह अपने ढगकी बेजोड कृति है। लेखन-काल वि० स० १५०८ अहमदाबाद है। विशेषके लिए 'रूपम्' (अक २२-२३) देखना चाहिए। विदेशके कला-मर्मज्ञोकी तीक्ष्ण दृष्टिसे यह पट बच न सका। आर्थिक लोभके पीछे वह आज **फ्रेयर गैलेरी आर्ट, वाशिंग्टनकी** शोभा बढ़ा रहा है।

इनके अतिरिक्त जैनतान्त्रिक साहित्य वस्त्रपर अधिकतर मिलता है। **सूरिमन्त्र, वर्द्धमान विद्या, चौंसठ योगिनी, ह्रींकार, ऋषिमण्डल, नवपदमण्डल, हनुमानपताका,** पंचांगुली एव ज्वालामालिनी देवियोंके वस्त्रोपरि चित्रित पट प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते हैं। तान्त्रिक पटोकी परम्पराका विकास न केवल भारतमें हुआ, बल्कि तन्निकटवर्ती तिब्बत और नेपालमें भी हो रहा था। हाल ही में तिब्बतीय चित्रकलाका एक उत्कृष्टतम उदाहरण —स्पष्ट कहा जाय तो सत्रहवी शतीकी कलाका प्रतिनिधित्व करनेवाला एक वस्त्रपट—मेरे देखनेमे आया है, जो **तारिणी और बोधिसत्वकी** विभिन्न मुद्राओसे सम्बन्धित है। यो तो पटमें लाल, भूरा, बैगनी, हरा, श्याम, गेरुआ आदि कई रगोका व्यवहार कलाकारने

विज्ञप्तिपत्र उपलब्ध विज्ञप्तिपत्रोंमें सबसे बड़े क्रमशः १०८ और ७२ फुट लम्बे हैं। इन पटोंमें प्रमुख दुकानोंके नाम, मकानोंके नाम एव राज्यके विभिन्न महकमें बहुत सुन्दर रूपसे वर्णित हैं। उस समयके राजस्थानकी सामाजिक एव ऐतिहासिक विशाल सामग्री इन पटोंमें है। सैकड़ों विज्ञप्तिपत्र ऐसे भी मिले हैं, जो शिष्यो द्वारा अपने गुरुओंको प्रेषित किये गये हैं। उनसे भारतका भौगोलिक वर्णन एवं चित्र काव्यादिका वैशिष्टय प्रस्फुटित होता है। भारतीय चित्र एवं वर्णनकी दृष्टिसे इन पटोंका स्थान महत्त्व-पूर्ण है। मैं आशा करता हूँ कि कला-प्रेमी अपनी उपेक्षित मनोवृत्तिका परित्याग कर इस महान् सामग्रीकी ओर भी ध्यान देगा।

उत्तम ढंगसे किया है, फिर भी नीले रगकी पट-पृष्ठभूमिमें जो तादृश्य लक्षण भासित होते है, सम्भवत वे अन्यत्र न मिलेंगे। चारो ओर उठे हुए बादल, सरोवरमे खिले कमल, पटका प्राकृतिक सौन्दर्य और भी बढ़ा देते हे। गौतम बुद्धकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रचलित मुद्राओमेंसे १८ प्रधान मुद्राओका सजीव परिचय उसमें अंकित है। ऐसे ही कुछ बौद्ध एवं जैनपट मेरे निजी सग्रहमें एव स्वर्गीय पूरणचन्दजी नाहर, स्व० बहादुर-सिंहजी सिंघी, अर्द्धेन्दुकुमार गांगुलीके सग्रहालयो में तथा प्रोविन्शियल म्यूजियम लखनऊ, इडियन म्यूजियम कलकत्ता आदिमें सुरक्षित है। आजतक वस्त्रचित्र-जैसा विषय कला-समालोचकोके सम्मुख समुचित रूपसे नही आया था।

सोलहवी शतीके प्रथम चरणमें जैन-साहित्यके महान् संरक्षक श्रीजिनभद्रसूरिजीके समयका एक विशाल चित्रपट—जैन-तन्त्रशास्त्रोपर प्रकाश डालनेवाला—पालनपुर-निवासी श्रीयुत नाथालालभाई छगन-लालके पास था, जिसपर अतीव सुन्दर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अकन किया गया था। वह पट मुगल-राजपूत-पूर्व कलाकृतियोमे सर्वश्रेष्ठ था, परन्तु वर्त्तमानमे इस पट द्वारा ब्रिटिश म्यूजियम सुशोभित हो रहा है। इसी आचार्यके समयका एक और पचतीर्थी वस्त्रपट बीकानेरके आचार्य गच्छीय ज्ञानभडारकी पेटियोमे बन्द पडा है, जिसे क्षणिक मुक्तिका सौभाग्य शायद ही प्राप्त होता हो। सौभाग्यकी बात है कि उपर्युक्त पट ऐति-हासिक प्रशस्तिसे अलकृत है। इससे ८० वर्ष पूर्वका एक पट बीकानेरके नाहटा-कला-भवनमें है, जिसपर हिन्दी-गद्य-साहित्यके आदि-ग्रन्थनिर्माता श्रीतरुणप्रभसूरिका ऐतिहासिक चित्र अकित है।

सतरहवी शतीके अन्तिम चरणके कुछ ऐसे वस्त्र मैंने देखे है, जिनपर जैन-धर्मके मुख्य सिद्धान्त एव प्रधान मन्त्र—जैसे अहिंसा परमोधर्म, णमो अरिहंताणं—विशेष रगके सूत्रसे इस ढगसे बनाये गये है, मानो वस्त्र बुनते समय ही विशेष रूपसे ग्रथित सूत्र-तन्तुओसे बन गये हो।

मध्य-प्रान्तमें काष्ठके पुराने ठप्पे मिले है, जिनपर वस्त्रोपर छपनेवाली लताएँ और चित्र अंकित है। आजकल भी इसी प्रकारके ठप्पे बनते हैं। यह कला उन दिनो भारतमें चतुर्दिक् व्याप्त थी, जिसका स्थान वर्तमानमें मीलोने ग्रहण कर लिया है। इस यन्त्रवादके युगमे भारतकी न-जाने कितनी ही मौलिक कलाएँ विलुप्त हो गई और होती जा रही है!

अठारहवी शताब्दीके शत्रुजय, गिरनार आदि जैन-तीर्थोंके विशाल पट वस्त्रोपर चित्रित उपलब्ध हुए हैं, एव पुराने बन्दरवाल, चन्दवो और पूठियोमे तो इतना सुन्दर काम मिलता है, जो भारतीय वस्त्रकलाका प्रतिनिधित्व कर सकता है।

कागजपर जैनाश्रित चित्रकला

(वि० स० १४६८-१९५०)

भारतके छोटे-मोटे प्रान्तोमे मुसलमानोके आक्रमणोके कारण जानतिक वातावरण अशान्त पथकी ओर अग्रसर हो रहा था। १४-१५वी शताब्दीमें प्रजामे जाग्रतिका सूत्रपात हुआ, जिसका प्रभाव जीवनके प्रत्येक अगपर पडा। इस सामाजिक उत्थान और जाग्रतिका यह भी एक कारण हो सकता है कि वह समय अपने उत्तरदायित्व और बाहुबलपर ही जीवित रहनेका था। यदि कोई राज्याश्रयसे आत्म-रक्षाकी आशा करता, तो सम्भवत परिस्थिति कुछ और ही होती। अल्लाउद्दीन खल्जीके सरदारोने हिन्दू-सस्कृति और कला-सम्बन्धी अनेक साधनोको जान-बूझकर नष्ट कर दिया। सचमुचमे आर्य-सभ्यता उस कालमे बडे सकटका सामान कर रही थी। ब्राह्मणवर्गने सरस्वतीसे नाता छोड दिया था, पर जैन-मुनियोने शारदामाताको कभी अपूज्य नही रहने दिया, बल्कि वे द्विगुणित उत्साहसे उपासना करनेमे व्यस्त रहने लगे, जैसा कि तत्कालीन जैन-साहित्य और कलात्मक सर्जनसे स्पष्ट जाना जाता है। इन दिनो तालपत्रोका स्थान कश्मीरी कागजोंने ले रखा था। लेखक कागजको तालपत्रीय साइजमें

काटकर उसपर चित्र वगैरह बनाते थे। प्रारम्भिक कलामें रंग और रेखाएँ तो एक-सी मिलती है, पर समयकी गतिके साथ उनमें भी क्रमशः परिवर्त्तन हो गया। पूर्वकालीन चित्र केवल तीर्थंकर भगवान्‌के भवों और उनके पचकल्याणक या कोई गणधर आदिके मिलते थे; पर अभिलषित कालमे कुछ परिवर्त्तन हुआ। इस युगकी कलाकृत्तियोमे कल्पसूत्र और कालक-कथा सर्वप्रथम आते है। इनका पारायण प्रत्येक जैनीके लिए वर्षमे एक बार अनिवार्य था और अब भी है। यही कारण है कि बडे-बडे मुनि भी अपने हाथोंसे स्वर्ण और रजतमय स्याहीसे कलापूर्ण ढगसे ग्रन्थ लिखते और कोई-कोई चित्रित भी करते थे। **खरतरगच्छीय** उत्कृष्ट विद्वान् **कमलसंयमोपाध्यायने** अपने हाथसे पचासो कलाकृतियाँ प्रस्तुत की है, जिनका महत्त्व अनेक दृष्टियोसे है। उन्हे कलासे विशेष अभिरुचि थी।

कल्पसूत्रकी एक प्रति, जो अहमदाबादमे सुरक्षित है, इतने महत्त्वकी प्रमाणित हो चुकी है कि उसका मूल्य सवा लक्ष रुपये तक आँका जा चुका है। भारतीय नाटच, सगीत और चित्रकला, तीनो दृष्टियोसे इनका स्थान अपूर्व है। इन चित्रोंमे राग, रागिनी, मूर्छना, तान आदि सगीतशास्त्रके अनुसार है, और आकाशचारी, पादचारी, भीमचारी वगैरह भरतमुनिके नाटचशास्त्रमे वर्णित नाटचके विभिन्न रूप बडे ही भावपूर्ण है। प्रत्येककी मुखमुद्रा उनके हृदयगत भावोका स्पष्टीकरण करते हुए विविध रूप उत्पन्नकर साधारण मानवको भी अपनी ओर आकृष्ट करती है। यही उक्त प्रतिकी कुछ विशेषताएँ है। श्रीयुत् साराभाई नवाबकी धारणा है—**मुग़ल-काल-पूर्व जैनाश्रित चित्रकारों द्वारा चित्रित नाटच और संगीत शास्त्रोंके इतने रूप भारत या विदेशके किसी भी संग्रहालयमें प्राप्त नहीं।**

मालूम होता है, चित्रकारोने ऐसा नियम बना लिया था कि कोई स्थान रिक्त न छोडा जाय। यदि लिखनेके बाद कही स्थान छूट जाते

थे, सो उन स्थानोपर विशेष प्रकारके व्यूह या आकृतियाँ गेरुआ रगसे बना डालते थे। बाल-गोपाल-स्तुति, रति-रहस्य तथा वात्स्यायन-कामसूत्रोंसे सम्पर्क रखनेवाले चित्र भी इसी कालमे निर्मित हुए हैं तथा 'मार्कण्डेय पुराण','दुर्गासप्तशती' आदि अनेक वैष्णव सम्प्रदायके ग्रन्थ सचित्र उपलब्ध हो चुके हैं, जिनका प्राप्ति-स्थान पश्चिम-भारत ही है। उनकी कलात्मक सूक्ष्मताका अध्ययन करनेसे विदित होता है कि उन चित्रोकी पृष्ठभूमि, मुख, चक्षु, शरीर-सम्बन्धी अन्य गठन तथा विन्यास, विकास-क्रम आदि जैन-कथा-प्रसगोसे समानता रखते है। इसीसे बिना किसी अतिशयोक्तिके कहा जा सकता है कि मुगल-कलासे पूर्व इस शैलीकी सीमा सारे पश्चिम-भारतमे फैल चुकी थी और असाम्प्रदायिक मनोवृत्तिसे पारस्परिक भावनाओको अपनानेकी दृढता बढ रही थी। इन चित्रोमे उस समयकी लोक-सस्कृतिका अच्छा आभास मिलता है।

कलाकारोके लिए यह अनुभवका विषय है कि जब किसी भी कलाके प्रधान उपकरणोमे परिवर्त्तन होते है, तब उसकी कला-निर्माण-शैलीमे भी असाधारणता उपस्थित हो जाती है। ताडपत्रका युग समाप्त हो गया और उसका स्थान जब कागजने लिया, तब चित्रोपर भी बहुत-कुछ प्रभाव पडा। कारण, कलाके उपासकको अपनी सूक्ष्मतम कल्पनाको मूर्त्त स्वरूप देनेमे ताडपत्रकी अपेक्षा कागजपर स्थान अधिक चौडा मिल जाता है। प्रतीत होता है कि तालपत्रीय युगके कलाकार अपनी प्रतिभासे सीमित स्थान और रेखाओमे वास्तविक मनोवृत्तिका दिग्दर्शन करा देते थे। बादके कलाकारोको स्थान तो बहुत मिल गया, पर उनमे उस प्रतिभा, भावना और सरस हृदयका अभाव था। यद्यपि कलाके लिए सुविधाएँ अधिक सुलभ हो गई, किन्तु वह उत्थानकी ओर न बढ सकी। इस कालमे चित्रोकी सख्या अवश्य ही बढी और चित्रशास्त्रके प्रत्येक अग-उपागपर विचार भी होने लगा। यही इस कालकी सबसे बडी विशेषता थी। जो बही-खाते रद्दी कागज हो जाते थे, उनको कूटकर गत्ता

बनानेके बाद उसपर कुछ सुन्दर कागज चिपकाकर प्रतिमा-चित्राकन-प्रणालीका भी उन दिनों चलन था, जिसका वास्तविक विकास राजपूत-कालमे हुआ। यद्यपि जैनोद्वारा चित्रित प्रतिमा-चित्र कम ही मिले है, परन्तु वे है बडे महत्त्वके। कारण, जैनोने कलामें कभी अपनी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति नही आने दी। अत ऐतिहासिक, रागिनी और प्राकृतिक चित्रोकी सृष्टि भी हुई है, जिनको विद्वानोने अजैनोंकी वस्तु समझा है। जैन-प्रतिमा-चित्रवाला अध्याय सर्वथा उपेक्षित रहा है। इसपर लिखनेकी पर्याप्त सामग्री है।

चित्रकलाके विकसित सौन्दर्यमे आकर्षण उत्पन्न करनेमें रगका भी प्रमुख हाथ है। बिना समुचित रगोके चित्र अपना वास्तविक आवरण नही पा सकता। रग-निर्माण-कलामे भारतीयोने अपने मौलिक आविष्कार किये है। यहाँके कलाकारोने भिन्न-भिन्न समयमें विविध अगोंपर प्रयोज-नीय रगो और पृष्ठभूमिमे सामयिक परिवर्त्तन किये है। ताडपत्रीय चित्रोपर पीत रगका उपयोग अधिक होता था। आगे चलकर वह स्वर्णके रूपमें परिणत हो गया। पृष्ठभूमि पीत और लाल रगोंकी बनाई जाती थी और कथा-प्रसगमे आनेवाले जैन-मुनियोके वस्त्रोमे पार्थक्य प्रदर्शनार्थ छोटे-छोटे धब्बे दिये जाते थे। बादली रगका प्रयोग तो उनमे स्वाभाविक-सा हो गया था, पर अब तो इस रगका चलना इतना बढ गया कि पृष्ठ-भूमिमे वही आने लगा। गुलाबी और हरे रग भी प्रयुक्त हुए। जैन-साहित्यालेखन विषयक कुछ उल्लेख **कुमारपालप्रबन्ध उपदेश-तरंगिणी** और **श्राद्ध-विधिमे** मिलते है। ग्रन्थ-लेखन-पुस्तिकाओसे भी इसपर प्रकाश पडता है।

अब प्रश्न रह जाता है केवल रेखाओका, क्योकि चित्रकी वास्तविक आत्मा रेखाएँ ही है। रेखा-नैपुण्य चित्रकारका बहुत बडा साधन है। मूक रेखाएँ भाषासे अधिक भावोका व्यक्तीकरण करती है। कौन व्यक्ति किस समय किस विचारधारामे बह रहा है और उसके हृदयमें कौन-कौन

भाव छिपे पड़े है, उनपर शब्द नही, रेखाएँ ही प्रकाश डाल सकती है। इस कालकी रेखाओका जहाँ तक अध्ययन किया गया है, उसके आधारपर कहा जा सकता है कि उनका वास्तविक विकास सभी चित्रोमें नही हो पाया है। उनका प्रदेश सीमित है। अकबरके कालमें महाभारतके फारसी-अनुवाद रज्मनामाके अतीव सुन्दर चित्र दो-तीन चित्रकारोके हाथोसे बने हुए है। एकने रेखा खीची है।

१५वी शताब्दी जैन-साहित्यके इतिहासमे बहुत महत्त्व रखती है। जैन-धर्मानुयायी गृहस्थोने लाखो रुपयोका सद्व्यय कर कलाकी उपासना खुले हृदयसे की। मुनियोने अपने हाथोसे हजारो ग्रन्थोकी प्रतिलिपि करके विशाल ज्ञान-भडारोकी सस्थापना की, जिसमे खरतगच्छाचार्य **श्रीजिनभद्रसूरि** प्रमुख हैं। वि० स० १४५१में **संग्राम सोनी**ने स्वर्ण और रजत स्याहीसे सैकडो प्रतियाँ लिखवाकर विद्वान् जैन-मुनियोको भेट की। इस युगमे कागजकी जो प्रतियाँ लिखी जाती थी, उनके चारो ओर स्थान छोड दिये जाते थे। रिक्त स्थानोपर कही तो प्राकृतिक दृश्य और कही जगलके जानवर इधर-उधर फिरते दिखलाये जाते थे। कही-कही सुन्दर बेल बूटोकी पक्तियाँ भी बनी हुई है। भारतीय चित्रकलाकी दृष्टिसे बेल-बूटोकी बाहुल्यता जैनो द्वारा चित्रित साधनोको छोडकर अन्यत्र नही मिलती। इनपर अभी तक कलाविदोका ध्यान आकृष्ट नही हुआ, आश्चर्य है! इस मार्जिन आर्टको समुचित सर्वप्रथम भारतके सम्मुख उपस्थित करनेका यश जैन-चित्रोके विशेषज्ञ श्रीयुत नवाबको मिलना चाहिए। इत पूर्व एतद्विषयकी कोई कल्पना भी नही कर सका था। कलाकार-कल्पना अजण्टाके बेल-बूटोंमे पाई जाती है। उनका पूर्ण रूपसे अनुकरण जैनोने अपनी चित्रकलामें किया। बादमें उनमें आवश्यक परिवर्तन भी हुए। सोलहवी शताब्दीमे राजपूत और मुगल कलाओ-का सहारा पाकर इस ढगमें काफी उन्नति हुई। स्पष्ट रूपसे यो कहना चाहिए कि मुग़ल-कलामें जहाँ बेल-बूटोका उच्चतम विकास हुआ है, उसके

बीज जैन-चित्रकलाके उपकरणोमें विद्यमान हैं। यद्यपि ईरानी कलामें भी पाये जाते है; पर उनकी संख्या अत्यल्प है। मुसलमान लेखकोके अच्छे-से-अच्छे दो दर्जन ग्रन्थ मैने देखे हैं। उनसे मेरी निश्चित धारणा हो गई है कि वे लोग भी लेखन-कलामे जैनोसे आगे रहे थे। मानव-चित्र उनकी दृष्टिमें अपराध था, अत प्राकृतिक चित्रोंको सजीवता प्रदान करनेमे मुसलमानोने कमाल किया है। प्रत्येक ग्रन्थके आदि और अन्त भागोके पत्रोपर सुन्दर विस्तृत चित्र शोभाके लिए बनवानेकी प्रथा थी। जैन-मुनिगण भी इस कला-कुशलतासे पुस्तक लिखते थे कि लेखन-कार्य समाप्त होनके बाद बिना किसी रग-रेखाके चित्र स्वय दीखने लगते थे। कहनेका तात्पर्य यह कि वे बीच-बीचमे इस ढगसे स्थान छोड देते थे कि छत्र, कमल, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त्त आदि अपने-आप बन जाते थे।

चित्रकी सारी शोभा उसके चक्षुओंपर निर्भर करती है। जैनाश्रित चित्रकलामे चक्षु प्राय उठे हुए होते है। प्राचीन ताडपत्रीय चेहरोको एक ओर दो तृतीयाश अधिक चित्रित किया गया है। कागजके चित्रमें चक्षु सम्पूर्ण है। इसके बारेमे श्रीअजितघोषका कहना है कि इस प्रकारकी चक्षु-निर्माण-शैली कलाकारोकी रुचिपर अवलम्बित थी। परन्तु बात ऐसी नही है। जैन-प्रतिमाओमे चक्षु खचित रहते थे और बादमें उनमे स्फटिक रत्नके तीक्ष्ण चक्षु लगानेकी प्रथा चली थी। अत चित्रोमे उठे हुए चक्षु कलाकारकी रुचिका विषय न होकर जैन-शिल्प-स्थापत्यका अनुसरण है, स्मरण रखना चाहिए कि इस युगके सभी चित्रोमें चाक्षु-सादृश्य प्रतीत होता है। यदि चित्रोमें तिलक न हो, तो पता तक न चले कि किस सम्प्रदायसे कौन-सा ग्रन्थ सम्बन्धित है।

राजपूत-मुगल-पूर्वकालीन चित्रकलाका जहाँ नाम आता है, वहाँ हमारे यहाँके चित्र-विशेषज्ञ मौन धारण कर लेते है। उनका मन्तव्य रहा है कि इतःपूर्वकालीन चित्रकलाके उदाहरण मिलते ही नहीं। पर यह उनका भारी अज्ञान है। ऊपर जिन ताडपत्रीय और कागजके ग्रन्थगत

चित्रोंकी विवेचना की गई है, वे सभी मुगल और राजपूत कलाकी सीमाके पूर्वके हैं। सैकड़ों चित्र स्वतन्त्र भी मिलते हैं। मुझे बिना किसी संकोचके साथ कहना चाहिए कि इतपूर्व सवत् आदिसे कालसूचक चित्र-सामग्री जैनोंको छोडकर आज तक कहींपर नही मिली। जैन-ज्ञान-भण्डारोंमें रखी साधन-सामग्रीका अभी तक पता भी नही लगा है और जिनका पता लगा भी है, उनका समुचित अध्ययन ही नही हो पाया है।

मुग़ल-कला

१५वी शताब्दीका भारतीय वातावरण अत्यन्त विक्षुब्ध था। राजनीतिक परिस्थिति महान् परिवर्तनोंकी ओर अग्रसर हो रही थी। बड़े-बड़े शासक अपने-आपको सँभालनेमे अशक्त थे। मुगलोंका बोलबाला था। पुनर्जाग्रतिके लक्षण स्पष्ट दिखाई दे रहे थे। मानव-जीवनमे स्फूर्ति और नूतन रक्तका सचार हो रहा था। कहना होगा कि मुगल ललित-कला और साहित्यसे विशेष रुचि रखते थे। ऐसी स्थितिमे मुगल-कलाका उदय हुआ और जैनाश्रित चित्रकला अपना विशिष्ट स्थान गँवा बैठी। यद्यपि इस युगके कुछ नमूने मिलते अवश्य है, पर वे कम है। मुगल-चित्रकलामे ईरानी सस्कारोंका प्रभाव स्पष्ट है, जो स्वाभाविक था।

मानवकी प्रतिकृति निर्माण करना इस्लामके विरुद्ध था, तथापि कलाकी जड इतनी गहरी थी कि शत विरोधी प्रयत्नोंके बावजूद भी वह ऊपर चढ़ गई, क्योंकि वह जनताकी रुचिसे सम्बद्ध थी। कलाकारोंने उसे विभिन्न दिशामें बहाया और मनुष्यो, पशु-पक्षियो आदिके सुन्दर चित्र बनाये। अकबरने इस कलाके परिपोषणार्थ अटूट द्रव्य व्यय किया। उसका हृदय कला-तत्त्वोंका अमृत पानकर उनकी वास्तविकताको हृदयगम कर चुका था। कलाकारका मूल्याकन साधारण प्रतिभाका काम नही है। वह उच्च कला-कोविदोंको आर्थिक सहायता द्वारा सम्मानित करता था। मैंने मुगल-कलाके मूल और छपे हुए अनेक चित्र—एल्बम—देखे है।

उनके ग्राधारपर मैं कह सकता हूँ कि इस कलाको विकसित रूप देनेमें जहाँगीरका प्रश्रय प्रमुख था। उच्चकोटिके कलाकारोंके लिए उसके हृदयमे ऊँचा स्थान था। अकबर तो चित्रकलाको ईश्वर-सान्निध्य-प्राप्तिमें प्रधान साधन मानता था। यह युग भोग-विलासका था। उच्च-कोटिके चित्रोके नमूने यदि जहाँगीरको मिलते, तो उनका अधिक-से-अधिक मूल्य देकर वह उन्हे अपने सग्रहमे रख लेता। मेरे सग्रहमे ईरानी चित्रो-वाली एक फारसी-प्रति है, जिसपर जहाँगीरकी विशाल राजमुद्रा अकित है। यह पुस्तक जहाँगीरके कुतुबखानेकी है, ऐसा उल्लेख है। इसमे महाकवि **जामीका** चित्र भव्य और भावपूर्ण है। इनकी रेखाओपर मैं स्वय मुग्ध हूँ।

जहाँगीरके दरबारी चित्रकारोमे सालिवाहन भी एक थे, जो जैन-धर्मके प्रमगोपर प्रकाश डालनेवाली दो सुन्दरतम कृतियाँ निर्मितकर अमर हो गये हैं। उनकी अन्य कृतियाँ अद्यावधि प्राप्त नही हैं। आगरेका विज्ञप्तिपत्र (स० १६६७ कार्तिक सु० २) उनकी अच्छी कृति है, जिससे तत्कालीन लोक-सस्कृतिपर समुचित प्रकाश पडता है। मुख्य चित्रोपर स्याहीसे विषय-सूचन किया गया है। सौभाग्यकी बात है कि उसमें यह उल्लेख मिला है—**उस्ताद सालिवाहन बादशाही चित्रकारने जैसे भाव अपनी आँखोसे देखे, वैसे ही उन सूक्ष्म ऊर्मियोंको अपनी मस्तिष्क-हृदययुक्त कल्पनाके सहारे तूलिकासे चित्रित किये।**

उपर्युक्त कलाकारकी एक और कृति '**धन्नाशालिभद्र चौपाई**' है, जिसका आलेखन वि० स० १६८१मे किया गया। वर्त्तमानमे वह स्व० बहादुरसिंहजीके सग्रहमे विद्यमान है। इनके अतिरिक्त मुगल-कालकी और दो कृतियाँ—सग्रहणीके कुछ चित्र एव अज्ञात कलाकार द्वारा अकित 'आकाश-पुरुष' चित्र—उपलब्ध हुई हैं। मध्य-प्रान्त और बरारके हिंगण-घाट और नागपुरके ज्ञान-भण्डारोमे भी १२से अधिक चित्रित प्रतियाँ मिलती हैं। उनमे लेखन-सवत् भी दिये गये हैं। मैंने उनके विषयमें

कुछ नोट्स लिए थे, जिन्हे एक प्रतिष्ठित विद्वानने गायब कर दिया, अत. मैं उनपर अधिक क्या लिख सकता हूँ। जैनाश्रित कलाओंके कई ऐसे नमूने भी मिलते हैं, जो हैं तो सचित्र, पर लेखन-काल-सूचक सवतादि न होनेसे कला द्वारा ही उनका समय निश्चित किया जा सकता है। मुगल-कलापर डा० **आनन्दकुमारस्वामी**, मि० **मेहता**, **ओ० सी० गांगुली**-जैसे कलाकार विद्वान् पर्याप्त प्रकाश डाल चुके है, अत. उसपर अधिक लिखना पिष्टपेषण करना है।

जिस प्रकार शिल्प व चित्रकलामे तात्कालिक समाजका प्रतिबिम्ब पडता है, ठीक उसी प्रकार साहित्यमें भी। इन तीनोंके समुचित अध्ययन-अन्वेषणपर ही हमारी सस्कृति निखरती है। जिस कालकी चित्रकलाका मैं यहाँ उल्लेख कर रहा हूँ, वह काल मुगलकलाका स्वर्णयुग था। उस समयके चित्र तो उपलब्ध होते ही है, पर तत्कालीन अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न विद्वद्रत्न मुनि **श्रीसमयसुन्दरजी** उपाध्यायजीने **"मृगावती चौपाई"** (रचना काल स० १६६८, मुलतान) मे, उस समयके चित्रकारका उल्लेख करते हुए, तात्कालिक प्रसिद्ध चित्रोंके विषयोका मार्मिक वर्णन किया[1] है, इससे लोकरुचिका आभास मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे भी यह वर्णन उपयोगी है। ऐसा सजीव प्रतिबिम्ब अन्यत्र कम मिलता है।

चित्रकारने जो चित्र अकित किये हैं—उनमेसे कुछेकका विषय यह है—रक्तमुख और चुची आँखवाले, मस्तकपर बडी-बडी पगडीवाले तीर-दाज़ मुगल, काबुली, कृष्णवर्ण हब्सी, पाडुवर्ण पठान, कुरान पढते हुए वयोवृद्ध मुल्ले-काज़ीके अतिरिक्त बडे-बडे टोप मस्तकपर और पैरोमे बोरोके समान सूथने (पटलून) पहननेवाले, छेडते ही कुपितहो जानेवाले (अग्रेज) फिरगीगण तकको कविने छोडा नही है। यद्यपि अग्रेज़-पोर्टुगिज़ो-

---

[1]आनन्द-काव्य-महोदधि, प्रस्ता० पृ० ७६।

का आगमन जहाँगीरके समयमे हुआ था[1]। उपर्युक्त पंक्तियोको मैने इसलिए उद्धृत किया कि लोकसाहित्य भी हमारे अध्ययनकी दिशा कितनी व कहाँ तक स्पष्ट करता है।

कला ऐसी वस्तु नही, जो एक ही वर्ग-विशेषकी मानसिक रुचिको परितृप्त करे। यह तो वह सरोवर है, जहाँ किसी भी श्रेणीका मानव रुच्यनुकूल तृषा शान्तकर आनन्द-विभोर हो सकता है। एक वस्तुमें दृष्टिभेदसे अनेक तत्त्वोके दर्शन हो सकते हैं। विभिन्न दृष्टिबिन्दुओको उपस्थित करनेमे कला ही सबसे अधिक सफल साधन है। मुगलोकी कलामें उनका वैभव भरा पड़ा है। फिर भी जैनोपर उसका कोई प्रभाव नही पडा, क्योकि उनकी कलाका वास्तविक उद्देश्य आत्म-तत्त्वकी पहचानमे सहायक होना था।

इस कालके कुछ ऐसे भी चित्र मिलते है, जिनका महत्त्व वाहनोकी दृष्टिसे विशेष है—जैसे **श्रीपालरासके** चित्र। यद्यपि ये चित्र लिखे तो गये थे केवल कथाप्रसगोको लेकर ही, पर विशिष्ट दृष्टिकोणसे इस ओर दृष्टिपात करे, तो विदित होगा कि उन दिनो सामुद्रिक यात्रा-विषयक साधान—जहाज कैसे थे, उनका ढाँचा कैसा था, रस्सी वगैरह किस प्रकार बाँधी जाती थी और उन दिनो विभिन्न उपकरणोको किन-किन नामोसे पुकारते थे—आदि अनेक आवश्यक विषयोका परिज्ञान सूचित चित्रोसे होता है। ये चित्र भी जहाजके ही है। वैज्ञानिक और कलाकार यदि इन विषयोपर अन्वेषण करें, तो सम्भवत कुछ नई जानकारी प्राप्त हो सकती है। जैन-साहित्यमे ऐसे पद्यात्मक गीत भी जैन-मुनियो द्वारा रचे गए हैं जिनमे उन दिनो समुद्रकी यात्रा करनेवाले सभी प्रकारके जहाज और तदगीभूत समग्र उपागोका सविस्तृत वर्णन है। मुगल-कलाके बाद जैनाश्रित कलाके कुछ उदाहरण मिले है, पर वे उतने महत्त्वके नही हैं। १८वी शताब्दीमें

---

[1] स्व० मोहनलाल द० देसाई—"कविवर समयसुन्दर" पृ० ७३।

जो जगत्सेठकी स्वाध्यायपुस्तिका मिली है, वह चित्रविधानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मुगल कलमसे खूब प्रभावित है। मुझे इसके बेल-बूटे और रगवैविध्यने बहुत प्रभावित किया। प्रथम पृष्ठ खोलते ही तबियत फडक उठती है। गगाका प्रवाह मदगतिसे बह रहा है और लक्ष्मी उसमेसे निकल रही है। निम्न भागमे लघुलक्ष्मीस्तोत्र लिखा है, जिसका **जगत्सेठ** प्रतिदिन पाठ किया करते थे। इसमे समवशरणका भी सुन्दर चित्र है। इसकी लिपि जैनमोडकी है, पर चित्रकार मुगल जान पडता है। 'कुरान' और 'हदीस'मे जैसे बेलोमे कुछ पक्तियाँ लिखी रहती है ठीक वही स्थिति यहाँ है।

श्रीमद्**देवचन्दजी** कृत **'स्नात्रपूजा'की** सचित्र प्रतिकी एक प्रति मेरे अवलोकनमे आई थी जो है तो १९वी शतीकी पर सौन्दर्य मे कम नही।[1] इसी आकारके कई चित्र **बनारस, कलकत्ता**[2] और जैनउपाश्रयोमे पाये जाते है। इनपर हमारा ध्यान बहुत कम गया है।

प्रतिमा-चित्र

अपभ्रशशैलीमे ग्रन्थस्थ चित्रकला विकसित हुई, और राजपूत व मुगल कलममे ग्रन्थस्थ चित्रोके साथ प्रतिमा चित्र भी खूब बने। जैनोका योग सापेक्षत अधिक रहा है। इस प्रकारको, अध्ययनकी सुविधाओके खयालसे तीन भागोमे विभक्त करना समुचित प्रतीत होता है। प्रथम भाग-मे वे चित्र आते है, जिनका सम्बन्ध तीर्थकरोके जीवनकी विशिष्ट घटनाओसे है। ऐसे चित्र जैनमन्दिरोमे व श्रीमन्त गृहस्थोके घरोमे अकित रहते है। प्रतिदिन दर्शनार्थ चतुर्विंशतियाँ भी पर्याप्त मिलती है। इनकी सख्या

---

[1] मुनि कान्तिसागर—"श्रीमद् देवचन्द और उनकी स्नात्रपूजा" श्री-जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ७ अ० १०, पृ० ४९३-९७।

[2] मुनि कान्तिसागर—"कलकत्ता जैनमन्दिरोंमें चित्रकलाकी सामग्री'।'

हजारोंपर[1] जाती हैं। एक दर्जनसे अधिक तो लेखकके ही संग्रहमे हैं। दूसरे भागमें आचार्य व मुनिगणके चित्र आते है। इनमे कभी उनके कार्योंपर प्रकाश डालनेवाला ऐतिहासिक प्रसग मिल जाता है। वैसे आचार्योंके स्वतन्त्र चित्र, व्याख्यान सभा आदि प्रसगोंको लिये रहते है। ऐसे चित्रोमे **श्रीजिनदत्तसूरिजीके** चित्र अधिक मिलते है। तीसरी कोटि है, ऋतु-चित्रोकी। नेमि और राजुल, स्थूलभद्र और कोशाके प्रसगोको लेकर जैन-कवियोने 'बारहमासा' साहित्यकी सुन्दर सृष्टि की है। इसमें बारहों मासोका मार्मिक वर्णनके बाद अन्तमे शान्तरसका परिपाक होता है। लौकिकस्थितिके वास्तविक और हृदयस्पर्शी वर्णनके बाद कवि अलौकिक जगत्की ओर बढ जाता है। यह साहित्य यो तो अधिकतर प्रान्तीय भाषाओमे पाया जाता है, पर कुछ तो सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश-भाषाओमे भी मिले हैं। रागमालाओपर भी जैन-कविकी सफल लेखिनी चल पडी। अत रागमाला व ऋतुचित्रोका सृजन भी खूब हुआ। ऐसी कृतियोपर अद्यावधि समुचित प्रकाश नही पड सका है।

भौगोलिक व संयोजना चित्र

जैनोका भौगोलिक साहित्य भी विशाल है। प्रत्यक्ष जगत्मे विश्वास करनेवालोके लिए जैनभूगोल एक समस्या है। इस अतिगभीर व क्लिष्ट विषयपर जैनाचार्योंने अपने विचार तो व्यक्त किये ही है, साथ ही इसे

---

[1] **जैनसमाजमें भक्तामर और कल्याणमंदिर स्तोत्रोंका व्यापक प्रचार है। इनके प्रत्येक श्लोकके गंभीर भावोंको स्पष्ट करनेवाले प्रतिमा चित्रोंके एल्बम प्राप्त है। बाबू पूर्णचन्द नाहर व "रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल"के हस्तलिखित ग्रन्थ संग्रहोंमें ऐसे सुन्दर २ एल्बम इन पंक्तियोंके लेखकने देखे है। आध्यात्मिक शान्ति इस प्रकारके चित्रोंकी विशेषता है।**

अधिक स्पष्ट करनेके लिए चित्र-सृष्टि भी की है। **त्रैलोक्यदीपिका बृहत्संग्रहणीके** कई चित्र उपलब्ध हुए है। इनमेसे जो मुगल कालीन है, वे तो बहुत ही सुन्दर व मूल्यवान् है। इनमेसे कतिपय चित्र "श्रीजैनचित्र-कल्पद्रुम"मे प्रकट हुए हैं।

सयोजना चित्रोका प्रचार राजस्थानी शैलीके पूर्व हो चुका था। इनमे कही तो कई पशुओकी आकृतियोसे एक पशु बनाया जाता था। कही-कही एक जातके प्राणीके शरीर पृथक रहते थे पर मस्तक एक ही रहता है। इस प्रकारकी शैलीका आभास कामशास्त्रादि पुरातन ग्रन्थोसे मिलता है, पर मुगल कालमे तो यह प्रचार सार्वत्रिक था। तात्कालिक साहित्यिकोने भी रचनाके प्रकारोका निर्देश किया है। सयोजन दोनो प्रकारके होते थे, सजातीय और विजातीय। प्राचीन शिल्प पद्धतिमे भी विजातीय सयोजना जनित कुजरका पता चलता है। **स्व० राखालदास बनरजीने** अपने **ओरिसाके इतिहासमें**[1] ऐसे शिल्पका उल्लेख किया

---

[1] "On the wooden door of temple at Borea, the district of Ranchi, is carved the figure of a mythical animal which is called nabagurjara in Orissa. Its body is composed of the limbs of nine animals: viz. the elephant, bull, snake, peacock etc. In the Oriya Mahabharat of Saral Das (16th century) it is said that Krishna once appeared to Arjuna in that form. The figure of the nabagurjara is not to be found anywhere outside Orissa. It is of such a complex nature that we cannot think of its having been inverted independently by the artist of Borea. It is therefore probable that some artist familiar with recent mythological

है, जो राची ज़िलेके "बोरिया"के मदिरके द्वारपर उत्कीर्णित है। इन पक्तियोका लेखक इस कृतिको देख चुका है।

उपर्युक्त पक्तियोमे जैनाश्रित चित्रकला और उसके प्रकारोका सामान्य परिचय मिल जाता है। मैंने जानबूझकर मुगलकालके बादके, उन भित्तिचित्रोका उल्लेख नही किया, जो जैन श्रीमतोके भवनो व उपाश्रयोमे, अकित है। उनका कालकी दृष्टिसे कुछ महत्त्व तो है ही, पर एतदर्थ स्वतत्र निबन्ध अपेक्षित है। एक उदाहरण दूँगा। जैसलमेरके पटवोके पाँचो महलोमे, जो चित्र अकित किये गये है, उनका महत्त्व है। मानव-जीवनसे लगाकर मृत्युतककी सभी अवस्थाएँ बताई गई है। कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ भी है। दीवालो व छतोपर ये चित्र चित्रित है।

श्रमण भगवान् महावीर—एल्बम,

प्राचीन चित्रोमे अधिकतर 'कल्पसूत्र' और 'कालककथा'से सम्बद्ध है। यहाँपर मै एक ऐसे एल्बमका उल्लेख करने जा रहा हूँ, जिसके चित्र है तो नवीन, पर भारतीय चित्रकलाकी दृष्टिसे उनका अपना विशेष महत्त्व है। नवीन होकर भी प्राचीन सास्कृतिक व उत्प्रेरक भावनाके सम्मिश्रणसे युक्त है। इनके निर्माणमें कलाकारने जो श्रम किया है, जैसा गभीर अध्ययन किया है, इसे शब्दोमे व्यक्त करना मुश्किल है।

बम्बईके कलाकार **श्रीगोकुलदास कापड़ियाने** भगवान् महावीरके जीवनमेंसे, जन्मसे दीक्षा तकके १५ प्रसगोका सफल चित्रण किया है। मुख्य आधार 'कल्पसूत्र'का लिया है। ये चित्र केवल धार्मिक होनेसे ही

---

figures of Orissa must have carved it upon the wooden door of the Borea temple."

"History of Orissa," Vol. II, (1934) by *R. D. Banerji*; preface. XVII.

समाहृत नही हुए, जैसा कि अक्सर होता है, पर इसमे अजंतासे लगाकर आज तककी शैलियोका सामजस्य है। कलाकारने भगवान् महावीरके जन्म और विहार स्थानोमे स्वय जाकर वहाँके तात्कालिक उपलब्ध शिल्पात्मक प्रतीकोंका दत्तचित्तसे अध्ययन किया है, बादमे तूलिका और रगो द्वारा महावीरके अलौकिक व्यक्तित्वका आभास कराया है। प्रेक्षकके सम्मुख यदि मूल चित्र रख दिये जायँ और चित्रकाल न बताया जाय तो, एक बार तो अन्तरकी ध्वनि उठेगी ही कि ये चित्र बहुत प्राचीन है। शरीररचना, वेशभूषा, गृह-स्थापत्य और मुकुट पुरातन परम्पराके द्योतक है। मुखाकृतियाँ अजताका सुस्मरण कराती है। इन सब बातोके बाद एक बातका स्मरण दिला दूँ कि चित्रकार स्वय जन्मसे अजैन है। पर वीर प्रभूके देशमे जब (रामगढ कांग्रेसमे) गये, वहाँका सास्कृतिक इतिहास पढा, तब भगवान् महावीरकी ओर आकृष्ट हुए और बिना किसी स्वार्थके, स्वाभाविक प्रेरणासे—स्वान्त सुखाय—इसका निर्माण किया।

जैन-चित्रोंका प्रदर्शन व प्रकाशन

पिछली शताब्दीमे भारतके सभी प्रान्तोमे ऐसी सकीर्णता छाई हुई थी कि एक सम्प्रदायका व्यक्ति दूसरे सम्प्रदायके अनुयायीको अपने ग्रन्थ-भडार नहीं बताते थे। इससे अभारतीय विद्वानोको भारतीय विद्याके अन्वेषणमे बडी बाधाएँ आती थी। विलियम जॉन्सको सस्कृत पढ़नेमें कितनी कठिनाई उठानी पडी। डा० बूलर और डा० जेकॉबी जैसोको भी प्रारभ कालमे बडे-बडे कष्टोका सामना करना पडा था। ऐसी स्थितिमे पुरातन चित्रोका दर्शन तो और भ। दुर्लभ था। अन्वेषकोको उचित सामग्री न मिलनेके कारण ही बहुत-सी भ्रान्तियाँ फैल गई थी, जिनको दुरुस्त करनेमे बहुत समय लगा। स्वर्गीय विद्वान् डा० **काशीप्रसादजी जायसवालने** लिखा है कि—"**लम्बी नाक और विकट कटाव गढ़नेवाले रूपदर्शी**

चित्र कुछ जैनग्रन्थोंमें मिले हैं, पर वे कबीर साहबके युगके पहलेके नहीं[1]।"

आज यदि स्व० जायसवालजी रहते तो अपना मत स्वय बदल देते। अस्तु।

धीरे-धीरे सकीर्णता दूर होती गई और लोगोने इन धार्मिक चित्रोंका महत्त्व समझा। इसीके फलस्वरूप स० १९८७मे, '**देशविरति आराधक समाज**'के कार्यकर्ताओने अहमदाबादमे जैनलिखित कलाओकी एक विशाल प्रदर्शनीका आयोजन किया था। उसमे जैनग्रन्थ-चित्र, वस्त्र-चित्रके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हजारो प्रतीक रखे गये थे, मानो सैकडो वर्षोंके कैदियोको अवकाश मिला हो! यो तो यह प्रदर्शन धार्मिक भावनासे प्रेरित था, पर कलाप्रेमियो तथा रग और रेखाओकी गूढ भाषाको समझनेवाले सहृदयोके लिए तो उत्तम कलातीर्थ ही बन गया था। उनको इनसे बल मिला, प्रेरणा मिली, और अनिर्वचनीय आनन्द-लाभ हुआ। क्या ही अच्छा हो, यदि प्रतिवर्ष ऐसे जंगम तीर्थोंकी रचना हुआ करे, जहाँ तद्विषयक यात्री अपना मानसिक बोझ हल्का कर, नूतन भावनाओसे अनुप्राणित होकर नवसर्जन करनेको सक्षम हो। इस प्रदर्शनीपर मुग्ध होकर सुप्रसिद्ध कलासमीक्षक **श्रीरसिकलाल भाई** परीखने अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किये है—**"सचमुच यह दर्शन बड़ा मोहक था। सर्वोत्कृष्ट आकर्षण तो यह था कि अक्षर-अक्षरपर कलादेवीका वास था। दूसरे अर्थमें मानो कला अक्षर मालूम पड़ती थी। लिपि इतनी ताजी थी मानों कल ही किसीने लिखी हो[2]।**

मेरा निजी विश्वास है कि इस प्रदर्शनने जैनाश्रित कलाकृतियोके गवेषणाका क्रान्तिकारी श्रीगणेश किया, और व्यवस्थापकोको अनुभव

---

[1] **द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३१।**

[2] **मोहनलाल देसाई—'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास'।**

कराया कि, हमारे पूर्वजो द्वारा प्रदत्त कलात्मक सम्पत्तिको छिपानेकी अपेक्षा, प्रकाशित करनेमे अधिक लाभ व जैन संस्कृतिकी सच्ची सेवा है। इसी प्रदर्शनीका सुफल है कि **श्रीसाराभाई मणिलाल नवाब** जैसा रूपचित्र और शिल्पका विद्वान्, तैयार हुआ। मुझे लिखने प्रसन्नता हो रही है कि आज जैनाश्रित चित्र व शिल्पकलाके जितने भी अत्युच्च प्रतीक प्रकाशमे आये है, उनका पूरा-पूरा यश **श्रीनवाबको** है। इन्होने अपने तन तोड श्रमसे न केवल कोने-कोनेकी खाक छानकर कलाकृतियोकी गवेषणा ही की, अपितु उनके, उसी रूपमे ब्लाक बनाकर, उनपर स्वय व एतद्विषयक विद्वद्वर्गके पास समीक्षात्मक विवरण लिख-लिखवाकर, प्रकाशन भी किया, बल्कि नवीन परम्पराका सूत्रपात किया। इनका प्रारंभिक प्रकाशन **श्रीजैनचित्रकल्पद्रुमने** विद्वान् मडलीमे तहलका मचा दिया, उनको उससे ज्ञात हुआ कि जैनोने कलाकी उपासना भी दिल खोलकर की थी। उसके बाद नवाबने अनेक मौलिक प्रकाशन कर शताब्दियोसे बन्द सामग्रीसे परिचित कराया और भारतीय चित्रकलाके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्यायका सुनहला पृष्ठ सदाके लिए खोल दिया।

जैनाश्रित कलाके कतिपय मौलिक प्रकाशन इस प्रकार है—

सं०	ग्रन्थनाम	प्रकाशक
१	**जैनचित्रकल्पद्रुम,**	**साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद**
२	**सचित्रकल्पसूत्र,**	,, ,, ,, ,,
३	**जैनचित्रकल्पलता**	,, ,, ,, ,,
४	**महाप्रभाविक नवस्मरण,**	,, ,, ,, ,,
५	**पवित्रकल्पसूत्र (कई भागोमें)**	,, ,, ,, ,,
६	**पेंटिंग वर्क ऑफ जैनकल्यासूत्र**	

सं० विलियम नॉर्मन ब्राउन, पेन्सिल्वेनिया, अमेरिका

७	स्टोरी ऑफ़ कालक,	,, ,, ,, ,, ,,
८	मि० पें० आ० उत्तराध्ययनसूत्र,	,, ,, ,,
९	मि० पें० आ० महीपाल कथा	,, ,, ,, ,,
१०	श्रीकल्पसूत्र बारसा,	आगमोदय समिति, सूरत,
११	जैसलमेरनी चित्रसमृद्धि सं० मुनि पुण्यविजयजी	साराभाई मणिलाल नवाब
१२	दि आर्ट ऑफ जैसलमेर	,, ,, ,,
१३	जैन मिनिएचर पैंटिंग्स फ्राम वेस्टर्न इंडिया,	,, ,, ,,
१४	सूरिमंत्रकल्पसंग्रह	,, ,, ,,
१५	कालककथाओ	,, ,, ,,
१६	एन्दयन्टविज्ञप्तिपत्राज,	गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज़ बड़ौदा

इन ग्रन्थोके अतिरिक्त "इंडियन आर्ट एण्ड इण्डस्ट्री", "इस्टर्न आर्ट" "जर्नल ऑफ इंडियन आर्ट" "रूपम", "इंडियन आर्ट एण्ड लेटर्स", "सोसायटी ऑफ दि ओरियण्टल आर्ट"के जर्नल्स तथा श्रीकुमारस्वामी रचित बोस्टन म्यूजियम (अमेरिका) के सूचीपत्रोंमें, प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ व जैनमासिकपत्रोमें, ऑरियंटल कॉन्फरेंस, एवं प्रान्तीय साहित्य परिषदोंके प्रकाशनोंमें जैनचित्रकलाका समीक्षात्मक अध्ययन व प्रतीक उपलब्ध होते हैं।

जैनाश्रित चित्रकलाकी जितनी सामग्री प्रकाशमे आई उससे अधिक तो अभी पश्चिम भारतके ज्ञान मंदिरोमे है। कुछ भाग तो भाँग और गाँजेके उपासक यतियोने पानीके मोल बेचकर नष्ट कर दी। जो अवशिष्ट है, वह भी यदि हम सँभाल सके तो काफी है।[1] विदेशोमे भी जैनकलाकृतियो-

---

[1]इस निबन्धके लेखनमें "जैनचित्रकल्पद्रुम"से बहुत सहायता ली गई है, तदर्थ श्रीयुत साराभाईका मे आभार मानता हूँ।

के सग्रह पाये जाते है । उनमे ये सग्रह-स्थान मुख्य हैं—"ब्रिटिश म्यूजियम", "इडिया ग्राफिस लायब्रेरी", "रायल एशियाटिक सोसायटीकी लायब्रेरी", "बॉडलियन लायब्रेरी", "केम्ब्रिज युनि० लायब्रेरी", "बर्लिनका "स्टेट्स बिब्लिग्रोथेक", बोस्टन म्यूजियम", फ्रीग्रर गेलेरी ग्राफ ग्रार्ट" (वाशिंग्टन) "मेट्रॉपालिटन म्युजियम" (न्यूयार्क), "डेट्राइटका ग्रार्ट म्यूजियम", ग्रादि ग्रादि। विदेशके लक्ष्मीनन्दनोके व्यक्तिगत सग्रहोमे भी चित्र मिलते है। भारतके जैन-सग्रहालयोके ग्रतिरिक्त, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास, लखनऊ, ग्रजमेर, बनारस, पटना, जयपुर, बीकानेर, बडौदा ग्रौर पूना ग्रादिके व्यक्तिगत ग्रौर सार्वजनिक म्यूजियममे भी पर्याप्त चित्र उपलब्ध होते हैं।

२० जुलाई १९५२

बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकला

भगवान् बुद्ध यद्यपि दार्शनिक दृष्टिसे कुछ पश्चात् पाद अवश्य ही जान पडते है, परन्तु सामाजिक दृष्टिसे उनका उपदेश निस्सन्देह मूल्यवान् है। उन्होने एक ऐसे सिद्धान्तकी रचना की थी, जिसकी परम्परा युगो तक मानवताकी सेवा करती रही। इसी कारण बौद्धधर्म विस्तृत रूपमे फैला हुआ है। इसका राजनैतिक या धार्मिक कारण चाहे जैसा भी हो, हमे उसका विवेचन अभीष्ट नही। हम तो केवल कलाकी दृष्टिसे ही इसपर अति सक्षिप्त रूपमे अपने विचार उपस्थित करेगे। ससारका यह नियम है कि प्रत्येक वस्तु यदि सौन्दर्य सम्पन्न न हो तो मानव उसे तत्क्षण ग्रहण नही करता। अलक्षित लोकसे सम्बन्धित धर्म-जैसी भावनाओका विकास भी पार्थिव पदार्थोके द्वारा होने लगा। अर्थात् कलाके द्वारा जनता-की धार्मिक भावना स्थिर होने लगी। यद्यपि बौद्ध-कलाका पूर्ण इतिहास स्पष्टत अद्यावधि हमारे सम्मुख नही आया। यहाँपर एक बात स्पष्ट कर दे कि सम्प्रदायकी अपेक्षा कलाका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जब कला-का सीधा सम्बन्ध पार्थिव द्रव्योसे है, तब हम उसे मानव-जगत और इससे भी सकुचित सम्प्रदाय-जैसे बाडेमे कैसे आबद्ध रख सकते है? कलाकी व्यापकता स्वत सिद्ध है, अत यदि हम जैन-कला, बौद्ध-कला और ब्राह्मण-कला आदि अनेक उपभेदोमे कलाको बाँटने लगेगे तो वह एक प्रकारसे कलाके मौलिक तत्त्वोकी हत्या ही हो जायगी। कलामे भेदके दर्शन कुछ अग्रेज[1] विद्वानोने किये थे, पर बादमे उनका निरसन डा० कुमारस्वामी

---

[1] हिस्ट्री आफ़ इंडियन एन्ड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १०६, एन्ड अदर एन्टीक्विटीज़ आफ़ मथुरा, भू० पृ० ६

आदि विद्वानोने किया। यहाँपर हम बौद्धोद्वारा निर्मापित कलाके प्रतीकोको ही बौद्धकलाके नामसे पुकारेंगे। यह मानी हुई बात है कि एक राष्ट्रके सम्मुख यदि कोई दूसरा राष्ट्र समादृत होता है, तो वह केवल कलाके द्वारा ही। इसलिए कला और कलाकारोका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है, वे अपनेको एक देशकी परिधिमें सीमित नही रख सकते। कलाके द्वारा प्रसारित सिद्धान्त, न केवल जीवनके सौन्दर्यको ही व्यक्त करते हैं, अपितु वे क्रमश स्थायित्वकी कोटिमें आकर युगोतक मानव-जातिको अपनी ओर खीचे रहते हैं। भौतिक दृष्टिसे तो यह स्वीकार करना ही होगा कि कलाके द्वारा ही मानव-सस्कृति सुदीर्घ कालसे जीवित है।

साहित्यके क्षेत्रमे कलाको लेकर कम विवाद नही है। कला किसके लिए होनी चाहिए ? क्यो होनी चाहिए ? आदि ऐसे ही कुछ और भी प्रश्न हैं। परन्तु जहाँ तक हम समझते हैं, इन प्रश्नोकी विवेचना एव मीमासा उन्ही लोगोके लिए विशेषकर लाभदायक सिद्ध हो सकती है, जो केवल काल्पनिक ससारमे विचरण करते हो, या कोरे बुद्धिजीवी हो। परन्तु बुद्धकालीन भारतमे जटिल प्रश्न था उस जनताका जो पीडित, शोषित एव सामन्त वर्गकी दृष्टिसे पतित समझी जाती थी। कलाके माध्यमद्वारा उनको अपनी स्थितिका वास्तविक दर्शन कराना था।

जैन आर्ट इन दि नार्थ, पृ० २४७
स्टडीज इन इडिया दि नार्थ, पृ० २४७
स्टटीज इन इंडिन पेंटिग, पृ० १-२
इंडियन पेंटिग्ज, पृ० ३८
हिस्ट्री आफ इंडियन आर्किटेक्चर, आदि ग्रन्थ इस विषयमें द्रष्टव्य हैं।

व्यापकता

बुद्धदेवके पश्चानुवर्ती अनुयायियोंने **जावा, सुमात्रा, बर्मा, कम्बोडिया और चीन** आदि महाखंडोंमें परिभ्रमण कर कलाके द्वारा बौद्ध संस्कृतिको न केवल जीवित ही किया, अपितु उन प्रस्तरों द्वारा संस्कृतिमें चिर-जीवन प्रदान किया, जो प्राचीन होते हुए भी आज हमें नवीनतम भावनाओंसे अनुप्राणित करती हैं। प्रस्तरोत्कीर्णित अवशेष यद्यपि बौद्ध संस्कृतिके विभिन्न तत्त्वोंके रहस्यका ही उद्घाटन करते हैं, तथापि उनमें उन राष्ट्रोंके जन-जीवनका प्रतिबिम्ब भी दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि जहाँपर आज बौद्धधर्म जीवित नहीं है, वहाँपर भी उसके अवशेष विपुलतम परिमाणमें उपलब्ध होते हैं।

कलाकार

मानवताका विकास कलाद्वारा ही होता है। अभी तक हम मानते आये हैं कि कला तो उन्हीं लोगोंके जीवन-सूत्रसे सम्बन्धित हो सकती है, जो धनवान हो, पर प्राचीन साहित्य और कलाके विशृंखलित तत्त्वोंके अनुशीलनसे स्पष्ट हो गया है कि जहाँपर भाव है, वहीँपर कलाका निवास है, हाँ कहीं विकसित हो सकी है, कहीं नहीं। एक समय था और अब भी है, एशियाके लोगोंका सामाजिक विकास, रहन-सहन भिन्न होते हुए भी कलाकी दृष्टिसे वे एक ही सूत्रमें युगोंसे बँधे हुए हैं। कला, परिष्कृत मस्तिष्ककी अपेक्षा हृदयको आकर्षित करती है। कला तत्त्वके, वर्ग-भेदके प्रभावसे प्रभावित आलोचकोंने यही बताया कि चित्र, शिल्पादिका निर्माण ही कलाको सजीव बनानेके उपाय हैं, जो लक्ष्मीके बिना असम्भव है। पर युग बदल रहा है, प्रत्येक मानव कलात्मक जीवन-यापन कर सकता है और अपनी अपनी आवश्यकताओंके अनुसार उपकरण भी चुन सकता है। कला व्यक्तिमूलक नहीं, समाजमूलक है। मानव-जातिमें जब-जब हृदय और मानस परिपूर्ण विकासकी चोटीपर पहुँचे तब-तब

कलामें अमर कृतियाँ सृजित हुई, मानव-जीवनका या इतिहासका कोई भी प्रसग तब ही मूल्यवान् हो सकता है, जब कलाके द्वारा उसका अवतार हो, उपर्युक्त पक्तियोका बौद्ध-सस्कृतिमें हम साकार रूप पाते है। इन्हीके बलपर बौद्धोने मानव-जीवनमे भारी उत्क्राति की, परिवर्तन किये और आध्यात्मिक भावोके सर्जनके साथ भौतिक या समाजसे सम्बन्धित तत्त्वोकी रक्षा की। हम प्रस्तुत निबन्धमे बौद्ध-धर्मसे सम्बन्धित चित्रोकी परम्परा-पर अपने विचार व्यक्त करेगे। हम यहाँ कह दे कि एतद्विषयक हमारा ज्ञान सीमित है।

यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बौद्ध चित्रकलाका इतिहास किस कालसे प्रारम्भ किया जाय। प्रश्न कुछ कठिन अवश्य है, पर रोचक भी कम नही। इस प्रश्नपर विचार करनेके पूर्व हम एक बातपर अपने विचार स्पष्ट कर दे कि कलाका जहाँतक प्रश्न है, चाहे वह चित्र हो या शिल्प उसका निर्माण कलाकार करता है। जिसप्रकार एक काव्यकी रचनाके लिए हमे विश्व-तत्त्वका सर्वागीण ज्ञान होना आवश्यक है, बल्कि सारे विषयको आत्मसात् करना पडता है। उसी प्रकार कलाकारको जिन भावोका अकन करना हो, उन्हे वह काफी सोचनेके बाद हृदयगम कर लेना पडता है। हाँ, अभिव्यक्तिके उपकरण भिन्न हो सकते है, पर भाव-भिन्नता नही। कोई कलाकार अपनी भावधाराका माध्यम प्रस्तरको ही मानकर छैनीसे काम लेता है तो कोई **काष्ठ, कागज, तालपत्र, या चर्म** आदिपर तूलिकासे रेखाओंके द्वारा अपनी मानसिक चिन्ताओको अभि-व्यक्त कर आनन्दित हो उठता है। क्योकि कलाकारकी भाषा और लिपि एक प्रान्त या देशसे सम्बन्धित न होकर, विश्वसे जुडी हुई होती है। वह विश्व-लिपिमे ही लिखना पसद करता है।

बौद्ध-चित्रोके सर्वांगपूर्ण कलात्मक प्रतीक ही भारतीय चित्रकलाके श्रेष्ठ प्रतिनिधि है। परन्तु उनकी कला एव सार्वभौमिक उपयोगितापर प्रकाश डालनेवाले आलोचनात्मक ग्रन्थ अधिकतर विदेशी भाषाओमें

ही उपलब्ध है। भारतीय भाषाओंमें एतद्विषयक साहित्यका एक प्रकारसे अभाव-सा है। यद्यपि अजन्ता, बाघ आदि कुछ गुफाओंके भित्तिचित्रोंपर प्रकाश डालनेवाले लघुतम ग्रन्थ गुजराती व मराठी भाषाओंमें है, एव कभी-कभी सामयिक पत्रोमे भी निबन्ध निकला करते है। परन्तु कलाकी गम्भीर क्षुधा सीमित साधनोसे पूर्ण नही की जा सकती। साथ ही साथ उनमे किसी प्रधान विषयका विशेष विश्लेषण भी नही रहता। अब स्वतन्त्र भारतमे इतनी विशाल सास्कृतिक सम्पत्तिका समुचित उपयोग एव मूल्याकन होना चाहिए। उनकी कलात्मक अभिव्यक्तिको प्रकाशमे लाकर जनसाधारण समझ सके, ऐसी बोधगम्य भाषामे कृतियोका प्रकाशन अत्यन्त वाछनीय है। आज भी विदेशी दृष्टिकोणसे लिखित साहित्यको ही हम अपना पथ-प्रदर्शक मानते रहेगे तो, सभव है अवशिष्ट सामग्रीसे भी हम लाभान्वित न हो सकेगे।

भित्तिचित्र-परम्परा

बौद्ध-धर्ममूलक चित्रकलाका विकास पाषाणोपर ही हुआ है। पुरातन कालीन जो भी चित्रकलाके प्रतीक उपलब्ध हुए है, वे भी इसी कोटिमे आ जाते है। आदि मानवोने अपने जीवनके विशिष्ट प्रसग या प्रिय अथवा खाद्य पशुओका चित्रण, तथा कही कही प्रकृतिगत सौन्दर्यको भद्दी रेखाओमे लपेटनेके प्रयास किये थे। भले ही उन चित्रोमे वर्तमान कला-समीक्षकों-की दृष्टिसे कलाके मौलिक तत्त्व दृष्टिगोचर न होते हो, परन्तु नृतत्त्व-शास्त्रके तत्त्वोको ध्यानमे रखकर यदि गम्भीरतासे विचार किया जाय तो प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि अरण्यवासी मानवने बाह्य सौन्दर्य या अलकरण रहित चित्रोमे अपने हृदयके भाव रख दिये है।

मध्यप्रान्तमे उपर्युक्त कोटिके बहुसख्यक चित्र चट्टानोपर प्राप्त हुए है जो गिरि-कन्दराओमे अरक्षित दशामे पडे है। कलाकारोका उसपर ध्यान न जानेका यही कारण मालूम देता है कि वे चट्टाने, आवागमनके मार्गसे, पर्याप्त

दूर है, विक्रमखोल, सिंहनपुर,[1] नावागढ़,[2] कबरपुर,[3] लिखुनिया,[4] भलद-

[1]रायगढ़के निकट नहरपाली (B. N. R.) स्टेशनसे उत्तर ५ मीलपर सिंहनपुर-ग्राम अवस्थित है। यहाँ पर्वतोंकी चट्टानोंपर चित्रकारी है। इस पर्वतश्रेणीका नाम "बॅवरढाल" है। यहाँ पुरातन गुफा-गृह भी है। यहाँके चित्रोंसे जानपदीय तो पूर्णतः परिचित थे, पर उन्हें क्या पता कि हमारे प्राचीन इतिहास और संस्कृतिकी दृष्टिसे इनका महत्त्व सर्वोपरि है। ये चित्र आदिम मानव कालीन सभ्यतापर अच्छा प्रकाश डालते हैं। बडी मुसीबतकी बात तो यह है कि यहाँ मधुमक्षिकाओंका इतना बाहुल्य है कि देखते समय थोड़ी भी असावधानी रही तो फिर प्राण बचना ही असंभव है। इंग्लैंडके एक पोप ऐसे ही जान दे चुके हैं। आदिमवासियोंकी आखेटचर्य्याका आभास इन चित्रोंसे मिलता है। शूकर, घोड़े, कंगारू, छिपकली ये भी अंकित हैं। चित्रित भाव परम्परासे यह ज्ञात होता है कि इनका काल ५०००० वर्ष पूर्व है।

[2]रायगढ़के नवागढ़ नामक स्थानमें गेरूसे रंगा मानवपंजा है। निकट ही गोलवृत्त है।

[3]कबरपुरमें यद्यपि पुरातन चट्टान चित्रकारीके प्रतीक उपलब्ध नहीं हुए पर इसमें सन्देह नहीं कि वह स्थान बहुत प्राचीन है। पूर्व प्रस्तर युगके पाषाणके विभिन्न प्रकारके औजार कबरपुरके निकटवर्ती स्थानोंमें मिला करते हैं।

[4]यहाँकी चट्टानपर तीन चित्र हैं। ऊपर भागमें हाथी और घुड़सवारोंके-चित्र हैं। सम्भवतः यह "हाथीखेदा" या किसी जंगली हाथीका पालतू हाथी और घुड़सवारोंकी सहायतासे पकड़नेका दृश्य है।

इसके नीचे पक्षियोंको जाल द्वारा पकड़नेका दृश्य दिखाया गया है। बाईं ओर एक गजारोही व्यक्ति अंकुशसे प्रहार करता हुआ हाथीको बढ़ा रहा है। पीछेकी ओर एक अश्व अंकित है।

लखुनियाके निकट "कोहबर" नामक स्थानमें भी ये आकृतियाँ अंकित हैं—

१ दो चित्रित जंतु—कदाचित् दो भल्लूक किसी मृगपर आक्रमण कर रहे हैं।
२ दो मृगोंकी आकृतियाँ।
३ ढाल सहित एक योद्धा जो नृत्यशील है।

रिया,[1] विजयगढ़,[2] और महादेव[3] पर्वत (पंचमढ़ी) आदि स्थानोमे आदिमानव-

---

४ एक मृग, (जालबद्ध)।

५ कतिपय अज्ञात चिन्ह।

६ एक मनुष्य जो ढाल या धनुष पकड़े हुए है। वह या तो युद्ध कर रहा है, या नृत्य कर रहा है।

[1]भलदरिया नदीके ऊपर देशमें एक कुंड है। इस कुंडके निकट ही एक चट्टान है, जिसपर कई चित्र हैं। ९वीं शतीकी लिपमें एक लेख भी उत्कीर्णित हैं।

इस नदीको पार करनेपर एक पहाड़ीका चढ़ाव पड़ता है। इस पहाड़ीमें छातूके डाक बंगलेसे ३ मीलपर चित्रयुक्त चट्टान है। विवरण इस प्रकार है—

१ एक जगह चार जलपक्षी जलके भीतर खड़े हुए हैं, आगे एक वृक्ष है। नीचे दो वानरोंकी आकृतियां हैं।

२ शिकार-दृश्य—एक लघुतम सींगवाला मृग है। इसे काकवर्त-सा मानते हैं, एक मनुष्य बरछीसे हरिण मार रहा है। एक छोटा-सा मृग ऊपरकी ओर है। और भी शिकारियोंके कई चित्र हैं। एक बड़े जन्तुका पीछा कई कुत्ते कर रहे है।

३ एक बृहदाकार वाराह—यह घायल होकर पीड़ाके मारे मुख खोले हुए है। इसके चारों पैर चित्रमें दिखाये गये है। जब कि चट्टान चित्रोंमें अक्सर दो ही चरण बताये जाते हैं। पीछेकी ओर किसी प्राचीनलिपिके पाँच अक्षर हैं।

४ बारहसिंघा मृगका शिरोभाग—टेढ़े मेढ़े सींग।

भलदरिया नामक स्थानके चित्रोंमें एक घुड़सवारका चित्र है। एक हाथमें एक शस्त्र है। अन्यमें घोड़ेकी बाग, घोड़ा सरपट भाग रहा है। पास ही एक ऊँटके तुल्य जन्तुका चित्र है। उसकी पीठपर एक मनुष्य बैठा है।

[2]विजयगढ़की पहाड़ीमें जो चट्टानचित्र है, उनमेंसे एक दो लम्बी गरदनवाले हरिण या बारहसिंघा-जैसे चतुष्पद हैं। दो नराकृतियां हैं, एकको वानर माना जा सकता है। इसके हाथमें वृक्षकी एक डाली है।

[3]महादेव पर्वत (पचमढ़ी)

विदित हो कि नागपुर मारिस कालेजके प्रोफेसर डॉक्टर हंटर सा० (G. R. Hunter M.A.) एवं उनकी सुयोग्य पत्नीने भी 'च० चि०'पर एक लेखमाला अंग्रेजी भाषामें लिखी है। आपका निबन्ध लम्बनके

सभ्यता युगीन बहुसख्यक चित्र मिलते हैं। उनमेसे कुछ तो इतने प्राचीन है कि जिनकी तुलना हम स्पेनके फोगुलसे कर सकते है। इन चित्रोमे गेरू, सफेद छुही और पीले रगका व्यवहार ही अधिक हुआ है। आश्चर्य इस बातका है

Inter Congress of Pre-historians & Proto-historians के अधिवेशनमें सन् १९३२के अगस्त महीनेमें पढ़ा गया था। उस लेखका सारांश R. Anthrogical Institute के मुखपत्र Manमें छपा था। १९३३के प्रारम्भमें डा० सा०ने नागपुर वि० वि०में A. M. in the M. Hills पर एक भाषण दिया था। महादेव पर्वत (होशगाबाद जिलेमें) हो पचमढ़ीमे है। पचमढ़ी तथा उसके आसपासमें ये 'चट्टान-चित्र' हैं। उन चित्रोका सादृश्य 'सिंह'के चित्रोसे है। इन चित्रोंमेंसे एक हाथ ऊपरको उठाये हुए घुड़सवारोंके चित्रोंपरसे डाक्टर सा० अनुमान करते हैं कि ये उस जातिके लोगोकी कला है जिस जातिसे वर्तमान गोड़ो (Gonds)की उत्पत्ति हुई हैं। पचमढ़ी तथा नागपुरमें भी ऐसे पत्थर मिले हैं जिनपर हाथ उठाये घुडसवारोंके चित्र है और जिन्हे गोंड लोग पवित्र मानकर पूजते हैं। डाक्टर हण्टरके ही शब्दोंमें—

It would seem to indicate some continuity of traditions × × ×

.....Satpura plateaux to-day.

आगे चलकर डा० साहब लिखते हैं..................
In other words I conclude..................
modern Dravidians अर्थात चट्टान-चित्रोके चित्रकार जाति गोड़ोके आदि पुरुष रहे होंगे और उन्हींको वेदोंमें 'बरबर' व्याख्या दी गई है। आगे चलकर आप गेरू रगसे रगे धनुषयुक्त नराकृति (bow man) चित्रोको जो मध्यप्रदेशकी चट्टानोपर अंकित है; दक्षिण आफ्रिकाके Bushman artist की कृतियोसे मिलते-जुलते बतलाते हैं। आपके मतसे दक्षिण आफ्रिका और भारतके चट्टान-चित्रकारोंकी कला एक ही जाति One race of Inhabitantsके लोगोंकी है। इस चित्र-कलाके लिए औजार भी प्रायः एकसे रहे होंगे। हंटर सा०की पचमढ़ीके जम्बूद्वीप नामक घाटीके निकट एक नर-अस्थि-कंकाल (Skeleton) तथा पत्थरके औजार मिले हैं। वहीं चट्टानोंपर चित्र भी चित्रित हैं।

कि कुछ गुफाओंमे कलाकारोंने इतने सुन्दर ढगसे चित्रांकन किया है कि चित्रोंकी पपडियाँ खिर जानेके बाद भी चित्र ज्यो-के-त्यो बने हुए है। न जाने कितने पुट एक चित्रमे रहते होगे। वे लोग न केवल पार्थिव रंगोको ही अपने भावोको व्यक्त करनेका साधन बनाते थे, अपितु वे धातुओंका भी व्यवहार अवश्य ही छूटसे करते रहे होगे। अजन्ताके कलाकार यदि उपर्युक्त पद्धतिका अनुसरण करते तो आज जिस कलात्मक सम्पत्तिसे हमे हाथ धोना पडा वह न होता। हो सकता है, उन दिनो धातुओंका प्रयोग कलाकार भूल चुके हो।

प्रागैतिहासिक कालीन शिला-चित्रोका प्रासगिक वर्णन सस्कृतके विशाल साहित्यमे भी कही कही मिल जाता है। यहाँ कालिदासके मेघदूतकी एक पक्ति याद आ जाती है —

"त्वामालिख्य प्रणयकुपितं धातुरागैः शिलायाम्

प्रागैतिहास कालीन चट्टानोपर बिखरी हुई चित्रकलाकी शृखलाकी कडियोको जबतक एक नही कर पाते तबतक मध्यकालीन भारतीय

इनकी परीक्षा एवं तुलनात्मक अध्ययनसे डा० हटर इस सिद्धान्तपर पहुँचते हैं। यूरोप अफ्रिका और भारतवर्षमें एक समय एक ही जातिके मानव निवास करते थे जिनके आचार-विचार संस्कृति और सभ्यतामें घनिष्ट एकता थी।

The Pre-Dravidian Indian, the African Bushman, the pre-historic, Iardenosian, and the Eskimo. Inspite of the separating distances intine, latitude or longitude all belong to the same culture and possibly to the same race.

होशंगाबाद जिलेकी पहाड़ियोंमें गेरूके चट्टान चित्र पाये गये हैं। इनमें आकृतियोंमें मुख्यतः हाथी, आदि अपरिचित जन्तु हैं। ये चित्र क्रमशः ४ ई०से १०वीं शती तकके हैं।

उपर्युक्त चट्टानचित्रोंके नोट्स मुझे मध्यप्रदेशके वयोवृद्ध गवेषक श्रीलोचनप्रसादजी पांडेय द्वारा प्राप्त हुए हैं, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

चित्रकलाकी परम्परा एक प्रकारसे अपूर्ण ही रहेगी। सच पूछा जाय तो सच्ची भारतीय मानव-विकासकी परम्पराके क्रमिक इतिहासके बीज उन्ही चित्रोमे है जिन्हे हमने आजतक उपेक्षित रखा।

भित्तिचित्रोकी भारतीय परम्परा बहुत प्राचीन है। इतिहास कालकी कुछ प्रणय विषयक घटनाएँ भी तात्कालिक चित्रकलाकी व्यापकताकी ओर सकेत करती हैं। जैन-साहित्यमे ऐसे उल्लेख पर्याप्त परिमाणमे आये है। परवर्ती साहित्यकारोने भी इसका समादर किया है। वात्स्यायन सूत्रकारने अपने 'कामसूत्र'मे, नागरिकोके लिए चित्रकलाको आवश्यक मानते हुए, निम्नलिखित षडगोका वर्णन किया है—

रूपभेदा प्रमाणानि, भावलावण्योजनम्
सादृश्यं वर्णिकभगं इति चित्रं षडंगकम

कालिदासका साहित्य हमे भारतीय चित्रकला विषयक सिद्धान्तोका सम्यक् परिज्ञान कराता है। उसकी सामाजिक स्थितिका पता "मालविकाग्निमित्र"से चलता है। उसके पारिभाषिक शब्द भी प्रचुर उपलब्ध होते है।

श्रीयुत **अमरनाथ दत्त, परसी ब्राउन, मनोरंजन घोष** और **आनन्दकुमार स्वामी**-जैसे पुरातत्वविद् और कला-समीक्षकोने यदि चट्टानवाले चित्रोका उद्धार न किया होता, और उनपर विशेष विवरण लिखनेका प्रयत्न न किया होता, तो इन चित्रोकी जानकारीसे हम, इस प्रगतिशील युगमे भी वंचित रहते।

अजंता

भारतवर्षमे जितने बौद्ध-तीर्थ मिलते है, उनमे बहुत कम ऐसे है, जहाँपर शिल्पकलाके साथ चित्रकलाका भी समुचित विकास न हुआ हो। **अजंतामें** कलाकी दोनो शाखाओका अच्छा विकास हुआ। वहाँ शिल्प और चित्रकलामे अपूर्व सामजस्य है। वहाँपर कलाकारने अपनी कलाके सात्त्विक

सौन्दर्यानुभूतिके तत्त्व प्रसारित कर मानव-संस्कृतिके आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वोंका सुन्दर समन्वय बताया है। अजंता स्थान भी इतना सुन्दर और प्राकृतिक दृष्टिसे अनुपम है कि वहाँ जानेके साथ ही मानव अपने आपको थोडी देरके लिए भुला देता है। हमे इस स्थानमें रहकर कुछ दिनो तक शिल्प और चित्रकलाका अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन क्षणोकी स्मृति आज भी हृदयको आनन्दविभोर कर देती है। पहाडोकी गुफाएँ हमने जीवनमे कई देखी, पर वे अजन्ताकी समानता नही कर सकती, मानव-कृत कला और प्राकृतिक सौन्दर्य दोनोका समन्वय अजताको छोडकर अन्यत्र दुर्लभ-सा है।

अजताकी स्थिति हैदराबाद प्रदेशमे है। रेल्वेसे यात्रा करनेवालोके लिए जी० आई० पी०के जलगाँव स्टेशनपर उतरकर, ३७ मील मार्ग मोटरसे तय करना पडता है। पर हम पैदल चलनेवालोका मार्ग दूसरा था। हम अपने पूज्य गुरु महाराज श्रीउपाध्याय मुनि **सुखसागरजी** म० व० **मुनि श्रीमगलसागरजी** म० के साथ शेदूरनी होते हुए पलासखेडा आये और यहाँसे हम लोग फर्दापुर ठहरे, यहाँ निजामका बहुत बडा और विस्तृत अतिथिगृह बना हुआ है। ठहरनेके लिए उनकी अनुमति उन दिनो आवश्यक थी। गॉवमे मुसलमानोकी सख्या अधिक है। यहाँपर एक प्राचीन त्रुटित दुर्ग और **बेगमसराय** नामक मुसाफिरखाना पाया जाता है, जिसका निर्माण **औरंगजेबने** करवाया था। यहाँसे चार मीलपर **बाघोरा** नामक नदी है जो सर्पाकार है। इसे पारकर अजन्ताकी पहाडियोमें प्रवेश करते है। गुफाओका निर्माण ऐसा हुआ है, जब कि पर्याप्त समीप न पहुँचे तबतक उनके अस्तित्वका पता तक नही चलता। अजन्ताका किताबी ज्ञान प्राप्त करके हम जैसे जो यात्री जाते है, उनको तो भारी आश्चर्य हुए बिना नही रहता। पहाडकी गोदमे हम लोग पहुँचे, तीन सौ फुटकी ऊँचाईपर गये—जहाँ आधुनिक ढगकी पायरियाँ (सीढियाँ) बनी हुई है, तब कहीं गुफाओके दर्शन किये। हमारे खयालसे यह मार्ग पूर्वकालमें प्रवेशका न

रहा होगा। पहले तो १७वी गुफासे लोग प्रवेश करते होगे। कारण कि तन्निम्न भागमें घिसा हुआ मार्ग आज भी दृष्टिगोचर होता है। चढनेका मार्ग कुछ कठिन है और हम जैसे स्थूलकायवालेका चढते-चढते दम फूलने लगता है। परन्तु कलात्मक सौन्दर्य-दर्शनसे थकावट लुप्त हो जाती है। गुफाओके सौन्दर्यसे मन प्रफुल्लित हो उठता है। हृदय नाचने लगता है। नीचेसे तो ऐसा लगता है मानो हम आकाशाच्छादित महलमें खड़े है। वर्तुलाकार शृंखला पहाडोकी शोभा बढा रही है। ऊपरसे तो लगता है, जैसे हम किसी गैलरीमे ही हो। जगल सघन होनेसे यहाँका प्राकृतिक दृश्य बडा नयनाभिराम है। हारसिंगारका जगल लगा हुआ है। नाना पक्षियोके स्वरसे वायुमडल और परिष्कृत रहता है। गुफाओकी समाप्ति जहाँपर होती है, वहाँपर पहाडी उपत्यका है। नदी ठीक नीचे बहती है, ग्रीष्मकालमें यहाँसे शिलाजीत भी खूब निकलता है। अक्तूबर-दिसम्बर तक ही यहाँका मौसम अच्छा रहता है।

अजटाका पहाड वर्तमान बरारकी सीमासे ७ मीलपर है। अजतामें छोटी-बडी ३० गुफाएँ है। इनमे कुछ चैत्य व कुछ विहार है। ये सब गुफाएँ पूर्वसे पश्चिमकी और ६०० गजकी परिधिमे अर्द्ध वृत्ताकार है। इसकी अर्द्ध गुलाई बडी ही चित्ताकर्षक है। पहाडी सामनेसे यदि इनका निरीक्षण किया जाय तो सौन्दर्य द्विगुणित हो जाता है। इन कलापूर्ण गुफाओका निर्माण ई० स० २००से ७०० तक चलता रहा। अब तो इनपर नबर दे दिये गये है। डा० कुमारस्वामीका मत है कि यद्यपि अधिक भाग वाकाटकोके समयमे चित्रित हुआ, परन्तु गुफा स० १७ तथा १९को तो गुप्तकालीन माननेमे तनिक भी सन्देह नही है।

गुफाओमे चित्रोके साथ शिल्प-सामग्री भी प्रचुर है। गुफाएँ भिन्न कालकी इस प्रकार है—८–१२–२३ सबसे पुरानी है। ६–७–पाँचवीं शतीकी है। १–५–१४–२९ इनका काल सन ५००–६५० ई० तकका है। स० १ सबसे बादकी है। १९मे वाकाटकोकी प्रशस्ति है। इसमें

निकटवर्ती विजित राजाओंके नाम हैं। १–२–४–६–७–९–१०–११–१५–१७–१९–२०–२१–२२ और २९ गुफाएँ सचित्र हैं। १९३९में जब हम अजंता गये थे तब पहाड़ीकी खोहमें एक और गुफा निकली थी।

कुछ प्रमुख चित्र

प्राथमिक परिचयके बाद हम लोग प्रथम गुफामें प्रविष्ट हुए, इतनेमें ही दालानके मारविजयवाले चित्रपर हमारी दृष्टि स्तम्भित हो गई। मारविजयका प्रसग ग्रन्थोमें पढा तो था, पर उसने आज जो हमारे मनपर प्रभाव डाला, उसे जीवनपर्यन्त विस्मरण करना कठिन है। यह चित्र लगभग ८ फीट चौडा १२ फीट ऊँचा है। असख्य प्रकारके भौतिक प्रलोभनो द्वारा बुद्धदेवको तपसे च्युत करनेका प्रयास किया जा रहा है। परम सुन्दरियोका दल खडा है। हर भाव बडे ही सुन्दर, मनमोहक और हृदयको पिघला देनेवाले हैं। कही क्रुद्ध मुद्राएँ भी हैं, हाथोमें शस्त्रास्त्र धारण किये हैं। पर भगवान्के मुखपर अपूर्व शान्ति एव सात्विक भावोका तेज चमक रहा है। मानो अहिंसाकी सारी दार्शनिक पृष्ठभूमि मुखमुद्रापर सजीव हो उठी हो। वे अपने ध्यानमें इतने तल्लीन हैं कि उनपर इन शैतानोका कोई प्रभाव ही नही पडता। अन्तर्मुखी चित्तवृत्तिका अनुपम सौंदर्य यहाँपर पूर्ण रूपसे निखर उठा है। मुखमुद्राके भाव शत्रुको भी मित्र रूपमें परिणित कर देते हैं। उसकी रेखाओंमें एक-एक आकृति, विविध भाव और अलकारोका वैविध्य प्रकट होता है। टकटकी लगाये हम लोग घटेभर तक इस चित्रकी छायामें बैठे, शान्त रसका पान करते रहे। और कलाकारोकी सराहना, विशेषतया इसलिए करते रहे कि यहाँ सायकालको जब सर्यदेव अपनी किरणें फैलाते हैं तो चित्राकन न जाने कैसे हुआ होगा। अन्तिम किरणोंके अभिषेकसे सारे चित्र थोड़ी देरके लिए चमक उठते हैं। इस गुफाके दालानमें एक और चित्र अकित है, जिसका ऐतिहासिक दृष्टिसे बहुत बडा महत्त्व है। **पुलकेशि** द्वितीयकी

राजसभामे ईरानके राजा खुसरू परवेजके राजदूत भट रख रहे हैं। पुलकेशी गद्दी बिछे हुए सिहासनपर लम्बी गोलाकार तकियेके सहारे बैठा है। पीछे स्त्रियाँ पखा और चँवर लेकर खडी है। अन्य परिचारक स्त्री और पुरुष कुछ बैठे है, कुछ खडे है। राजाके सम्मुख बाईं ओर एक बालक (राजकुमार) और तीन मुसाहिब बैठे हैं। राजा हाथ उठाकर मानो ईरानी दूतसे कुछ कह रहा हो। राजाके मस्तकपर मुकुट, गलेमे बडे बडे मोतियोकी माला (साथमे माणिक भी लगे है) उसके नीचे जडाऊ कठा, हाथोमे भुजदड व कडे है। यज्ञोपवीतके साथ पचलडी मोतियोकी माला, प्रववग्रन्थियोके स्थानपर ५ बडे मोती, कमरमे रत्नजडित करधनी है। घुटने तक काछनी पहने है। सम्पूर्ण शरीर खुला हुआ है, और दुपट्टा सिमटकर तकियेके सहारे है। शरीर प्रचड, गौर व पुष्ट है।

जो पुरुष वहाँपर है, सभी केवल धोती ही पहने है। दाढी और मूछे नही हैं। स्त्रियोके शरीर पर साडी व स्तनो पर पट्टियाँ बँधी[1] है। राजाके सम्मुख ईरानी दूत मोतियोकी माला लेकर भेट कर रहा है। उसके पीछे दूसरा ईरानी हाथमे बोतल-जैसी वस्तु लिए खडा है। तीसरा थाल लिए खडा है। चौथा बाहरसे कुछ वस्तुएँ लिये द्वारमे प्रवेश कर रहा है। उसके पास जो खडा है, उसके कटि प्रदेशमे तलवार है। द्वारके बाहर कुछ ईरानियोके साथ अन्य दर्शक भी खडे है, निकट ही कुछ घोडे भी है। ईरानियोके सम्पूर्ण शरीरपर वस्त्र, मस्तकपर ईरानी टोपी, कमरतक अगरखा, चुस्त पैजामा, पैरोमे मोजे है। सबके दाढीमूछे है।

---

[1]मध्यकालीन भारतीय सस्कृति, पृ० १८६।

स्त्रियोंके स्तनोंपर पट्टियाँ बाँधनेकी प्रथा पुरानी है। श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार उल्लेख है—

तदंगसंगप्रमुदाकुलेन्द्रियाः केशान्दुकूलं कुचपट्टिकां वा नांजः प्रतिव्योढूमलं व्रजस्त्रियो विस्रस्तमालाभरणाः कुरुद्वह

—दशमस्कंध ३३।१८।

दरबारमें सुन्दर बिछायत है और फर्शपर मन-मोहक पुष्प बिखरे है। सिंहासनके आगे पीकदानी, और उसके पास ही, एक चौकीपर पानदान व अन्य पात्र रखे है। दीवाले सुन्दर बनी है।[1]

यह चित्र ईरान-भारत स्नेह सम्बन्धका सूचक है। संभवत चित्रवर्णित घटनाका समय ई० सन् ६३६-९ तकका है। यह चित्र अजता चित्र-कालके काल-निर्णयमें सहायता करता है।

यो तो समस्त विश्वकी कलाको व्यक्त करनेका साधन रेखाएँ होती है। परन्तु अजन्ताकी रेखाओने तो अनेक कलात्मक रूप व्यक्त किये है, जो अन्यत्र दुष्प्राप्य है। जो-जो रेखाएँ फूटी है वे भावोके अनुसार स्वय मुड जाती है। मानवके विभिन्न देह, अभिनय और भावोका अकन हो उठा है, वह कितना सजीव है, देखते ही बनता है। चित्रांतर्गत एक भी रेखा ऐसी नही जो अपना भावसूचक मौलिक अस्तित्व न रखती हो। विश्व विख्यात **नागराज और काशीराजके चम्पेय** (चम्पेय जातकानुसार)का चित्र इसी गुफामे चित्रित है। यो तो यह चित्र और चित्रोकी अपेक्षा काफी प्रसिद्धि पा चुका है। परन्तु प्रत्यक्ष दर्शनसे भावोंका जैसा उत्कर्ष प्रतीत है वह अनिर्वचनीय है। इस चित्रको हमने इतना देखा कि तीन दिनमे हम लोग एक ही गुफाका अवलोकन कर सके। चित्र सविधान एक-एक रेखापर चमक रहा है। भावोका प्रदर्शन हृदयग्राही एव वास्तविकताका सूचक है। उभय नरेश, प्रणय भाववाली युवतियाँ, महलकी परिचारिकाएँ, एक राजपुरोहित और सेनापति सभीकी मुखमुद्राको तूलिकाने रेखाओमे लपेट लिया है, कि मानो अभी बात करेंगे। सुन्दरीके नयनोमें मादक रसवृत्ति पाई जाती है पर वह है मर्यादित। कहींपर भी कामुकताकी गुजायश नही रहती। रग-रेखाओंके द्वारा कलाकारने सारे प्रसगमें जान डाल दी है। इस चित्रसे उन दिनोकी भारतीय सस्कृति

[1] दि पेंटिग्ज आफ़ अजंटा, प्लेट ५।

और सभ्यताका सूक्ष्माभास मिलता है। जहाँ तक रस निष्पत्तिका प्रश्न है, हम बिना किसी सकोचके कहेंगे कि सामाजिक दृष्टिसे भी चित्र उपेक्षणीय नही। गर्भमन्दिरके पास दक्षिण और मडपकी दीवारपर पद्मपाणि बोधिसत्त्वका विशाल चित्ताकर्षक आलेखन है। कुमार सिद्धार्थ बुद्धपदके लिए गृहत्याग करते हैं। उस समयका वह रूपक चित्र है। मुखमुद्रापर चिन्तन, करुणा और गम्भीर मनोमन्थनकी गहरी छाप है। नासिका और ओठपर भावमूलक प्रतिच्छाया है। मुकुट भारतीय सर्वश्रेष्ठ कलाका प्रतिनिधित्व करता है। इस भागमे पाये जानेवाले समस्त चित्रोमे यह सबसे बडा होनेके बावजूद भी सौन्दर्यको लिये हुए है। तन्निकटवर्ती देव सृष्टि, मानव सृष्टि और विचार मग्न यशोधराके चित्र देखे तो पता लगेगा कि कलाकार आवेग, स्वास्थ्य, धैर्य और त्वराके भाव बतानेमे एक समान कितना कौशल रखता है। मुख गाभीर्य, सासारिक वासनाओके प्रति औदासिन्य भावोका सूचक है। इस चित्रके विषयमे भगिनी निवेदिताके ये शब्द ध्यान देने योग्य है।

"यह चित्र संभवतः भगवान् बुद्धका सबसे बड़ा कल्पनात्मक प्रदर्शन है जिसे संसारने कभी देखा है। ऐसी अद्वितीय कल्पना कठिनतासे दूसरी बार उत्पन्न हो सकती है[1]॥"

यह चित्र विश्व करुणाका जीवित प्रतीक है। एलोरा और एलिफेंटामें पाई जानेवाली **अवलोकीतेश्वरकी** जो प्रतिमाएँ है उनपर इस चित्रका सोलहो आने प्रभाव पडा है। साथ ही साथ आठवी शतीकी कास्य प्रतिमाएँ **सिरपुरमें** हमने देखी है। उन एव **नैपालकी** प्रतिमाओपर भी इसका गम्भीर प्रभाव जान पडता है। चित्रोका प्रभाव शिल्प पर, शिल्पका प्रभाव चित्रोपर पडता ही है। क्योकि दोनोमे कलाका साम्य है, उपकरणोमें पार्थक्य है।

---

[1] **फुटफाल्स आफ़ इंडियन हिस्ट्री, पृ० १३५-६।**

उपर्युक्त चित्रके समीप ही एक द्वारपर यक्ष-दम्पतिका निर्दोष स्नेह युगल चित्रित है, जो मर्यादित शृगारको लिए हुए है। यहाँ ज्ञान और अनुभवकी परिपक्वताका समन्वय जान पडता है। इस गुफाके समस्त चित्रोपर दृष्टिपात करनेसे, एक बातका अवश्य पता चलता है कि अजताके लोग आध्यात्मिक साधनाके साथ सासारिक गतिविधिसे अपरिचित नही थे। भौतिक विकास भी आध्यात्मिक तत्त्वोकी गतिको प्रेरणा देता है, ऐसा इन चित्रोपरसे थोडी देरके लिए यदि मान ले, तो अनुचित न होगा। दूसरी गुफाओमे अन्य चित्र है पर वे बहुत बादके माने गये है। परन्तु उनमे दो चार ऐसी भी कृतियाँ है, जिनका समावेश अजन्ता चित्रशैलीमे किया जा सकता है। दीवालपर खडित, परन्तु भावोको स्पष्ट करनेवाली कलाको लिये हुए है। युवतियोसे परिपूर्ण मडपके राज सिहासनपर कोई एक राजपुरुष अधिष्ठित है। हाथमे नग्न खडग है जो चरणमे नमस्कार करती हुई एक कम्पितवदना युवतीपर तुला हुआ है। वह दयाकी याचना कर रही है। सभाके लोग कम्पायमान हो रहे है। पश्चात् कालीन चित्र अजन्ताकी अवनतिके सूचक है जो **खोतान, तुर्किस्तानी**कलासे प्रभावित है।

सोलहवी गुफाका चित्र बुद्धदेवके गृहत्यागका है। गहरी निद्रामे यशोधरा और राहुल सोये हुए है। परिचारिकाएँ भी अपने आपको निद्रा देवीकी गोदमे समर्पित कर चुकी है। एक दृष्टि डाल बुद्धदेव निकल पडते है अन्तिम दृष्टिमे ममता मोह नही है, परन्तु त्यागकी उदात्त भावना दृष्टिगोचर होती है। इसीमे कलाकारकी कुशलता है। इसीमे सारा कृतित्व समाया हुआ है। सोलहवी गुफा तीनो ओरसे चित्रोसे सुसज्जित है। अतिविख्यात 'प्रणयोत्सव'का चित्र यहीपर है। अन्दरकी सभामें बुद्धदेवके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाएँ तथा जन्मान्तरके महत्त्वपूर्ण प्रसगोसे भरपूर है, जो हजारो वर्ष पूर्वीय जीवनके आनन्द, दुख, करुणा और मानव हृदयको स्पर्श करते है। ज्यो-ज्यो दृष्टि फिराते जायेंगे, त्यो-त्यो अपने आपको खोना पडेगा। नूतन-नूतन जगतमे विचरण करना पडेगा।

उपर्युक्त गुफामे मृत्युशय्या कुमारिकाके चित्रपर जॉन ग्रीफित्सके निम्न वाक्य मननीय है—

For method and sentiment and unmistakable way of telling its story, this picture, I consider cannot be surpassed in the history of art. The Florentines could have put better drawing and the venetians better colour, but neither could have thrown greater expression into it.

(The Cave Temples of India, p. 307)

ज्यो ही हम लोगोने सत्रहवी गुफामे प्रवेश किया तो अनुभव होने लगा कि कही हम **अमेरिकाकी आर्टगेलेरीमें** तो नही खडे है। एक एकसे बढकर भावमूलक चित्रोकी लता, अपना सुरक्षित सौन्दर्य फैलाकर प्रेक्षकपर छा जाती है। मानो कलाकारोने पारस्परिक होड लगाकर उनका सुरुचि-पूर्ण निर्माण किया हो। बौद्धजातक यहाँ सजीव हो उठा है। जिसप्रकार २६वी गुफा शिल्प कलाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार यह चित्रकला-की दृष्टिसे अनुपम है। दालानके दक्षिण द्वारपर भव्य और मर्मस्पर्शी चित्र है, जिनमे यशोधरा और राहुलके चित्र समदेह भागमे अकित है। माता स्नेहमयी दृष्टिसे अपने पुत्रको किसीके सम्मुख, साग्रह उपस्थित कर रही है। पुत्र भी अजली पसार उस व्यक्तिके सामने उपस्थित है। इस चित्रमें करुणा और सहानुभूति साकार है। अग-अगपर दैन्य परि-लक्षित होता है। हैवेल इस चित्रपर मुग्ध है। (इडियन स्कलचर एड पेटिग, पृ० १६४-५) पाठक अनुमान कर ले कि यह व्यक्ति कौन है? विशाल देहवाला, हाथमे भिक्षापात्र लिये, गम्भीर प्रशान्त मुद्रावाला और कोई नही, स्वय बुद्धदेव हैं, जो बुद्धत्व प्राप्तिके बाद कपिलवस्तु भिक्षार्थ आये थे। इस चित्रको देखकर मानव-मनमे सस्मरण-धाराका प्रवाह वेगसे बहने लगता है। कलाका साकार रूप दृष्टिगोचर होता है।

आत्मसमर्पणका चरम विकास इस चित्रमे सन्निहित है। **महाहंस जातक, सिबि जातक,** षडदन्त जातक एव **वेस्संतर** जातकोंके चित्र भी बडे ही अच्छे ढगसे अकित है। वेसत्तर जातकका तो मर्मभेदी प्रभाव स्पष्ट है। करुणा यहाँ मानो शरीर धारण किये हुए है। ब्राह्मण के मुखके भाव अनिर्वचनीय है। युद्ध प्रसगपर प्रकाश डालनेवाला भी एक चित्र हमने देखा, जो अपने ढगका अनोखा है। आश्चर्य तो इस बातका है कि लगभग तीन सौ चेहरे सरलतासे गिने जा सकते है। सभीके मुखपर युद्धके विविध भाव, प्रत्येकको आकृष्ट कर लेते हैं। एक स्थानपर आकाशमे विचारण करनेवाले गायकोका समुदाय ही चित्रित है, जो वाद्योको लिये हुए है।

यहॉपर प्रश्न यह उपस्थित होगा कि कलाकारोने पाषाणपर, अपनी भाव-धारा कैसे बहाई होगी? अजन्ताके सक्षम कलाकारोने प्रथम तो अपने तीक्ष्ण औजारोसे दीवाले साफ की, तदुपरि चूनेका हलका पलस्तर लगाकर पृष्ठभूमि तैयार की, उसीपर अपनी कलमसे मानव-सस्कृतिके उद्दात्त भावोंका अकन, विशिष्ट रूपको द्वारा, किया जिनके आनन्दसे आज भी हम नाच उठते हैं।

"अजंताका कलाकार किसी समर्थ कविके समान अपनी रेखाओंमें ऊर्मिदर्शन और प्रसंगका वायुमंडल सहज भावसे लपेट लेता है। वाचा और अर्थका संयोग करनेकी कविशक्ति जैसे प्रशंसित होती है, वैसे ही अजंताकी रेखाएँ केवल रेखा नहीं है, उसका पुरस्कर्ता रेखातत्त्वको भुलाकर, स्वरूप भाव और पदार्थका साक्षात् परिचय कराता है। वह मानसिक पूर्वनिर्मित-पृष्ठभूमिका दास नहीं है, वह अपनी मानसिक सृष्टिको ही आगे बढ़ानेके लिए, रेखावलियोंको चाहे जैसी दिशामें बहाता है।" "अजंताकी कला सुसंस्कृत पंडितोंकी वाणी है।"[1]

---

[1]श्रीरविशंकरजी रावल—"पश्चिम भारतनी मध्यकालीन चित्रकला" शीर्षक निबंध, "जैनचित्रकल्पद्रुम" पृ० ७।

सुप्रसिद्ध चित्रकार रोथेन्स्टाइनने अजन्ताके चित्रोके विषयमे जो अभिमत व्यक्त किया है, वह इस प्रकार है—

"मनोवैज्ञानिक चित्रणके विचारसे इन चित्रोंमें इतनी सत्यता है, यहाँके मानव और पशुओंका चित्रण इतना अद्भुत है और भारतीय जीवनके आध्यात्मिक चित्रणमें इतनी गभीरता है कि आज इस शीघ्र परिवर्तनशील युगमें भी तत्कालीन चित्रकलाकी अनुपस्थितिमें ये चित्र भारतीय जनता-की सभ्यता और जनताके प्रतिनिधि है ।"

कमल

कलाकारोको कमलने बडी प्रेरणा दी है और विचार-शक्ति भी। मडपकी बडी-बडी छतोपर वर्तुलके मध्यसे बडे-बडे कमल अकित एव उत्कीर्णित है, ततसमीपवर्ती कुडल और तरहोमे उसकी अनेक आकृतियाँ है। देखकर कल्पना हो आती है कि ऐसा अकन ससारमे कहीपर भी नही हुआ। कमल पुष्प, कमलकी रज्जु, कमल पत्र, कमल दड या गुच्छोकी शोभा, सुसस्कार सम्पन्न रेखाएँ, लताएँ पदपदपर अकित है। कभी-कभी देखा जाता है कि एक ही वस्तुका पुन पुन लेखन कलाके तत्वोको विकृत कर देता है, परन्तु यहाँ तो नतन वैविध्य छाया है ! चित्रकार कमल पुष्पपर इतने मुग्ध थे, कि बोधिसत्वके हाथमे, एव स्तम्भोपर अकित परिचारिकाओके करमे, अथवा प्रेमी युगलोके बीच भी किसी ढगसे दड सहित कमल खडा कर ही दिया है। यहाँ तक कि मानव-शरीरकी आकृतियोमे भी कमलके द्वारा लालित्य लानेका सफल प्रयास किया है। इससे पता चलता है कि प्राचीन भारतीय शिल्प और चित्र कलामे कमलका महत्त्व सर्वोपरि था। कुषाण-कालीन शिल्पोमे इसकी आकृतियाँ प्राप्त की जा सकती है।

अजताके शिल्प और चित्रोके अतिरिक्त गुप्तकालीन जितनी भी प्रतिमाएँ दिखाई पडती है, उन सभीमे कमल किसी-न-किसी रूपमे अवश्य

ही विद्यमान है। प्रधान प्रतिमाका आसन कमल पुष्पपर खँचित बताया गया है। जैन, बौद्ध एव अन्य सम्प्रदाय मान्य शिल्पोमे भी कमलकी प्रधानता पाई जाती है। उसे बौद्ध-शिल्प कलाकी देन कुछ लोग मानते है, पर यह ठीक नही है। क्योकि कमल जीवनका प्रतीक है, वह साम्प्रदायिक कैसे हो सकता है। उत्तर गुप्तकालीन एक तारा देवीकी प्रतिमा हमे मध्यप्रान्तान्तर्गत सिरपुरसे प्राप्त हुई थी। उसमे तो ऐसे भाव व्यक्त किये गये थे कि मानो कमल दडके आधारपर ही सारी मूर्ति टिकी हुई हो। कमलपत्र, पुष्प और फल तकका जितना सुन्दर प्रदर्शन इस प्रतिमामे पाया जाता है, वह अन्यत्र कम दृष्टिगोचर होगा। देवीका आसन तो कमलका ऐसा पुष्प है, जिसमे छोटे-छोटे पोखरे भी है। उभय पक्षमे देवगण दडयुत कमल धारण किये है। कमलदडकी मोड सचमुचमे आकर्षक है। कमल-की बाहुल्यताके पीछे कौन-सी मनोभावना काम कर रही है, यह जानना बहुत आवश्यक है। विदेशके कुछ कला समीक्षकोने माना है कि कमल विदेशी प्रतीक है, जिसको भारतके कलाकारोने सुन्दर अलकरण होनेके कारण अपना लिया। परन्तु वस्तुत बात वैसी नही है। बौद्ध-धर्मके प्राचीन ग्रन्थोमे अलौकिक ज्ञानको कमलरूपके द्वारा व्यक्त किया है, कमलके जडका भाग ब्रह्म माना गया है, कमल नाल (तना) माया है, और पुष्प सम्पूर्ण विश्व है, फल निर्वाणका प्रतीक है। अशोकका शिला-दड—कमल-नाल माया अथवा सासारिक जीवनका द्योतक है। घटाकार सिरा ससार है, आशा रूपी पुष्पदलोसे वेष्टित है और कमलका फल मोक्ष। इसपर श्रीहैवेलकी युक्ति बहुत ही सारगर्भित है—

"यह प्रतीक खास तौरपर भारतीय है। इसका प्रारंभिक बौद्धकालमें बेहद प्रचार था। यह इत्तिफ़ाककी बात है कि इसकी शक्ल ईरानी केपिटलों-से मिलती है, किन्तु कोई वजह नहीं कि इसीसे हम इसे ईरानी चीज मान लें। शायद ईरानियोंने ही यह विचार भारतसे लिया हो। भारत तो कमलके फूलका देश है।"

स्त्रीपात्र

अजन्ताकी मानव-सृष्टिमे स्त्री-पात्रका स्थान बहुत उच्च प्रतीत होता है। उन दिनोकी स्त्रियोके शरीरपर, आजकी अपेक्षा लज्जा निवारणार्थ अल्प वस्त्र होनेके बावजूद भी, उनकी कला और विनय आश्चर्यचकित कर देती है। यहांके स्त्री-पात्र केवल स्त्रियोकी महानता ही द्योतित नही करते, अपितु स्त्री-जातिका वह प्रतीक उपस्थित करते है, जिसके समुचित समादरपर ही समाज विकास कर सकता है। कलाकार स्त्रीका अकन करते समय सयमपूर्वक अग-प्रत्यगके प्रदर्शनमे अपनी चिर साधित तूलिकाका प्रयोग करता है। राजकुमारी हो या नर्तकी, परिचारिका हो या अन्य कोई स्त्री, कहीपर भी कलाकी दृष्टिसे वह अधम नही है। सर्वत्र समर्याद सुन्दरी है। अजन्ताकी स्त्रियोको देखकर पाशविक काम-नाओका जागरण भी नही होता, प्रणयोत्सव और यक्ष-दम्पति जैसे चित्र भी कितनी मर्यादाका पालन करते है। उनमे एकताकी साकार भाव मुद्रा है। पूर्णत सामाजिक होते हुए भी अश्लीलताकी कल्पना तक सभव नही। स्त्रियोका केश-कलाप अद्भुत है। स्त्रीके केशपर कलाने समय-समयपर कैसे-कैसे भिन्न-भिन्न रूप धारण किये, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कहीपर हो सकता है, तो यहाँपर ही। उन दिनो स्त्री स्वातत्र्य पर्याप्त था। राज सभाओमे निस्सकोच भावसे आवागमन था। समाजमें भी सम्मान था। यहाँ तक कि बुद्धदेवके पुनीत चरणोपर चलनेवाले अजन्ताके निर्वाणकामी, सासारिक भावनाओसे सर्वथा विरक्त साधू भी स्त्रियोको उपेक्षाकी दृष्टिसे नही देखते थे, मानो सृष्टिका उत्तमाग समझ-कर वहाँ उन्हे चित्रकलामे स्थान दिया हो। स्त्रियोंके रूप भिन्न-भिन्न है। कलाकारने अपूर्णता रक्खी है तो केवल उतनी ही कि वे उन्हे वाचा न दे सके, उनके हाथकी बात भी न थी। परन्तु चेहरेके हाव-भाव और हाथोकी मुद्रा, उँगलियाँ वाणीसे भी अधिक स्पष्ट एव सुन्दर भावोका प्रदर्शन करती है। कलाका वास्तविक सौन्दर्य वहीपर निखर उठता है,

जहाँपर वाणी मौन रहती है। गुजरातके सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध कवि ब० क० ठाकोरकी एक पक्ति याद आ रही है—

अशब्देपण गजवनी कारमी भाखनारी ए गिरा।

अजन्ताके चित्र और शिल्पोका अध्ययन अगर विशिष्ट' दृष्टिसे किया जाय तो, प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि यद्यपि इनके अकनका उद्देश्य अवश्य ही आध्यात्मिक था। परन्तु यहाँ शुष्क आध्यात्मिकता नही है, अपितु इसका लौकिक जीवनके साथ भी अपूर्व सामजस्य है। कलाका मूलाधार भले ही अलक्षित लोक रहा हो। उसके विषय-प्रतिपादन-मे आध्यात्मिक भावना—जो भारतीय सस्कृतिकी आधार शिला है—और भौतिक जीवनके अनुभव तथा सारभूत बाते एक सुसगत और समष्टिके अन्तर्गत है। समाजविरुद्ध आध्यात्मिकताके उच्चतम भाव पनप नही सकते। इस बातका अजन्ताके कलाकारोको पूर्ण ज्ञान था। तत्रस्थित चित्रोंमें ससारके प्रति विरत भावनाओका स्रोत तो फूटता ही है, पर साथ ही साथ सासारिक सुख-साधन, आमोद-प्रमोद, नाच-गानके भौतिक साधन भी विद्यमान है। शिल्पमे कही दम्पति प्रणय-जीवनका आनन्द मना रहे है, तो कही सगीतकी सुमधुर उपासना कर रहे है। यहाँ कलाकारकी नीयतकी व्याख्या सचमुचमे कुछ कठिन है, क्योकि सामयिकताका ध्यान पहले रखना पडता है। गुप्तकालीन साहित्यमे जो कलाकारोकी व्याख्याएँ व्यग्यात्मक रूपमे आई है, उनका साक्षात्कार हृदय और मस्तिष्क द्वारा अजन्तामे होता है। इसमे कोई सन्देह नही कि उनके हृदय-मस्तिष्क उदार, व्यापक और सामयिक विचारधाराके अनुसार अकन करनेकी पूर्ण क्षमता रखते थे। तभी तो धर्ममूलक कलाके अलकरणोमें भी सामाजिक तथ्योको चित्रित कर सके। सामाजिक अलकरण, आभूषण, हावभावोकी विकासात्मक परम्पराका अध्ययन तबतक अपूर्ण रहेगा, जबतक अजताके बहुमुखी शिल्प और चित्रोकी कलाका तलस्पर्शी अध्ययन

न कर लिया जाय। भले ही अजताके चित्र वर्ग-प्रभावके प्रतीक हो, परन्तु उनमें जानतिक लोकरुचि परिष्कृत रूपमे वर्तमान है।

उपर्युक्त पक्तियोमे हमने चित्र एव शिल्पके अन्योन्याश्रित सम्बन्धोका सकेत किया है, जिसका साक्षात्कार हम अजतामे करते है। **साँचीका** शिल्प विश्वमे प्रतिष्ठा पा चुका है। अजताके शिल्पकी पद्धति एव वेश-भूषापर साचीका गहरा प्रभाव है। एव अजताकी कलाका प्रभाव हम **एलोराकी** आठवी शतीकी गुफाओमे पाते है, परन्तु वहाँ लौकिकता नही है। इसका कारण है कि वे चित्र स्वर्गसे सम्बन्धित है। कलाकी दृष्टिसे समानता स्वीकार करनी होगी। **तिब्बतमें** प्राचीन चित्रकलाके कुछ प्रतीक मिले है, जिनपर अजताकी चित्रकलाका स्पष्ट प्रभाव है। श्री राहुलजी कहते है--

"तिब्बतके कुछ विहारोमे कितने ही भारतीय चित्रपट भी मिलते है जिनका अजताकी कलासे सीधा सम्बन्ध है। इन चित्रोके फोटो लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी, लेकिन उनके फोटोके लिए खास प्लेटकी जरूरत थी जो मेरे पास मौजूद न थे।"[१]

बादके भारतीय, विशेषत जैन-शिल्पमे भी अजताका प्रभाव पाया जाता है। नेपाल और भोट देशके बहुत-से चित्रपट हमने भी देखे है, जिनमे अजताकी कला कम या बेशी चमकती है।

अजताकी गुफाओका निर्म्माणकाल ई० स० पूर्व तीसरीसे आठवी शती है। पिछली शताब्दियोसे अजता हमारी दृष्टिसे ओझल रहा। ह्यू-आन-त्सृआङ् भारतवर्षकी यात्रार्थ आया था, उसने इन पक्तियोका आलेखन किया है--

"महाराष्ट्रका राजा पुलकेशी है, उसके राज्यकी पूर्व--(दिशामें) की पहाडियोमे सघाराम है। यहाँ नदी-प्रवाहके मूलके पहाडोमे विहार

---

[१]पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ २५२।

उत्कीर्णित हैं। उन विहारोकी भित्तिपर तथागतके जन्मातरोकी कथाके चित्र है।"

उपर्युक्त पक्तियाँ अजता पर ही चरितार्थ होती है। यद्यपि यात्री वहाँ गया न था, पर प्रशसा सुन चुका था। पक्ति वर्णित चित्रोके अतिरिक्त भगवान् बुद्धदेवके चरित्रकी कथाओका सफल चित्रण किया गया है। बुद्धदेवका जन्मग्रहण, सम्बोधिप्राप्ति, आदि जीवन विषयक घटनाओपर प्रभावपूर्ण प्रकाश डालनेवाले बहुत प्रसगोका सफल चित्रण, कलाकारकी दीर्घसाधित तूलिकाका परिचायक है। इनके अलावा कुछ ऐसे चित्र भी हमने देखे, जिनसे तात्कालिक राज-भवन, रहन-सहन, राजसभा, वेशभूषा आदि सामाजिक व लोक-सस्कृतिका भी भलीभाँति परिचय मिल जाता है। जीवनकी स्वाभा-विक आनन्द-भावना इनके रग व रेखाओमे स्थान-स्थानपर परिलक्षित होती है।

मैं प्रासगिक रूपसे एक बातका उल्लेख करना अत्यावश्यक समझता हूँ, वह यह कि वाकाटक व गुप्तकालीन स्थापत्यकलाके पूर्ण भवन, या राजकीय प्रासाद आज उपलब्ध नही है। परन्तु अजताके उपर्युक्त चित्र व अमरावतीके शिल्पसे प्रासाद-निर्माण विद्याका अच्छा आभास मिलता है। तात्पर्य कि प्रत्येक शताब्दीके कलात्मक प्रतीकोपर, उस समयके सार्वजनीन वातावरणका प्रभाव अवश्य पडता ही है। इस दृष्टिसे अजताके चित्र अनुपम सामग्री प्रस्तुत करते है।

भारतीय एव विदेशी विद्वानोने अजताकी चित्रकलाकी मुक्त कठसे प्रशसा की है, उनमेसे कतिपय ये है—श्रीमती ग्रबोस्का,[1] सिस्टर निवेदिता,[2]

---

[1] एन्शयण्ट इडिया एन्ड सिविलाइजेशन ।

[2] फुटफाल्स आफ़ इंडियन हिस्ट्री ।

सर आरेल[1] स्टाइन, लारेन्स बिनयान[2], और ग्रिफिथ[3] आदि आदि हैं।

वर्तमानमें अजताके अस्तित्वका पता ई० स० १८२४में जनरल सर जेम्सको लगा, १८४३में विख्यात् पुरातत्त्ववेत्ता फरगुसनने इसपर विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया। सन् १८४४में ईस्ट इंडिया कपनीकी ओरसे इन चित्रोकी नकले कराना तय हुआ, और इस कठिन कार्यके लिए मेजर आर० जिलको नियुक्त किया गया। १८५७ तक कार्य चला, परन्तु कुछ काल बाद लदनमे आग लगनेसे भस्मीभूत हो जानेके कारण फरगुसनने सरकारसे पुन आग्रह किया कि इन चित्रोका पुन उद्धार किया जाय, तब बम्बई स्कूल आफ आर्टके प्रधान मि० ग्रिफ़ित्सने अपने कला-प्रेमी छात्रोकी सहायतासे १८७२-८१ तकमे ५० हजार रुपयोके व्ययसे कुछ प्रतिलिपियाँ तैयार की। स० १८९९ मे ग्रिफ़ित्सकी 'अजता' प्रकाशित हुई। यही पुस्तक आज भी प्रामाणिक मानी जाती है। इसकी मूल प्रतिलिपियाँ भारतमे ही रखनेकी मि० ग्रिफित्सकी इच्छा थी, पर ये प्रयत्न करनेके बावजूद भी, सफल न हो सके। ई० स० १९१५ मे लेडी हरिंगहामने श्रीनन्दलाल बोस-जैसे चित्रकारकी सहायतासे प्रासगिक चित्र लिये। १९२६में औंधनरेश बालासाहब पत प्रतिनिधिने, प्रान्तके कई कलाकारोकी सहायतासे पुन चित्रलिपियाँ लिवायी, जिनका प्रकाशन मराठी और अग्रेजीके विवरण सहित हुआ। १९३६ मे रविशंकर रावलने "अजंताके कलामडप" नामक परिचयात्मक पुस्तिका गुजरातीमे प्रकाशित की।

---

[1] एनुवल रिपोर्ट आफ आर्कियोलाजिकल डिपार्टमेंट आफ़ निजाम्स डोमिनियन फार १९१८-१९।

[2] अजन्ता फ्रेस्कोज।

[3] पेंटिग्ज इन दि बुधिस्ट केव्ज एट अजटा।

अजंता-शैलीकी विदेश-यात्रा

अजंताकी कला जिन दिनो उन्नत पथगामिनी थी, उन दिनो चीनमे चित्रकलाका सूर्य्य मध्याह्नमे था, चीनी यात्री यहाँसे कुछ कलाकारो और चित्रोको चीन ले गये थे, धर्म साम्य होनेके कारण वे भी तदनुकूल अकनमे सहायक हो सके होगे। भारतीय कला अपरभारत द्वारा वहाँ पर गयी। चीनी सम्राट् यांग-टी (ई० स० ६०५-६१७) के दरबारमे खुतनका चित्राचार्य रहता था, वहाँके लेखकोके अनुसार उसका और उसके पुत्रका, भारतीय शैलीके बौद्ध-चित्र बनानेमे बडा ऊँचा स्थान था। (**भारतकी चित्रकला** पृ० ५८) चीनकी चित्रकला भारतीय कला एव तदगीभूत अलंकरणसे कितना साम्य रखती है, यह अभी कहना कुछ कठिन है। परन्तु तिब्बत और नेपालकी चित्रकलापर भारतीय प्रभाव पाया जाता है यह स्पष्ट है। अब हमे देखना चाहिए कि अजताके बाद धर्ममूलक कलात्मक बौद्ध-चित्र कहाँ मिलते हे। शैलीका विवेचन यहाँपर अभीष्ट नही है, क्योकि उसे हम तिब्बतवाले प्रकरणमे देखेगे। अच्छा तो अब बाघकी ओर मुड चलें।

बाघ-गुफा-चित्र

भारतीय-भित्तिचित्रोकी परम्परामे बाघ-गुफाओका उल्लेखनीय स्थान है। ये गुफाएँ मध्यभारतके **अमझेरा** जिलेके छोटे गाँवमें अवस्थित है। ग्रामके चारो ओर विन्ध्यकी पहाडियाँ, वनोंसे परिवेष्टित है। प्रकृतिकी गोदमें, इन गुफाओंका निर्माण सुरुचि-पूर्ण ढगसे हुआ है। ये गुफाएँ अजन्ताके समान एक ही साथ नही है, भिन्न-भिन्न स्थानोपर बनी हे। इनकी कुल सख्या ९ है। प्रथम गुफाका तो कुछ भी महत्त्व नही है। दूसरी, जो 'पाण्डवोकी गुफा'-कहलाती है, वह सबसे विस्तृत व सुरक्षित है। यहाँका न केवल शिल्प ही सुन्दर है, अपितु चित्रकारी भी उत्कृष्ट है, जैसा कि अवशिष्ट रेखाओंसे ज्ञात होता है। यहाँपर

असावधानीसे हमारी कलाकी जो क्षति हुई है, अवर्णनीय है। पर हाँ, यहाँकी बुद्ध तथा बोधिसत्त्वोकी मूर्तियाँ पर्याप्त सख्यामे मिली है। तीसरी गुफाको 'हाथीखाना' कहते है। वहाँकी व्यवस्थित निर्माणशैलीसे पता चलता है कि वह भिक्षुओका निवासस्थान था। इसमे बुद्धदेवकी प्रतिकृति अकित है। चौथी गुफाको 'रगमहल'के नामसे पहचानते है। वस्तुत यह रगमहल ही है। चित्रकलाका यह भडार, भारतीय सस्कृति और सभ्यताका अनुपम प्रतीक है। इस गुफाकी चित्रकलाने बाघ-जैसे लघुग्रामको खूब प्रसिद्धि दी। पहाडको काटकर यह गुफा, इस प्रकार बनी है, मानो व्यवस्थित भवन ही हो। वर्गाकार हॉल, चतुर्दिग् बरामदा, चार प्राकृतिक स्तम्भ, इनपर चित्रकारी, और प्रस्तरोत्कीर्णित चतुष्पद चिह्न प्रेक्षणीय है। ४-५वीके चित्रोकी स्थिति सापेक्षत अच्छी है। इन चित्रोका विशेष परिचय छोटे-से निबधमे देना सभव नही, पर हाँ इतना बिना सकोच कहा जा सकता है कि इन चित्रोमे तात्कालिक भारतीय सगीतके विभिन्न उपकरणोका अच्छा सग्रह पाया जाता है।

साथ ही तत्कालीन सामाजिक सस्कृतिका अच्छा परिचय मिलता है। नृत्य-मुद्राएँ उस समयकी जनसस्कृतिको व्यक्त करती है। यो तो ये सभी चित्र धार्मिक भावनाको लेकर, भिन्न-भिन्न राजाओके समयमे चित्रित किये गये है, पर इनका समाजमूलक दृष्टिकोण, अजताकी अपेक्षा, यहाँ अधिक व्यापक व तादृश जान पडता है। अजतामे सामन्तवादी प्रभाव है तो यहाँ जनवादी प्रभावका अन्यतम सम्मिश्रण है। इन चित्रोमेसे अधिकका विषय, जीवनकी दैनिक घटना है। साथ ही जीवन-दर्शनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, पर अव्यक्त भावोको सफलतापूर्वक व्यक्त करते है और यही तो उच्चकलाका ध्येय है" जैसा कि सर मार्शल[1] के अधिकारपूर्ण विवेचनसे फलित होता है।

---

[1]The artists, to be sure, have portrayed their

बाघके समस्त चित्रोका अधिकारपूर्ण विवेचन सर जॉन मार्शलने **बाघकेव्ज** मे दिया है । चित्रकलाकी यह महत्वपूर्ण सामग्री अजताका सुस्मरण करा देती है । तात्पर्य कि जिन महानुभावोने उन चित्रोका साक्षात्कार किया है, वे अनुभव कर सकते है, कि अजतासे ये किसी भी दृष्टिसे कम सौंदर्य सम्पन्न नही । यहाँका भी कलाकार अपने आन्तरिक भावोत्कीर्णित करनेमे पूर्ण सक्षम था । यही कारण कि उनमे भाव-व्यजनाकी अनुपम शक्ति है ।

सुप्रसिद्ध भारतीय कला मर्मज्ञक श्री हैवेलका अभिमत है कि **"बाघ चित्रोमें औचित्यका बडा ध्यान रखा गया है । कौन-सा अंश कितना बडा और कितना छोटा होना चाहिए, इस बातपर विशेष ध्यान दिया गया है । बड़ी और छोटी वस्तुओंका सम्मिश्रण इस प्रकारसे हुआ है, वे इस अनुपातके साथ बनाई गई है कि आंखोके सम्मुख एक सम्पूर्ण चित्रोका खाका-सा खिच जाता है । इसी कारण बाघके चित्र, चित्रकलाके सर्वोत्कृष्ट नमूने है[1] ।**

---

subjects direct from life-of that there is no shadow of doubt but however fresh and vital the potrayal may be, it never misses that quality of Abstraction which is indispensable to mural decoration, as it is, indeed, to all truly great paintings

The Bagh Caves, Page 17

[1]It is the skill with which the artist has preserved the due relation between the major and minor parts of his design, and welded them together into a rich and harmonious whole, with no apparent effort or straining after effect, which entitle this great Bagh painting to be ranked among the highest achievements of its class.

Bagh Caves, Page 65

नारीका स्थान अजताकी भाँति यहाँपर भी पूर्णतया उन्नत व समर्य्यादि है, जो जीवनकी गतिविधिका परिचायक है। अजताके चित्र परमधार्मिक हैं, तो बाघके चित्र मानव-जीवनसे सम्बद्ध है। धार्मिक है, पर गौण रूपसे। कारण कि अजताके निर्वाणका भी भिक्षुओंके निवासमे, कलाकारोके सासारिक भावना सफलतापूर्वक व्यक्त करनेका अवसर नही मिला, पर बाघमे यह बात नही थी। इसका अर्थ यह न समझा जाना चाहिए कि इन चित्रोमे गाभीर्य नही है। डॉ० जे० एच० कजन्सके निम्नाकित शब्दो पर ध्यान दीजिये—

But while the Ajanta Frescoes are more religious in theme, depicting the incidents from the lives of Budha. The Bagh Frescoes are more human depicting the life of the time with its religious associations In the Bagh Frescoes the humanity of the theme gives free rein to the joy of the Artist, though the general tone is one of gracious solemnity. The aesthetical element which is latent, almost cold in Ajanta, is patent and pulsating in Bagh [1]

Dr. J. H. Kajans

बाघ-गुफाओका निर्माणकाल, प्राच्यतत्ववेत्ताओने लिपिके आधारपर 'गुप्तकाल' स्थिर किया है। अजनाका चित्र साम्य भी इसी युगकी पुष्टि करता है।

सख्या २ वाली गुफाकी सफाई करते समय स० १९८५ मे, महिष्मतीके राजा सुबन्धुका एक ताम्रपत्र मिला था। उसने ये गुफाएँ बनवाकर बौद्ध-भिक्षुको अर्पित की। साथमे पूजाके लिए गाँव भी चढाये। यह घटना

[1] Bagh Caves, Page 73-74

ई० स० ५-६ शतीके आसपासकी मानी जाती है। मूल-ताम्रपत्र अब "गूजरी महल सग्रहालय' मे सुरक्षित है।

बाघके बाद **कन्हरीकी** गुफाएँ आती है। ये **टाँडा** और **बोरीवली** (बम्बई) स्टेशनोसे पाँच मीलके फासलेपर है। छोटी-बडी सब गुफाओकी सख्या १०९ है। ९ वी शती के लगभग इनका निर्माणकाल माना जाता है। इनका सम्बन्ध महायान-सम्प्रदायसे जान पडता है। इन गुफाओमें भित्ति-चित्रोका अकन किया गया था, पर असावधानीने अब तो कतिपय रेखाओके अतिरिक्त और कुछ नही है। गुफाओको सर्व प्रथम-प्रकाशमें लानेका यश साल्ट साहबको मिलना चाहिए। बाघ-अकन पद्धति यो अजतासे साम्य रखती है, परतु यहाँके कलाकार दीर्घ-दर्शी न थे, यदि होते तो आज भी अजताकी नाई उन चित्रोका अस्तित्व सम्यक् प्रकार रहता।

इन गुफाओको सर्वप्रथम प्रकाशमे लानेका यश लेफ्टिनेट डेगर फिल्डको मिलना चाहिए, बादमे डाक्टर इम्पीकर्नल लुआर्डको है। अभी ग्वालियर पुरातत्त्व विभागकी ओरसे रक्षाका समुचित प्रबध है।

तिब्बत

बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकलाके क्रमिक विकास-परपराको समझनेके लिए तिब्बतीय चित्र-कलाका अनुशीलन भी आवश्यक ही नही, अपितु अनिवार्य है। क्योकि तिब्बत और भारतीय चित्र-कलाका घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। बौद्धधर्म जहाँ गया वह अपनी लाक्षणिकताओको भी साथ लेता गया। तिब्बतमे सर्वप्रथम बौद्धधर्म ई० स० ६४० मे नेपाली रानी **खि-चुनके** समय पहुँचा। नेपाल राजकुमारी स्वय अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रेय और ताराकी मूर्तियोके साथ कितने ही स्थापत्य-शिल्पी-(? स्थपति) चित्रकार लायी थी। सभव है इन कलाकारोने वहाँके सामयिक उपकरणोको चुनकर अपनी ललित भाव-धारा बहाकर जन-जीवनको कलात्मक भावनाओसे

ओतप्रोत कर दिया होगा। अभीतक हमने केवल भित्ति-चित्र ही देखे थे। भित्ति-चित्रोंका प्रचार एक दृष्टिसे अच्छा ही था, कारण कि वे ऐसे स्थानोमे अंकित रहते थे, जहापर मानवमात्र उनसे अनुप्राणित हो सकता था, अर्थात् भित्ति-चित्रोंकी बौद्ध परिपाटी एक तरहसे समाजमूलक थी। अब चित्रकला-के उपकरणोमे परिवर्तन होने लगा। अर्थात भित्तिचित्रोंके अतिरिक्त काष्ठ फलक एव स्तम्भोपर चित्र बनने लगे थे। यो तो **हर्षके** कुछ काल बाद नेपाल भी चित्रकलाका एक केन्द्र बना हुआ था। नेपाल उन दिनो कलाकी दृष्टिसे भारतका एक अग था। **चीन व भोटमें** भारतीय कलाका सामजस्य पाया जाता है। हमारा खयाल है कि बौद्धोकी जबतक चित्र विषयक परम्परा कायम रही, तबतक कलाके द्वारा एक दूसरे प्रान्तके लोगोमे सरलतापूर्वक मिला जा सकता था।

ल्हासाके मन्दिरोमे जो चित्र उस समय अकित किये गये थे, वे चीन और भारतीय कलाकारोंकी देन थे। परन्तु उस देशकी जलवायुके कारण वे कलात्मक कृतियाँ आज अनुपलब्ध है। कारण कि तिब्बतमे काष्ठका अभाव रहता था, अत पक्की दीवार बनानेकी प्रथाका सूत्रपात न हो सका। जब-जब पलस्तर टूटने लगता तब-तब वहाँके लोग उसे हटाकर उसके स्थान-पर नूतन चित्र चित्रित करवाते थे। अत स्वाभाविक रूपसे तिब्बतीय प्राचीन भित्ति-चित्र उपलब्ध नही होते। इससे विदित होता है कि मजबूत पलस्तर बनानेकी कलासे तिब्बतके लोग अनभिज्ञ थे। सामयिक परिवर्तन होते ही रहते है। हर युग अपनी समस्या रखता है। कला भी युग-प्रभावसे बच नही सकती। अत तिब्बती चित्रकलामे समय-समयपर बहुत बडे परिवर्तन हुए। हाँ, इतना अवश्य है कि उस कालकी बनी प्रस्तर और काष्ठकी जो मूर्तियाँ उपलब्ध होती है, उनपरसे हम सहजमे ही अनुमान लगा सकते है कि, उन दिनो चित्रकलाकी विकास परम्परा कहाँ तक अपनी जड जमाये थी। शिल्प-चित्रोंका पारस्परिक इतना मेल देखनेमे आता है कि कभी-कभी कहना कठिन हो जाता है कि किससे कौन प्रभावित है।

तिब्बतकी शिल्पकला भी भारतकी तक्षण कलासे बहुत प्रभावित है। इसके दो कारण जान पडते हैं। एक तो यह कि उसके अधिकतर निर्माता शुद्ध भारतीय कलाकार थे, या ऐसे कलाकार थे, जो भारतीय कलाके विभिन्नतम अलकरणोके सौन्दर्यसे प्रभावित थे। दूसरी तिब्बतीय शिल्प-कलामे जो अलकरण व्यवहृत हुए है, वे विशुद्ध भारतीय हैं। तिब्बतीय शिल्प और चित्रकलाके बहुतसे प्रतीक हमने देखे है, उनपरसे हमारा निश्चित मत बन गया है कि विशेषत मागधी शिल्पकलाके तत्व वहाँ बहुत अधिक अशमे विकसित हुए। राजनैतिक इतिहास भी इस बातका साक्षी है। आठ-नौ सदीमे बगाल बिहारके शासक बौद्ध-धर्मके अनुयायी, पोषक और प्रचारक थे। और शिक्षा-दीक्षाके आसनपर बौद्ध-साधु विराजमान थे। **धर्मपाल** (७५९-८०९) के द्वारा विनिर्मित **ओडन्तपुरि**-विहार शरीफके महाविहारके तौरपर ८२३-३५ ई० के बीच बसन्-यस्का विहार बना है। बौद्धभिक्षु भी चित्रकार[1] थे, जिनमे **शान्तिरक्षितके** शिष्य **विरोचन-रक्षित** मुख्य हैं। वे भोट देशके थे। **भोटके** प्राचीन चित्र न मिलनेका एक कारण यह भी जान पडता है, जो वैज्ञानिक भी प्रतीत होता है, वहाँपर चित्रोकी बाहुल्यता तो थी, समाजमे कलाप्रेम भी था, परन्तु कलाभिरुचि होते हुए भी यदि विवेक न हो तो वह प्रेम अज्ञताके रूपमे परिणत हो सकता है। वहाँ दीवालपर ज्यो ही चित्र खराब होने लगते, या मलिन हो जाते, तो तुरन्त ही वहाँके लोग परिष्कारमे लग जाते। फल यह होता कि उन दिनों-की जो मौलिक कलात्मक परम्परा चली आ रही थी, उसकी हत्या हो जाती। उन लोगोका ध्येय केवल इतना ही था कि स्वच्छ चित्र हो, तो रोज उनसे प्रेरणा प्राप्त की जाय। कमी थी केवल कलात्मक कृतियोके प्रेमके

---

[1] ईस्वी पूर्व छठवीं शतीमें चित्रकलाके व्यापक प्रचारको देखकर बुद्धने अपने अनुयायियोंको उसमें प्रवृत्त न होनेकी आज्ञा दी थी, पर बादमें इस परम्पराका अनुसरण नहीं किया गया प्रतीत होता है।

पीछे विवेक की। अत. भोट देशकी प्राचीन चित्रोकी परम्पराके सम्बन्धमें तत्कालीन मूर्तियोसे ही सन्तोष करना पड रहा है। यहाँपर कुछ ऐसे भी चित्र प्राप्त हुए हे जो नेपाल, तिब्बत और भारतमे बने है। बौद्ध-साधुओ द्वारा धार्मिक एकसूत्रताके कारण वे वहाँ पहुँच गये थे।

उपर्युक्त पक्तियोसे प्रमाणित होता है कि भित्तिचित्रो का उत्कृष्ट रूप केवल मध्यकालसे ही मिलता है। यद्यपि तिब्बतमे तो बादमे भी प्रत्येक शताब्दीके भित्ति-चित्र मिलते है जो मठोकी दीवारोपर चित्रित है। उनमेंसे कुछ ऐसे है, जिनपर समय-समय पर ज्यो-ज्यों रग खिरता गया त्यो-त्यो बादके लोग रग भरते गये। परन्तु रेखाएँ प्राचीन मानी जाती हैं। मध्यकालके बाद भले ही भित्ति-चित्रोकी परम्परामे कला सर्वांगीण रूपसे साकार न हो सकी हो, परन्तु वस्त्र एव कागजपर तो बहुतसे ऐसे कलात्मक प्रतीक मिले है, जिनपरसे बिना किसी हिचकके कहा जा सकता है, कि तिब्बतीय चित्रकला जिस रूपमे मध्य-कालसे भित्तिचित्रोमे विराजमान थी, ठीक वैसे ही अभिलषित कालमे, दतपर थी। इस विषयकी पूर्ण विवेचना तो स्वतन्त्र निबन्धका विषय है।

भोजपत्र

अब हम बौद्ध चित्रकलाके उस रूप को ले, जो कागज, तालपत्र, भोजपत्र और काष्ठ तथा वस्त्रोपर पायी जाती है। यहाँपर हम प्रासगिक रूपसे सूचित कर दे कि कलाकार भिन्न-भिन्न समयके उपकरणोको अपनाकर अपनी साधना कर मानव-जीवन एव प्रकृतिके सौन्दर्यको तादृश्य रूपमे उपस्थित करता है। जिस युगकी हम चर्चा कर रहे हे वह पाल युग है। बगाल, बिहारपर उस वशका उन दिनो प्राधान्य था। वे न केवल बौद्ध धर्मके अनुयायी ही थे, अपितु चित्र और शिल्प कलाके परम उन्नायक भी। इस कालकी जो कलात्मक रचनाएँ उपलब्ध होती है उनमे 'प्रज्ञा-पारमिता'की कृतिया ही अधिक है, जिनका सम्बन्ध बौद्धोके महायान सम्प्रदायसे है।

कागजपर तिब्बतमें कबसे चित्र अंकित होने लगे, नहीं कहा जा सकता। लेखन एवं विभिन्नतम चित्रकलाके उपकरणोंका अनुशीलन करनेके बाद विदित होगा कि प्रथम लेखन एवं चित्रकलामें भोजपत्रका उपयोग विशेष रूपसे होता था। प्रथम भुर्जपत्रको ठीकसे काटकर ओपनीसे घोटकर काममें लिया जाता था। अधिक स्निग्ध बनानेके लिए नमकके पानीके छींटे दिये जाते थे। भोजपत्रपर अंकित कृतियाँ बहुत ही अल्प मिलती हैं। अत्यन्त कोमल होनेके कारण तथा एक स्थानसे खंडित होनेके बाद उनकी रक्षा कदली पत्रवत् असम्भव हो जाती है। नागार्जुनकी **योग रत्नमाला** एवं **कारिकावलीकी** दो प्रतियां हमने अपने कलकत्तेके प्रवासमें एक लामाके पास देखी थीं, जिनमें दस एवं सात चित्र थे। इन चित्रोंके चेहरोंपर कुछ मंगोलका प्रभाव पाया जाता है। वह उस देशके मानवरूपका है। अतीव परितापपूर्वक लिखना पड़ रहा है कि क्षुद्र स्वार्थके लिए लामाजीने वह प्रति मेरे मांगनेपर भी न देकर, अमेरिकाके एक प्रोफेसर डा० **विलियम नार्मन ब्राउनको** चार हजारमें बेच दी। ब्राउन साहबने इसका आलेखन काल विक्रमकी ११ वीं शती स्थिर किया था। वर्तमानमें तो भोजपत्रका उपयोग केवल मन्त्र और सिद्धिदायक यन्त्रोंके नामपर उदरपूर्ति करनेवाले ही करते हैं। कश्मीरमें भी कुछ प्रतियाँ भोजपत्रोंपर लिखित पायी गयी हैं।

तालपत्र

तालपत्र भोजपत्रकी अपेक्षा टिकाऊ और लिखनेमें भी सुविधाजनक होते हैं। राजतालके पत्तोंको समान रूपसे सुसंस्कारितकर लकड़ीसे दबा दिया जाता था। घुटाईके बाद लोहेकी कलमसे उसे गोद दिया जाता था। बादमें मषि फिरा दी जाती थी। कभी-कभी स्याहीसे लिखनेकी भी प्रथा थी। इनपर चित्र भी अंकित किये जाते थे, जिनमें लाल, नीला, पीला, सफेद, काला, गुलाबी और सिन्दुरीय रंगका व्यवहार अधिक रूपसे होता

था। **पटना** निवासी कलाप्रेमी **श्रीमान् दीवान बहादुर राधाकृष्णजी जालानके यहाँ** हमने बौद्ध-व्याकरणकी एक ऐसी सचित्र प्रति देखी थी, जिसके पत्र तीन-तीन पत्रोका एक पत्र जैसा लग रहे थे। ठीकसे देखनेपर मालूम हुआ कि प्रतिको अधिक कालतक सुरक्षित बनाये रखनेके लिए किसी स्निग्ध द्रव्यसे पत्रोको सम्पुट कर दिया गया था। चित्र भी बहुत ही मनोरम थे। एक प्रति खडित थी। तालपत्रपरके पालकालीन जो चित्र हमने देखे है, उनका सामजस्य पालयुगीन शिल्प-कलामे दृष्टिगोचर होता है। पालकालीन चित्रोकी यही सबसे बडी विशेषता है कि चित्र और शिल्पकी रेखाओका सूक्ष्मावलोकन करे तो पता चलेगा कि एक ही कलाकारकी दो कृतियाँ तो नही है। यहाँसे जैनोने भी ताडपत्रोको लेखन एवं चित्रकलामे स्थान दिया। जैनोके आलेख-विषय एव शैली भिन्न थे। कलाकारोने इसे **अपभ्रंश शैली** कहा है। जैन-चित्रकलाके तत्त्वोका इतिहास **एलोराकी** शिल्पकलामे अन्तर्निहित है। बौद्धतालपत्रोपर लिखित चित्रोको हमने देखा है। उससे कह सकते है कि तालपत्रपर चित्रकलाका जितना विकास जैनोने किया, उतना बौद्धोने नही। सभव है इसलामके आक्रमणोके कारण बौद्ध-कलाके प्रतीक नष्ट हो गये हो। क्योकि जैनोकी अपेक्षा बौद्ध इसलामके आक्रमणोके भोग अधिक बने थे। तालपत्रोपर जो बौद्ध-चित्र पाये जाते है उनके यो तो कई विषय है, परन्तु उनमे **अवलोकितेश्वर, तारा, वज्र, सिद्ध** एव **बुद्धदेवकी** विभिन्न मुद्राएँ एव प्रधान लामाओके चित्र प्रमुख है। इन चित्रोपर पर्यवेक्षणात्मक दृष्टिसे अध्ययन होना अत्यन्त आवश्यक ही नही अपितु अनिवार्य है। सक्षेपमे इन चित्रोपर इतना ही कहा जा सकता है कि पालयुगीन शिल्प-स्थापत्य-शैलीको समझनेकी सबसे बडी साकार साधन-सामग्री ये चित्र ही है।

पालवशीय नरेश धर्मसे बौद्ध थे। अत उनके द्वारा बौद्ध-धर्माश्रित चित्रकलाका विकास होना स्वाभाविक था। सूचित समयमे—अर्थात् जब भित्तिचित्रोकी परपरा अन्तिम साँसे ले रही थी, तब ग्रन्थस्थ चित्रकला पूरे

जोरसे पनप रही थी। इसका कारण उस समयकी सामाजिक व आर्थिक स्थिति भी थी। बगाल, बिहार और नेपालमे १०वी शती तक"**प्रज्ञापारमिता** की कलात्मक प्रतियोका सृजन खूब हुआ। इनका नाप २४½"×२½" होता था। इन प्रतियोमे व रक्षार्थ बाँधी जानेवाली काष्ठ पट्टिकाओपर जो चित्र अकित रहते थे, उनमे मुख्यत देवदेवी व महायान—सम्प्रदाय मान्य भाव-चित्र थे। हाँ, किसी-किसी प्रतिमे बुद्धदेवके जीवनकी बोधप्रद घटनाएँ व जातकोके शिष्ट व आकर्षक भाव भी दृष्टिगोचर होते है। नेपालकी चित्रकलापर भी पाल प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है। इसका कारण धर्म साम्य ही ज्ञात होता है। तिब्बतीय प्रभाव भी उन दिनो नेपालमे कम न था। **स्रोङ्चनगबोने** अपनी एक पुत्री नेपाल ब्याही थी। वह बौद्ध थी। ई० स० ७४७मे तिब्बतका निमत्रण पाकर, **नालंदा** विश्वविद्यालयके आचार्य **शान्तिरक्षित** तिब्बत गये थे। तदनन्तर **दीपंकर श्रीज्ञान,** जो **विक्रमशिला** विश्वविद्यालयके आचार्य थे, १०४०-४२ मे तिब्बत गये थे। भारतीय धार्मिक इतिहाससे स्पष्ट सिद्ध है कि उसने कलाके विकासमे बडा योग दिया है। उपर्युक्त आचार्यों द्वारा भारतीय कला तत्त्व भी तिब्बत पहुँचा, और क्रमश विकसित हुआ। १० वी से १२ वी शतीके तिब्बत व नैपालके चित्र प्रतीकोपर दृष्टि केन्द्रित करे तो ज्ञात हुए बिना न रहेगा कि पाल कलाका प्रभाव उभयदेशीय प्रतीकोपर कितना पड़ा है। यहीसे, इस शैलीने चीन व मगोलियाकी ओर प्रस्थान किया, पर भारतीयता बनी रही।

नैपालमे चीनी प्रभाव भी है, मगोल भी। इसका कारण है नैपाली मनुष्योका रूप।

प्रसगत एक बातका उल्लेख करना अत्यावश्यक जान पडता है कि पालकालीन चित्र व मूर्तिकलापर अजताका खूब ही प्रभाव है। **बौद्धविज्ञ तारानाथ**का यह उल्लेख मूल्यवान् है कि "जहाँ-जहाँ बौद्धधर्म था, वहाँ सापेक्षत कलाका ह्रास कम हुआ"।

काष्ठ

यद्यपि काष्ठ कठोर है, परन्तु कलाकारोंकी दुनियामें वह भी समादृत हुआ। भारतीय गृह-निर्माण कलामें तो काष्ठका स्थान शताब्दियोंसे उच्च रहा है और आज भी कुछ प्रान्तोंमें है। तालपत्रकी प्रतियाँ सुरक्षित रखनेके हेतु उनके दोनों ओर काष्ठ लगाकर मध्य भागमें रस्सीसे पिरोकर रक्खी जाती थी। उन दिनों कला भारतीय जनजीवनमें इतनी ओतप्रोत थी कि ये पट्टिकाएँ भी कलाका प्रतीक बन गईं। उनके भीतरी भागको सस्कारित कर किसी विशेष ढग द्वारा पृष्ठभूमि बनाकर चित्रांकनकी पद्धति थी। तिब्बतमें तालपत्रके बाद जब कागज युग आरभ होता है तब कागजोंको भी उतनी ही लम्बाई और तालपत्रोंसे चौगुनी चौडाईसे काटा जाता था। तदुपरि जो पट्टिकाएँ सुरक्षाके निमित्त रक्खी जाती थी वे तालपत्रकी प्रतियोंकी अपेक्षा अधिक मोटी हुआ करती थी। इनके ऊपरी भागमें बौद्ध सस्कृतिसे सम्बन्धित विशिष्ट प्रसगोंका उतखनन रहा करता था, ग्रन्थ रखनेके लिए छोटे-मोटे जो डिब्बे बनवाये जाते थे वे भी कलापूर्ण हुआ करते थे। उपर्युक्त **जालान** महोदयके सग्रहमें हमने एक अत्यन्त विशाल धर्मासन देखा जो विशुद्ध काष्ठका एव भगवान् बुद्धकी जीवन-घटनाओंसे अंकित था। यह तिब्बती चित्रकलाका उत्कृष्ट प्रतीक था। इसकी खुदाई इतनी आश्चर्यजनक है कि बारीकतका प्रदर्शन कलाकारने बडी कुशलताके साथ किया है। पुष्पोंकी पखुडियाँ एव लताएँ बहुत स्पष्ट है। कलियोंका स्पष्टीकरण आश्चर्यजनक है। इसपरसे उन दिनोंकी उद्यान-सस्कार कलाका भी सूक्ष्माभास मिल जाता है। इसपर स्वर्णका काफी काम है। काष्ठफलकोंपर अन्यत्र भी स्वर्णका कलात्मक प्रयोग देखा जाता है। बर्माके राजसिंहासनसे कौन अपरिचित होगा।

कागज

समयके साथ कलाके तत्त्व और उपकरणोंमें भी परिवर्तन हुआ करता

है। ज्यो-ज्यो कलाकारोके सम्मुख नवीन एव सुविधाजनक उपकरण उपस्थित होने लगे त्यो-त्यो कला अवनतिके गर्तमे पडती गई। कलाकारोंकी कल्पना-शक्ति कुठित हो गई। उनके हृदयमें कलाके वास्तविक तत्व न रह गये। उनका चिन्तन-प्रदेश अत्यन्त सीमित हो गया। सुकुमार भावनाओका स्थान कठोरताने ले लिया। स्पष्ट कहा जाय तो उन दिनोका कलाकार पारस्परिक सस्कारोसे किचत् ही प्रभावित था। अत उनके हृदय व मस्तिष्क भावनाविहीन थे। केवल हस्त ही काम कर रहे थे। कागजपर कलाकारको तालपत्रकी अपेक्षा आन्तरिक सात्विक मनोभावोको व्यक्त करनेका अधिक स्थान मिलता है। परन्तु जब वस्तु आती है तब परिस्थिति या वायुमडल प्रतिकूल रूप धारण कर लेता है। कागजपर लिखे हुए जो बौद्ध-चित्र-कलाके ग्रन्थ उपलब्ध हुए है उन्हे हम अपनी सुविधाके लिए तीन भागोमे बॉट दें तो अनुचित न होगा।

(१) प्रथम भागमे हम उन ग्रन्थगत चित्रोको ले सकते है जो आकृतिमे तालपत्रीय ग्रन्थोका अनुधावन करते है; अर्थात कटाई-छटाई उसीके अनुरूप है। इन कागजपर पाये जानेवाले चित्रोमे केवल रग-वैचित्र्य ही पाया जाता है। परन्तु रेखाओमे वह सौन्दर्य नही है जो सर्वसाधारणको आकृष्ट कर सके। इसीलिए बौद्ध चित्रकला कागजपर अवतरित होकर ह्रासोन्मुख हो गई। इन कागजोपर स्वर्णकी स्याहीका भी उपयोग किया जाता था। रगोमे तालपत्रके अतिरिक्त हरा, बैगनी आदि रगोका भी व्यवहार काफी था। हॉ रग जितने चमकीले थे उतनी ही रेखाएँ भद्दी थी।

(२) द्वितीय विभागमे उन ग्रन्थोको लिया जा सकता है जो कागजपर विशिष्ट रूपसे लिखित थे। बर्मा और तिब्बतके कुछ हिस्सेमे ऐसी परिपाटी रही थी जो कागज या तालपत्रोपर चमडेकी मोटी पालिश कर कलाकार लिखने योग्य बनाते थे। ये सबसे अधिक टिकाऊ और कलाकी दृष्टिसे मूल्यवान् है। कालकारको अपनी समस्त भावनाओको व्यक्त करनेकी

काफी गुंजायश है। इन ग्रन्थोंको चित्रकलाकी कोटिमें हम इसीलिए गिन रहे हैं कि ये ग्रन्थ लेखनकला प्रधान होते हुए भी उनपर जो बेल-बूटे और कलात्मक भावमूलक रेखाएँ पाई जाती हैं वे अन्यत्र नहीं मिलती। इन ग्रन्थोंमें चित्र भी इस प्रकार सुरक्षित रहे हैं कि मानो अभी ही इनका निर्माण हुआ हो। इस कलामें बर्मा सबसे आगे रहा। वहाँपर पत्रोंको मजबूत करनेके लिए चमड़ेका भी प्रयोग किया जाता था।

(३) तृतीय भागमें वे ग्रन्थ लिये जा सकते हैं जिनका आलेखन तिब्बतमें हुआ। कलाकार इन पूरे कागजोंको काले या किसी अनुकूल रंगसे रँग लेते थे। बादमें स्वर्ण या किसी स्याहीसे लिखते थे। इनमें जो चित्र पाये जाते हैं वे काफी छोटे होते है। परन्तु फिर भी बौद्ध-ग्रन्थ चित्रकलाका प्रतिनिधित्व करनेकी उनमें क्षमता है। जैनोंमें भी कागजो-को रँगकर स्वर्णकी स्याहीसे लिखनेकी परिपाटी रही है।

कागजपर बौद्ध-चित्रकलाके प्रतीकोंपर जहाँ तक हमारा खयाल है न तो समुचित अध्ययन ही हुआ है और न प्रकाशन ही। जहाँ तक चित्र-कलाका प्रश्न है कागज युग बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि कागज युगमें कलाकी आराधना न केवल सामन्त वर्ग ही करता था अपितु साधारण जन भी कला-कृतियोंसे अपने गृहोंको सुशोभित कर अपनी कला-पिपासा तृप्त करते थे। इस विभागमें हम उन विस्तृत कागज-पटोंको ले जो तिब्बत-में आज भी बहुतायतसे पाये जाते हैं। पत्र वेष्टनात्मक कृतियाँ खास तौरसे चित्रलेखनके लिए ही निर्मित हुआ करती थीं। जहाँ तक हमारा खयाल है इस प्रकारकी कलात्मक कृतियोंके पीछे बौद्ध साधुओंकी सुविधाओं-का लक्ष्य ही प्रतिध्वनित होता है। साथ ही साथ अधिक काल तक सुरक्षित भी उन्हीं उपकरणोंके द्वारा चित्रोंको रक्खा जा सकता था। काष्ठ, बाँस या टिनके डिब्बे भी केवल इन्हींके लिए तिब्बतमें बनाये जाते थे। जिनपर वहाँका प्राकृतिक सौन्दर्य अंकित रहा करता था, ऐसे नमूने आलान संग्रहालयमें सुरक्षित हैं। कभी-कभी बौद्ध लोग चमड़ेको भी चित्रकलाका

उपकरण बनाते थे। कलकत्तेके लामाके पास एक चित्र हमने इसी पद्धतिका देखा था।

वस्त्र-चित्र

भारतीय चित्रकलाके इतिहासमें वस्त्रोपरि आलेखित चित्रोंका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निश्चित नहीं कहा जा सकता कि सर्वप्रथम वस्त्रोपर चित्रालेखन-पद्धतिका विकास कबसे हुआ और किस देशमें हुआ। भित्ति-चित्रोंके बाद कलाकारोंको अपने भाव व्यक्त करनेका पर्याप्त स्थान वस्त्रोंमें ही मिला। तिब्बत और भारतीय चित्रकलाके उत्कृष्ट प्रतीक वस्त्रोंपर ही पाये जाते है। इस प्रकारकी चित्रांकन-पद्धतिका विकास किस शताब्दीमें भारत या तिब्बतमें अधिक हुआ, इसका विचार कर लेना आवश्यक है। क्योंकि भारतमें जो चित्रपट उपलब्ध हुए हैं, वे तेरहवी शताब्दीके बादके हैं। तिब्बतसे प्राप्त चित्रपटोंका अध्ययन हमने प्रत्येक कालके शिल्प, स्थापत्य कलाके प्रतीकोंके साथ तुलनात्मक ढगसे किया है। अत निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भारतकी अपेक्षा वस्त्रोपर चित्रकलाका विकास तिब्बतमें ही प्रथम हुआ, जिसका ठीक सवत ज्ञात न होनेपर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध कालसे ही तिब्बतीय बौद्ध-भिक्षु या कलाकारोंने वस्त्रको कलाका उपकरण मान लिया था। वस्त्र भी एक प्रकारसे यदि भित्तिचित्रका प्रतीक मान ले तो अत्युक्ति न होगी। वस्त्रपर चित्रकलाका विकास सभवत इसलिए भी हुआ हो कि दीवालपर देशकाल प्रभावके अनुसार रग-रेखाएँ मिटनेके कारण चित्रोंकी दशा दयनीय हो जाती थी। अत कलाकार वस्त्रपर प्रासगिक आलेखन कर दीवारपर लटका देते होगे। सुरक्षाकी दृष्टिसे भी वस्त्र बिलकुल उपयुक्त है। वस्त्रपर चित्रांकन करनेकी पद्धति तिब्बत और भारतमें प्राय- एक-सी रही है, विकास-काल अवश्य भिन्न रहा। सर्वप्रथम वस्त्रपर बहुत पतली चावलकी लेई या

गाढ़ा माड़ बनाकर लेप कर दिया जाता था और छाँहमे सूखनेके लिए रख दिया जाता था। धूपमें सुखानेसे कडा हो जानेका भय था। तदनन्तर ग्रोपनीसे पानीके छींटे देकर वस्त्रकी घुटाई की जाती थी। बादमे बाँसकी चारो ओर कमचीसे वस्त्रको रखकर चित्र बनाये जाते थे।

बौद्ध-चित्रकलासे सम्बन्धित जितने भी उच्चतम कलापूर्ण प्रतीक उपलब्ध हुए हे उनमे ग्रन्थापेक्षया चित्रपटोका स्थान बहुत ऊँचा और रग-वैचित्र्य सूक्ष्मता, सुकुमारता, रेखाएँ आदि अनेक दृष्टियोसे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। रेखाएँ किसी भी देशकी चित्रकलाकी आत्मा है, रग देह। परन्तु यहाँ दोनोका सौन्दर्य प्रतिबिम्बित हुआ है। रेखाओंके विकासमे बौद्ध कलाकार बहुत आगे रहे है। एक-एक रेखामे चित्रकी आत्मा बोलने लगती है। वस्त्रपर चित्र-आलेखनके भी कई प्रकार हुआ करते थे। कुछ चित्र ऐसे मिलते है जिनकी लम्बाई चौबीस फुटसे कम नही। इस प्रकारके चित्र अधिकतर बोधिसत्त्व, मारविजय एव सिद्धोंके ही मिलते है। जहाँतक हमारा अनुमान है इन चित्रोको मन्दिर, मठ या किसी श्रीमन्तके खास घरानोमे सजानेके काममे लाते होगे। चारो ओर जरीका काम देखा जाता है। **इण्डियन म्यूजियमकी आर्ट गेलेरीमें** जाकर देखिए तो पता चलेगा कि बौद्ध वस्त्र-चित्रण कितने सुन्दर पाये गये है जिनमे से बहुतोका निर्माण नैपाल एव तिब्बतमे ही हुआ है। हम कल्पना कर सकते है कि भारतमें भी इस पद्धतिका प्रचलन विक्रमकी नवी या दशवी शताब्दीमे अवश्य ही रहा होगा। असम्भव नही कि दीपकर श्रीज्ञान जब तिब्बत गये तब कलात्मक प्रतीक या वैचारिक परम्परा ले गये थे, एव इसी पद्धतिका पूरा विकास धर्मका सहारा पाकर भोट, तिब्बत और नैपालमे हुआ हो।

कलकत्तेके सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ स्वर्गीय **बाबू पूर्णचन्द्र** नाहर एम० ए० बी० एल० तथा कलाप्रेमी स्व० बाबू **बहादुरसिंहजी सिंघीके** सग्रहमे बौद्ध चित्रकलाके अच्छे प्रतीक सुरक्षित है जिनमे सिद्धो, गन्धकुटी, बुद्धदेवका सम्पूर्ण जीवन और ऐसे ही कुछ विशिष्ट प्रसगो-लाभादिकोका अकन

सन्निविष्ट है। जहाँतक हमे स्मरण है बौद्ध वस्त्र चित्रकलापर अभीतक समुचित अन्वेषण नही हुआ है, न भारतीय कलाप्रेमी विद्वान् ही इस ओर अभीतक आकृष्ट है। गतवर्ष मुझे छ मास पटनामें रहनेका सुअवसर मिला था। वहाँके सुप्रसिद्ध नागरिक श्रीमान् राधाकृष्णजी जालानने अतीव परिश्रम करके कपडेपर आलेखित चित्रोका जैसा सुन्दर और चुनिन्दा सग्रह किया है, भारतमे वह सचमुच अनुपम है। तेरहवी शताब्दीसे लगातार अठारहवी शताब्दी तककी बौद्धकलाका जीवित रूप उनमे सुरक्षित है। हमने इनको सरसरी तौरसे देखा तो भी ढाई माससे अधिक समय देना पडा। यदि कोई पारखी कलाकार उनकी रग-रेखा और तत्कालीन शिल्प-स्थापत्यकी रेखाओंके साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करे तो सुनिश्चित रूपसे कलाके क्षेत्रकी एक दिशा अवश्य ही आलोकित हो उठेगी। उपर्युक्त चित्रोका महत्त्व चित्रकलाके समस्त अगोकी दृष्टिसे अकित किया जाना चाहिए। बारहवी और तेरहवी शताब्दीके कुछ ऐसे भी पट हे जो बने हे नैपालमे, परन्तु उनमे भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलाके तत्त्व बिखरे पडे है। यहाँपर सहज ही राहुलजीकी निम्नाकित पक्तियाँ याद आ जाती है।

"तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दीका एक बड़ा संग्रह सपोल-खड्ग (ल्यांचिके पास)में है। सपोल-खड्गका एक चित्रपट तो बिलकुल भारतीय जान पड़ता है। इन चित्रोपर भारतीय चित्रकलाकी भारी छाप है। उस शताब्दीके दो दर्जन सुन्दर चित्रपट स-सक्य मठके गु-रिम-ल्ह-खड्गमें है।"[1]

उन दिनो तिब्बतमे स्वर्णका उपयोग भी बहुतायतसे होता था। उपर्युक्त सग्रहमे कुछ ऐसे भी पट हे जिनकी लम्बाई ७५ फीटसे कम नहीं। इनमे कुछ प्रसग ऐसे है जो समझमे नही आ सकते। जातक कथाओका भित्तिचित्रोपर अकन मिलता है, परन्तु इन वस्त्रपटोपर भी बहुत-सी जातक

---

[1] **राहुल सांकृत्यायन—'तिब्बतमें चित्रकला' (निबन्ध)**

कथाओंके भाव अंकित हैं। इनमें एक वस्त्रपट हमने ऐसा देखा जिसकी लम्बाई ५० फीटसे कम नहीं। आश्चर्य इस बातका है कि यह मुगल कलाका प्रतिनिधित्व करता है। पगडी शुद्ध मुगल है और स्थान-स्थानपर भगवान् बुद्ध अपने अनुयायियोंके बीच उपदेश देते हुए बताये गये हैं। कहीं पहाडोंमें साधु-सन्यासी उपदेश देते बताये गये हैं। हो सकता है कि वे सिद्ध ही हों और तप कर रहे हों। नित्य पर्यटन होता है। तम्बू लगे हैं, अश्व एवं हाथियोंपर मुगलकालीन आभूषण पहने नागरिक विराजमान हैं। अन्त भागमें सुविस्तृत नागर शैलीका शिखरयुक्त मन्दिर भी दृश्यमान है। इन सब भावोंका धार्मिक महत्त्व चाहे जैसा भी हो, परन्तु हमारे लिए तो सबसे विचारणीय समस्या यह है कि मुगलकालीन कलाकारोंके द्वारा इस कृतिका निर्माण कहाँ, क्यों, कैसे और किसलिए हुआ ? कारण कि मुगलोंके समयमें बौद्धोंका अस्तित्व नहींके बराबर था। यह एक ऐसा चित्रपट है जिसपर कलाकारोंको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। इतना तो निश्चित कह सकेंगे कि इस पटका सम्बन्ध जैन-संस्कृतिसे नहीं है। कारण बहुत स्थानोंपर उसमें बुद्धदेवकी विभिन्न मुद्राएँ प्रदर्शित हैं, जिसपर नैपालका भी कुछ प्रभाव है। जैसे कि चपटी नासिका, प्रत्येक चित्रके अधो भागमें गद्य-पद्यात्मक उल्लेख भी देवनागरी लिपिमें हैं, पर ये अस्पष्ट हैं। एक बात अवश्य समझमें आ सकती है कि पट काँगडा कलमका नमूना हो, या उसका प्रारम्भिक रूप हो। उपर्युक्त पटोंमेंसे यद्यपि कुछ तो विशुद्ध धार्मिक हैं, अवशिष्ट तन्त्रोंसे सम्बन्धित हैं। इनमें कुछ ऐसे भी भयंकर चित्र हैं जिन्हें देखकर भय लगता है। कुछ चित्र अश्लील भी हैं। उपर्युक्त संग्रहमें कुछ वस्त्र चित्र ऐसे हैं जिनको दूरसे देखनेसे पता चलता है कि वे रंग रेखाओंसे समलंकृत हैं, परन्तु सचमुचमें उनकी बनावट ही ऐसी है कि मानो तूलिका द्वारा ही आलेखन हुआ हो। इस प्रकारकी बनावट भारतमें भी सत्रहवीं शतीमें थी। वर्तमानमें भी बालिकाएँ इस प्रकारकी कलाका प्रदर्शन किया करती हैं।

चौदहवी शताब्दीके बाद वस्त्रोके ऊपर चित्र बनानेकी पद्धतिका विकास पश्चिमी भारतके जैनोंने ही किया। उन दिनो बौद्धधर्म क्षतविक्षत हो चुका था। तिब्बतमे उपर्युक्त कालमें भी कलाकी आराधना पूर्ववत् पाई जाती है। पीली टोपीवाले सम्प्रदायके मठोमे इस प्रकारकी कलात्मक सम्पत्ति पर्याप्त रूपसे पाई जाती है। भिक्षु एव भिक्षुणी भी खास तौरसे चित्रकलाका अभ्यास करनेमे गौरव समझते थे। सत्रहवी शताब्दीमें तिब्बतमे अनेक चित्रकार उत्पन्न हुए। इन चित्रकारोंने भित्तिचित्रोंकी परम्पराको सुरक्षित रखा, अर्थात् पूर्वोल्लिखित रेखाओंपर ही अपनी तूलिका चलाते रहे। सत्रहवी शताब्दीका तिब्बतीय चित्रकलाका प्रतिनिधित्व करनेवाला एक वस्त्रपट हमारे अवलोकनमे आया, जिसके परिचय देनेका लोभ सवरण नही किया जा सकता। पटमे धारिणी बोधिसत्त्वकी विभिन्न मुद्राएँ अकित है। यो तो पटमे लाल, भूरा, बैगनी, हरा, श्याम, गेरुआ आदि कई रगोका व्यवहार कलाकारने उत्तम ढगसे किया है, फिर भी नीले रगकी पृष्ठभूमिमे जो तादृश्यके चित्रके लक्षण भासित होते हैं सम्भवत वे अन्यत्र न मिलेगे। चारो ओर उठे हुए घनघोर बादल सरोवरमे खिले कमल पटका प्राकृतिक सौन्दर्य और भी बढा देते है। बुद्धदेवकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रचलित मुद्राओमेसे अट्ठारह प्रधान मुद्राओका साक्षात् परिचय इसमे मिलता है। उपर्युक्त उभय भागमे कई विशेष व्यक्तियोके चित्र उल्लिखित है। चित्रित मुद्राओमे चित्रित की गई भाव-भगिमाएँ अनेक तरहके भाव-प्रदर्शन बडी सूक्ष्मतासे कराती हैं। मध्य भागमें विशाल चक्राकार यन्त्र बना हुआ है जिसके चारो ओर बौद्धधर्म मान्य तान्त्रिक देव-देवियाँ अकित है। किसीका वाहन शूकर, किसीका मुँह शूकर, कोई साँपपर तो कोई अग्निपर, कोई शान्त तो कोई रुद्र, कोई व्यग्र और कोई ध्यानमग्न है, किसीके वस्त्र गिद्ध खीच रहे है, कोई हाथ जोडकर नमस्कार करता है। कहनेका तात्पर्य कि यह चित्र क्या है, नव रसोका-सामूहिक सकलन है। कलमकी सूक्ष्मता, रगोका वैविध्य, रेखाओंकी

विलक्षणता और सौष्ठव किस कलाप्रेमीको अपनी ओर खीचकर अनिर्वच-नीय आनन्दके सागरमे नही डुबो देगी। तदनन्तर वर्तुल मडलोमे अलग-अलग तान्त्रिक शक्तियोके साथ गणेशजी भी तोद फुलाए बैठे हैं। चतुर्दिक रगोसे इष्टिकाकृति सूचक रेखाएँ बनी है, मानो मणि रत्नोकी दीवार ही हो। तदुपरि विशाल छत्रके निम्नभागमे धर्मचक्र है जिसमे दोनो ओर मृग आश्चर्यान्वित मुद्रामे ताक रहे है। आठो ग्रासके मुख एव उनमेसे निकली शिल्पाकृतियाँ बहुत ही सुन्दर तादात्म्य सम्बन्धको व्यक्त करती है। यद्यपि ग्रास भारतीय कलाका प्रतीक माना जाता है, परन्तु तिब्बतमे भी उसने काफी प्रतिष्ठा प्राप्त की। मडलमे कलश, अव्यवस्थित वस्त्रा-कृतियाँ-मयूर पख आदि है। मध्य भागमे धारिणी देवी शान्त मुद्रा किये अगणित हस्त फैलाये मस्तकपर पारम्परिक छ छत्र धारण किये हुए अवस्थित है, जिसके बाएँ भागमे बीभत्स रसोत्पादक चित्र है। तन्निम्न भागके छोटेसे हिस्सेमे भारत एव तिब्बतमे पाये जानेवाले कमसे कम एक सौसे अधिक प्रसिद्ध पशुओके चित्र इस तरहसे अकित है कि मानो ज्यूओलोजिकल गार्डेन तो यहाँ नही उपस्थित हो गया। चार इच जैसे सीमित स्थानमे इतना विपुल अकन अन्यत्र आज तक हमने नही देखा। नीचे भागमे क्षीणकाय व्यक्ति अर्ध सुषुप्त है। मडलके निम्न भागमे बैलो एव घोडोपर महा-बीभत्स मुद्राधारी एव हाथमे शस्त्रास्त्र धारण किये कुछ यक्ष-यक्षणी दिखाई पडती है। इतने बडे कलात्मक पटमे अश्वका अकन ही अखरनेवाली चीज है। अत्यन्त विशाल मुख, लम्बे और मोटे कान, भद्दी गर्दन, यह बेहूदा पशु सम्भव है तिब्बतके टट्टूका ही प्रतिनिधित्व करता हो। सम्पूर्ण पटका कला और तन्त्रशास्त्रकी दृष्टिसे अवलोकन करनेके बाद विचार बँध जाता है कि कलाकारका अभीष्ट विषय तिब्बतमे प्रचलित तन्त्रसे है। सम्पूर्ण पट बोर्डरोकी दृष्टिसे एव तत्कालीन तिब्बतमे प्रचलित वस्त्रो-की दृष्टिसे बहुत सुन्दर सामग्री उपस्थित करता है। कलाकारने हृदय, मस्तिष्कके सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारोत्तेजक भावोको रग, रेखा और तूलिका

द्वारा लघुतम वस्त्रपर लिखकर उस समयकी उच्चतम कलाका आभास कराकर सचमुच अपनेको अमर कर दिया है। पटकी एक भी रेखा ऐसी नही जो भाव विहीन हो। इतने विवेचनके बाद यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस कृतिका निर्माण-काल क्या हो सकता है ? तिब्बतीय कलाकार किसी भी कृतिमे अपना नाम न देते थे और न चित्राकन समय ही। परन्तु सौभाग्यसे इस पटमे प्रत्येक तन्त्र सम्बन्धी प्रतिमाके पश्चात् भागमे परिचयार्थ कुछ पक्तियाँ पाई जाती है जो हिंगूलसे उल्लिखित है। हमारे स्वर्गीय मित्र डा० बेनीमाधव बरुआने इन अक्षरोका काल सत्रहवी शताब्दीका प्रथम चरण स्थिर किया था। यह वस्त्र-पट राजपूतानाके एक जैन उपाश्रयमे था, अभी श्रीभँवरलालजीके पास है। अठारहवी शताब्दीके अधिकतर वस्त्रचित्र लामाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले मिलते है। आज भी तिब्बतमे चितेरोकी कमी नही, परन्तु उनमे मौलिक तत्त्वोका विकास न होकर केवल प्रतिकृति मात्र करनेकी क्षमता ही रह गई है।

उपर्युक्त जिन उपकरणोकी चर्चा हमने की है, इनके आन्तरिक और भी प्रतीक जो पाये जाते है वे हमारे ध्यानसे बाहर नही है, जिनमे मृत्तिकाके भाजन एव बौद्ध भिक्षा-पात्र आदि प्रमुख है। अत्यल्प सख्यामे उपलब्ध होनेके कारण यहाँपर उनका उल्लेख नही किया जा रहा है। केवल एक बुद्ध-पात्रका हम यहाँपर इसलिए उल्लेख करेगे कि उनका कलाकी दृष्टिसे बहुत बडा महत्त्व है। यह पात्र पटनाके जालान सग्रहालयमें सुरक्षित है। इस पात्रका निर्माण बेतसे हुआ है। उसपर चमडा लगाकर सोनेका काम किया गया है। ढक्कनकी आकृति इस प्रकार बनी हुई है मानो कोई बौद्ध स्तूप ही हो। आज भी बर्मामे जो बौद्ध पात्र निर्माण किये जाते है उनमे अनेक प्रकारकी रेखात्मक आकृतियाँ खँचित रहती है।

उपर्युक्त लम्बे विवेचनके पश्चात् यह कहनेकी आवश्यकता नही कि बौद्ध लोग कलाकी जीवन-साधना करनेमे अन्यापेक्षया कितने अग्र थे। वर्तमान कालमें भी सारनाथ स्थित जापानी मन्दिरमे कोसेट्सूनोत्सूकी जो

एक बौद्ध चित्रकार थे, सफल तूलिका द्वारा भगवान् बुद्धदेवके विशिष्ट एवं लाक्षणिक प्रसगोका भित्तिपर जो आलेखन १९३२से ३८ तक अंकित किया गया है, वह निस्सन्देह बौद्धाश्रित चित्रकलाका वर्तमानकालीन सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। इन चित्रोके सामने मनुष्य स्वाभाविक रूपसे क्षणिक आवेशमे ही आत्म-समर्पण कर डालता है। जापानी कलाकारकी कृति होनेके बावजूद भी एक प्रकारसे वे भारतीय चित्रकलाके दिव्य स्तम्भ है। इन चित्रोपर हमे अजटाका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है, अत यहाँ सक्षेपमें ही सन्तोष करेगे। प्रासगिक रूपसे शान्तिनिकेतन स्थित चीना भवनके विशाल भवनमे मास्टर (मोशाय) श्रीमान् नन्दलाल बोस द्वारा अकित मारविजयके विशाल चित्रको हम कदापि नही भूल सकते।

वर्तमान कालमे बौद्धाश्रित चित्रकलाके निर्माणकी अपेक्षा गवेषणात्मक तथा समीक्षात्मक कार्य ही अधिक हुआ है।

२७ मार्च १९४९

महाकोसलके जैन-भित्तिचित्र

प्राचीन भारतीय इतिहासमे कोसल अत्यन्त प्रसिद्ध जनपद रहा है। भारतवर्षकी सस्कृतिका प्रधान केन्द्र भी। महाकोसल, जिसे प्राचीन साहित्यमे दक्षिणकोसल कहा गया है, वर्तमानमे मध्यप्रदेशका एक उप-विभाग है। प्राकृतिक-सौन्दर्य-सम्पन्न गिरिकन्दराओसे विभूषित यह भूभाग शैलश्रृग, सर, निर्झर, जलप्रपात, विजनवन, पर्वत आदिके लिए अत्यन्त विख्यात है। यहाकी प्राकृतिक शोभा कमनीय काननकी सहचरी ही नही, किन्तु वाग्देवीकी वीणा-झकार और कलाकिन्नरीके विलास-विहारसे भी समलकृत है। कही गुफा-मन्दिर कविकीर्ति कीर्तनकी ओर सकेत कर रहे है तो कही **गिरिगृह** साहित्य, सगीत और कलाके महत्त्वपर मूक गर्व कर रहे है। कही विशाल एव प्रकाण्ड प्रस्तर-फलक प्राचीनतम चित्रकारीका माधुर्य प्रकट कर रहे है तो कही मानव-जातिकी आदिलिपि-की उत्पत्ति—सूचनाकी ओर प्रकाश-रेखा प्रदर्शक गिरि-शिला भित्ति अवस्थित है। व्याघ्र, भाल एव वनैले हाथियोके क्रीडास्थल इन घनघोर विजन अरण्योमे विषधर सर्प, वृश्चिक एव मधुमक्खियोके काल-दशनके भयसे ऐसे समस्त गिरि-गुहा, शिला-भित्ति इत्यादि अद्यावधि महा भयकर और दुर्गम बने हुए है।

उपर्युक्त पक्तियोसे स्पष्ट है कि महाकोसल प्रकृतिगत सौन्दर्यसे न केवल ओतप्रोत ही रहा है, अपितु समसामयिक उपादान द्वारा प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारोने बिखरी हुई सौन्दर्य-छविको जन-समूहतक पहुँचाने-का भी सफल श्रम कर सास्कृतिक कार्यकी सुदृढ शिला स्थापित की है। स्पष्ट शब्दोमे कहा जाय तो मुस्लिम इतिहासकारोका **गोंडवाना** पुरातन कालमे सस्कृति, प्रकृति और कलाका अनुपम

सगमस्थान था। जैसा कि पाये जानेवाले प्राचीन ध्वसावशेषोसे फलित होता है !

सस्कृति एव सभ्यताकी इतनी विराट् ठोस एव विचारोत्तेजक सामग्री रहनेके बावजूद भी पुरातत्त्व एव इतिहासविदोकी दृष्टिमे इस भूखण्डका महत्त्व नगण्य-सा ही रहा है ! कारण स्पष्ट है ! दुर्भाग्यसे इस भूभागका ऐतिहासिक अन्वेषण एव प्राप्त साधनोका परीक्षण समुचित रूपसे आग्ल शासनमे तो नही ही हुआ, पर स्वाधीन भारतमे भी इसकी घोर उपेक्षा की जा रही है ! मुझे इस भूखण्डमे अन्वेषण करनेका कुछ अवकाश मिला है, उसपरसे मै निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि यदि यहाँका प्राचीन इतिहास तैयार किया जाय तो निस्सन्देह मानव सस्कृति विषयक अनेक नूतन तथ्य प्रकाशित होगे।

भारतीय सस्कृतिका मुख्य ध्येय आध्यात्मिक विकास रहा है और वह बिना सासारिक वृत्तियोका पूर्ण त्याग किये सभव नही। मानवकी इच्छाओका अन्त नही है। श्रमणसस्कृति इच्छाके नाशपर जोर देती है। वह पार्थिव सौन्दर्यमे तल्लीन हो जानेकी अपेक्षा आत्मिक सौन्दर्य उदबुद्ध करनेको उत्प्रेरित करती है। अत अनन्तसौन्दर्यकी समुचित साधनाके लिए तृष्णावर्धक स्थानोका परित्याग ही हितकर है। इसीलिए प्राचीन युगके सच्चे साधक ज्ञानमूलक अरण्यवासको अधिक महत्त्व देते थे। क्रमश वर्षा एव शीत-निवारणार्थ गुहाओकी सृष्टि हुई ! मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी होनेके कारण उसका जीवन सतत प्रगतिगामी रहता है। क्रमश गुफाओकी दीवालोपर पार्थिव आवश्यकताओमे जन्म लेनेवाली कला द्वारा चित्रोका प्रणयन भी होने लगा।

यद्यपि भित्तिचित्रोकी परम्परा बहुत प्राचीन एव सार्वजनिक रूपसे प्रचलित रही है, पर इनका उल्लेख न तो यहाँ विवक्षित है, न स्थान ही।

इन पक्तियोमे महाकोसलान्तर्गत पाये जानेवाले भित्तिचित्रो—विशेषकर श्रमण सस्कृतिसे सम्बन्धित कलाकृतियोकी ही चर्चा करूँगा !

प्राचीन भारतमें भित्तिचित्र

भारतीय प्राचीन साहित्यानुशीलनसे सिद्ध होता है कि भित्तिचित्र या शिलाचित्रका इतिहास बहुत विस्तृत एव महत्त्वपूर्ण है! प्राचीन सामाजिक एव सास्कृतिक इतिहासकी ओर सकेत करनेवाले कथा-साहित्य-विषयक ग्रथोमे एतद्विषयक विशद् उल्लेख आये है, परन्तु उनसे तत्कालीन चित्रकला एव उनके विभिन्न उपकरण शैली आदिका समुचित ज्ञान नही होता। तात्पर्य कि भारतीय चित्रकलापर व्यवस्थितप्रकाश डालनेवाले प्राचीन स्वतत्र ग्रथ उपलब्ध नही होते, केवल हमे फुटकर या अन्य ग्रथोमे आनेवाले प्रासगिक उल्लेखोपर ही निर्भर रहना पडता है। सस्कृत-साहित्यके **वात्स्यायन कृत कामसूत्र** एव **शिल्पशास्त्र** व उपनिषदोमें **"चित्रतूलिका"** (Brush), शब्द आया है एव **'वाल्मीकि रामायण'में हेमधातु विभूषित धातुमंडित विचित्रशिखर चित्र सानुनग** तथा **चित्रसानु** आदि कई शब्दोका प्रयोग मिलता है जो चित्रकलाके इतिहासकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। उपर्युक्त उल्लेखसूचक पक्तियाँ इस प्रकार है।—

अन्वीक्ष्य दण्डकाराण्य सपर्वतनदीगुहम् ॥११॥

× × ×

अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः ।
विचित्रशिखरः श्रीमां चित्रपुष्पितकाननः ॥१३॥

× × ×

अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ।
चित्रसानुगः श्रीमान् महेन्द्रः पर्वतोत्तमः ॥२०॥

—किष्किन्धाकाण्ड ४१ सर्ग

× × ×

अभिवृष्टा महामेघैः निर्मलश्मिश्रसानवः
अनुलिप्ताइवा भान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः ॥२०॥
—किष्किन्धाकाण्ड ३० सर्ग।

आसीनःपर्वतस्याग्रे हेमधातुविभूषिते।
इगरदंगगनं ह्रष्ट्वा जगम मनसा प्रियाम् ।६॥

उपर्युक्त उल्लेख प्राप्त साहित्यमे प्राचीन एव विश्वस्त है। मेघदूतमें भी एक उल्लेख बडे महत्त्वका है जो इस प्रकार है —

त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागैः शिलायाम्।
—कालिदास

श्लोकमे उल्लिखित गेरूका[1] उल्लेख बहुत महत्त्वका है। अधिकतर प्रागैतिहासिक भित्तिचित्रोमे गेरुए वर्णकी रेखाएँ ही मिलती है। प्रसगतः कहना अनुचित न होगा कि अमेरिकामे भी प्राचीन चित्र रक्तवर्णके ही मिले है, जिनमे हस्तचिह्न[2] प्रमुख है जो गृह, मकान, मदिरमे बनाये जाते थे, यथा—

"possibly the fatter of the family had just Plastered the walls and his wife and children had

---

[1]बहुत प्राचीन कालसे ही महाकोसलमें गेरू प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होता रहा है। आज भी कई खदानोंमे उत्तम गेरू निकलता है। ग्रामीण जनता अपनी गृह-दीवारोपर चित्र अंकित करती है। जगली सड़कोपर बिछाई जानेवाली मृत्तिकामें भी गेरू अधिकतर देखा जाता है पर मिट्टीमेंसे रंग बनानेकी प्रथा उठ जानेसे कलाकारोकी दृष्टिमें गेरूका महत्त्व बहुत कम हो गया है।

[2]इस चिह्न विषयक विशेष ज्ञातव्यके लिए देखें—"Proceedings of all India Oriental Conference," Baroda एवं "Rock paintings in the Raigarh State."

come to see how to woke and place their hands on the fresh coverings saying in their own language."

"It is dry yet Dad?"

जिसप्रकार पीली मिट्टी, गेरू आदिके द्वारा प्राचीन शिला-चित्र अंकित किये जाते थे, उसीप्रकार उड़ीसा और कहीं-कहीं दक्षिणी कोसलमें आज भी ग्रामीणोंके घरोंपर चित्र आंके जाते हैं। समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुसार चित्रकलाके उपादानोंमें अवश्य परिवर्तन हुआ। यहाँकी आदिवासी सभ्यतामें पलनेवाली जनतापर उनका तनिक भी अभाव नहीं। यही कारण है कि वह अभी तक प्राचीनतम परम्पराको निभाये हुए है।

जैन-भित्तिचित्र

जैनागम साहित्यके अतिरिक्त सुरसुन्दरी कथा, तरंगवती, कर्पूर-सुन्दरी, कथासरित्सागर और बृहत्कथामंजरी आदि कई ग्रंथोंमें शिलाचित्र विषयक लेख आये हैं, उनसे ध्वनित होता है कि वे चित्र समय-समयपर भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न करते थे। धार्मिक विषयमूलक चित्र मनुष्यको ज्ञानमूलक वैराग्यकी ओर लिवा ले जाते थे। विवक्षित भूभागमें पाये जानेवाले अधिकतर शिलाचित्र विशुद्ध भौतिक वासनामय ही हैं। पर रामगढ-स्थिति चित्र वैराग्यका प्रतीक है, जो इस प्रकार है —

जोगीमारा—इस प्रान्तके सरगुजा राज्यान्तर्गत **लक्ष्मणपुरसे** १२ मील **रामगिरि, रामगढ़** नामक पहाडी है। वहाँपर **जोगीमारा** नामक गुफा है। यह पहाडी २६०० फुट ऊँची है। यहाँका प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा ही आकर्षक और शान्तिप्रदायक है। गुफाकी चौखटपर बड़े ही सुन्दर चित्र अंकित हैं। ये चित्र ऐतिहासिक दृष्टिसे प्राचीन हैं। चित्र-परिचय इस प्रकार है —

(१) एक वृक्षके निम्नस्थानमें एक पुरुषका चित्र है। बाईं ओर अप्सराएँ व गन्धर्व है। दाहिनी ओर सहस्ति एक जुलूस खड़ा है।

(२) अनेक पुरुष, चक्र तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके आभूषण हैं। मेरी रायमें उस समयके आभूषण और आजके आभूषणोंमें बहुत कम अन्तर है, और सामाजिक दृष्टिसे इनका अध्ययन अपेक्षित है।

(३) अर्धभाग अस्पष्ट है। एक वृक्षपर पक्षी, पुरुष और शिशु हैं, चारों ओर मानव-समूह उमड़ा हुआ है, केशोंमें ग्रथी लगी है।

(४) पद्मासनस्थ पुरुष है, एक ओर चैत्यकी खिड़की है तथा तीन घोड़ोंसे जुता हुआ रथ है।

उपर्युक्त वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये चित्र जैनधर्मसे सम्बन्धित है, परन्तु सरक्षणके अभावसे चित्रोंकी हालत खराब हो गई है। इस बारेमें **रायकृष्णदासने** लिखा है—

"**किन्तु उन चित्रोंकी सुन्दर रेखाएँ उनके ऊपर फिरसे खींचे गये भद्दे चित्रोंमें छिप गई हैं। बचे-खुचे अंशोंमेंसे अनुमान होता है कि वहाँके कुछ चित्रोंका विषय जैन था**[१]।"

रामगिरि पर्वत:—संस्कृत-साहित्यके अभ्यासियोंको विदित है कि महाकवि **कालिदासने** अपने **मेघदूत** खण्डकाव्यमें **रामगिरि** पर्वतको अमर कर दिया। प० **नाथूराम** प्रेमीका मानना है कि कालिदास-कथित **रामगिरि** पर्वत यही है, क्योंकि वह **दण्डकारण्यके** अन्तर्गत है और **कर्णरवा** नदी सम्भवत **महानदी** है। प्रेमीजी आगे लिखते है कि **उग्रादित्याचार्य-जीने** अपना "**कल्याणकारक** नामक आयुर्वेदिक ग्रन्थ इसी रामगिरि पर्वत-पर रचा था। इन बातोंमें चाहे जितनी वास्तविकता हो, पर इतना तो

---

[१] **भारतकी चित्रकला, पृ० १२।**

स्पष्ट हो ही जाता है कि किसी समय इस प्रान्तमें जैनधर्म विस्तारके साथ फैला हुआ था, जिसका प्राचीन प्रमाण गुफाचित्र है। जिस समयकी गुफा बनी हुई है, उस समय यहाँ मौर्योंका साम्राज्य था। **सम्प्रति सम्राट्** जैन थे। सम्भव है, उन्होंने ही यह गुफा बनवाई हो। और भी अनेक उदाहरण ऐसे ही दिये जा सकते है, जिनसे सिद्ध होता है कि पुरातन कालमें जैन-सस्कृति यहाँपर खूब विस्तारसे फैली हुई थी। जिन **कल्पी मुनि** परम्पराका विहार **जारी था।**

महाकोसलके ही सुप्रसिद्ध कवि **भवभूतिने** अपने **उत्तररामचरितमें** भित्तिचित्रोका उल्लेख किया है, यद्यपि कविवरने स्पष्टत स्थानविशेषका सूचन नही किया, पर अनुमान होता है कि इसका सम्बन्ध **रामगिरिसे** या उन आंशिक गुफाचित्रोंसे होना चाहिए, जिनकी अवस्थिति **सिहावा** तहसीलके जगलोंमें है। इन गुफाओके निकटतम प्रचुर जैनप्रतिमाएँ एव अन्य कलात्मक शिल्प प्रतीक उपलब्ध होते हैं। आजके प्रगतिशील एव अन्वेषण-प्रधान युगमें भी उपर्युक्त गुफाएँ इतनी उपेक्षित है कि शायद ही कभी कोई वहाँ पहुँचता हो। राज्यकार्यवशात् इतिहासप्रेमी रायबहादुर **गजाधरप्रसादजी** तिवारी (Election Commissioner M. P.) जगलमें पहुँचे और उन्होने मेरा ध्यान आकृष्ट किया।

जैन-भित्तिचित्रोकी परम्पराका प्रवाह इस प्रान्तमें किस शताब्दी तक प्रवाहित होता रहा, इसपर प्रकाश डालनेवाले मौलिक उल्लेख अत्यल्प है, पर विभिन्न पुरातन खण्डहरोमें जो चित्रित रेखाएँ मिलती है, उनसे तो निश्चित हो जाता है कि मुगलकालतक यह धारा उन्नत थी। मराठोंके समय भी भित्तिचित्रकी परम्परा चली, पर उसमे वह सौन्दर्य व आकर्षण नही जो कलाकारको अपनी ओर खीच सके। रामगिरिके चित्रोके बाद भवभूतिका उल्लेख आता है। तदनन्तर कलचुरि राज्यवशकी कला-कृतियाँ हमारे सामने हैं। यो तो अद्यावधि अन्वेषित सामग्रीसे यही फलित हुआ है कि हैहयवंशीय नरेश केवल शिल्पकलाके उन्नायक ही रहे है, परन्तु

गत वर्ष मुझे कलचुरि शिल्पकलाका एक केन्द्र—**बिलहरी**[1]—देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

बिलहरी

वहाँपर एक जीर्णशीर्ण मठ है, निकट ही हनुमानजीका मंदिर-वापिका है। मठ दर्जनों मूर्तियोंसे परिवेष्ठित है। मठका भीतरी भाग कुछ सुरक्षित रह सका है परन्तु गर्भगृह शून्य रहनेके कारण नहीं कहा जा सकता कि इसका सम्बन्ध संस्कृतिकी किस धारासे है। प्रदक्षिणास्थान एवं जगती तथा सभागृहके ऊपर विभिन्न प्रकारके बेल-बूटे कढ़े हैं। इनमें रक्त एवं नीला रंग प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं सूक्ष्म रेखाएँ गेरूकी भी हैं। छतके स्थानपर सूक्ष्मतया देखनेपर ज्ञात होता है कि वहाँ कुछ चित्र अवश्य रहे होंगे कारण कि गिरी हुई पपड़ियाँ एवं कहीं-कहीं चेहरोंसे परिलक्षित होता है। इसी मठमें मुझे स्वस्तिक और कुम्भकलशकी स्पष्ट रेखाएँ दिखलाई पड़ीं। इन दो चित्र-प्रतीकोंसे मेरा अनुमान है कि इसका सम्बन्ध अवश्य ही जैन-संस्कृतिसे होना चाहिए। ये दोनों जैन-शिल्पस्थापत्य

---

[1] यह स्थान कटनीसे १० मील पड़ता है। एक समय यह जैन-संस्कृतिका बहुत बड़ा केन्द्र था। आज भी वहाँपर सैकड़ों जैन-मूर्तियाँ एवं अन्य कलात्मक प्रतीक बहुत बड़ी संख्यामें पाये जाते हैं। कोई जमीनमें अधगड़े हैं, कुछ मकानोंमें लगे हुए हैं, कुछ-एकपर चटनी और भंग पीसी जाती है। वस्त्र धोनेकी शिलाके रूपमें उल्टी मूर्तियोंका प्रयोग यहाँके लिए स्वाभाविक है। एक बात स्पष्ट कर दूँ कि साम्प्रदायिक गंभीरताके कारण हिन्दुओंके द्वारा जैन कलात्मक प्रतीकोंका जो अपमान यहाँपर मैंने देखा वह दिल कँपा देनेवाला है। जब मैं गत वर्ष वहाँ गया था तो एक जैन-त्रिमूर्ति-पट ऐसा मिला जो एक वयोवृद्ध ब्राह्मण सज्जनकी सीढ़ियोंका काम दे रहा था। यहाँकी जैन मूर्तियाँ कलचुरी कलाका अभिमान हैं। विशेषके लिए देखें मेरा "खँडहरोंका वैभव"।

कलाके मंगलमय प्रतीक माने गये हैं। वहाँके अन्य हिन्दू मंदिर मेरी इस शकाको और भी दृढ़ कर देते हैं। कारण कि प्रत्येक हिन्दू-मंदिरके गर्भ-द्वारके मध्य भागमें गणेशजी या तत्तद् देवस्थान-सूचक प्रतीक उत्कीर्णित रहते हैं। जब कि यहाँ कलशकी प्रधानता है।

जबलपुरस्थित हनुमानतालका मंदिर भी भित्तिचित्रोंकी परम्पराकी कड़ी प्रस्तुत करता है। यों तो मंदिरकी दीवारोंपर धार्मिक कथाप्रसग व जैनभूगोल विषयक चित्र काफी तादादमें हैं, पर मुझे उन्ही चित्र-कृतियों-पर विचार प्रस्तुत करना है, जिनका सीधा सम्बन्ध मुगल और मराठा कलमसे है। महाकोसलमें जो बेलबूटे, चित्र एवं जालीदार रेखाओंमें रंग पाये जाते हैं, उनसे यह सिद्ध है कि उस समय भी राजमहल, विस्तृत भवन या आध्यात्मिक साधनाका केन्द्रस्थान-मंदिर आदिमें चित्रांकन अपेक्षित था और स्थानीय कलाकारोंने पारम्परिक रंगोंके साथ इतर प्रान्तीय चित्रोंमें व्यवहृत रंगोंका उपयोग खुलकर किया था।

कथित मंदिरमें चित्रकला-विषयक इतिहासकी दृष्टिसे दो कृतियाँ विशेष महत्त्वकी हैं, जो इस प्रकार हैं—

तथाकथित मंदिरके उपरिभागमें एक छतपर बेलबूटोंवाली जाली-नुमा सुन्दर रेखाएँ अंकित हैं। लाल, गहरा नीला, एवं हल्के पीले रँगका प्रयोग हुआ है। यदि केवल इसी छतकी रेखाएँ और रंगोंके आधारपर इसका निर्माणकाल निश्चित करें तो मुगलकाल तक ले जा सकते हैं। पर वह उतना प्राचीन है नहीं, कारण कि ऐसा देखा गया है कि कला-विषयक परपराका विभाजन भौगोलिक या राजनैतिक दृष्टिसे आंशिकरूपेण संभव हो सकता है वह भी स्थायी शायद ही। मुझे तो ऐसा लगता है कि मरहठा-कालीन कलाकारोंने मुगलकालमें प्रचलित जालियों एवं बेलबूटोंका अंकन सौंदर्य-वृद्धिके हेतु ही किया होगा। मुगलकालकी छाया पड़ने मात्रसे कोई वस्तु उस कालकी नहीं हो सकती। **बिलहरीवाले** मठकी एवं प्रस्तुत छतकी रेखाएँ एवं रंगोंमें पर्याप्त साम्य है।

मदिरके निम्नभागमे एक चित्र अठारहवी शताब्दीका है। उसमे मराठा पहनाव एव विशेषकर पगडियोका बाहुल्य है। कलाकारने मराठा कलमका उत्तम प्रभावोत्पादक परिचय देकर उस प्रसगको महाराष्ट्रीय घटना ही बना डाला है। चित्रमे भव्य सिहासनपर एक व्यक्ति बैठा है। वहाके लोगोका ऐसा ख्याल है कि ये **चिमनाजी भोंसले** ही हैं।

इस प्रकार महाकोसलमे जैन-भित्तिचित्रोकी परपरा आजतक सुरक्षित है, किन्तु अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण अद्यतनयुगीन चित्रोमे कलातत्त्व बहुत कम रह गया है। कही-कही भित्तिचित्रोकी आशिक पूर्ति प्रतिमाचित्रोसे की जाती है।

उपर्युक्त पक्तियोमे मैने कुछ एक चित्रोका ही परिचय दिया है, परन्तु अभी भी बहुत-सी ऐसी सामग्री है जो अन्वेषणकी प्रतीक्षामे है। ऐसी स्थितिमे जैन-भित्तिचित्रोकी गिनती ही क्या ? जहा कलावशेष ठुकराये जाते हो, शासनकी ओरसे जान-बूझकर उपेक्षावृत्तिसे काम लिया जाता हो—वहा सास्कृतिक जनजागरणकी आशा कल्पना-मात्र है। मुझे बडे परितापके साथ लिखना पड रहा है कि मध्य-प्रदेशकी सरकार अन्वेषण-विषयक कार्योमे अन्य प्रान्तोकी अपेक्षा पिछडी हुई ही नही है, अपितु उसने इसपर ध्यान ही नही दिया। बल्कि निस्स्वार्थ भावसे सास्कृतिक व शैक्षणिक अन्वेषणोके प्रति जो रुख अपनाया है, वह जनतन्त्रको कलकित करनेवाला है। प्रान्तमे मै चाहूँगा कि मध्यप्रदेश-शासन असाम्प्रदायिक भावसे पुरातत्त्व-गवेषणाकी प्रतीक्षा करे। जैन-समाजका भी अपने गौरव-प्रदायक प्रतीकोपर ध्यान न जाना आश्चर्य ही है।

भारतीय शिल्प एवं चित्रकलामें काष्ठका उपयोग

भारतके प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारोंने अपनी सात्विक, सुकुमार, और उत्प्रेरक भावनाओंको धातु, प्रस्तर और कागजके द्वारा साकार कर न केवल कलाके उपकरणोंकी रक्षा ही की, अपितु यह भी प्रमाणित कर दिखाया कि अन्तर्भावनाओंके विकास एवं स्थैर्यके लिए अमुक प्रकारका अलंकरण ही उपयुक्त है, ऐसी बात नहीं है। कलाकी उत्कट भावना किसी भी प्रकारके उपकरण द्वारा व्यक्त की जा सकती है। पार्थिव द्रव्योंमें ही कला और सौन्दर्यका समुचित विकास पाया जाता है। प्रस्तुत निबंधमें मैं कलाके एक, उपकरण काष्ठकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ, क्योंकि बहुत प्राचीनकालसे यहाँके साधारण जन-समूहसे लेकर उच्च-कोटिके कलाकारों तकने काष्ठका व्यापक उपयोग कर, अपने गार्हस्थ्य दैनिक आवश्यक कार्योंकी पूर्ति तो की ही, साथ ही साथ उच्च श्रेणीके प्रतीकोंका सृजनकर उसे सजीव प्रतीकोंकी कोटिमें ला खड़ा किया।

आदिकालीन मानवोंको जब शीत, धूप और जल-वृष्टिसे बचनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई तो काष्ठ-शलाकाओंसे झोपड़ियोंका निर्माण प्रारम्भ हुआ। बादमें ज्यों-ज्यों समय बदलता गया एवं मनुष्योंकी आवश्यकता बढ़ती गयी, त्यों-त्यों गृह-निर्माण-कला एवं उसके पृथक् पृथक् उपकरणोंमें भी परिवर्तन और अभिवृद्धि हुई, जिसमें काष्ठकी प्रधानता रही है। प्राचीनकालके जितने भी ध्वस्त खण्डहर उपलब्ध हुए हैं एवं पौराणिक साहित्यमें जितने भी गृह-निर्माण विषयक उल्लेख मिलते हैं, उनसे काष्ठके व्यवहारपर प्रकाश पड़ता है।

विशुद्ध इतिहासकी दृष्टिसे यह तो कहना कठिन है कि किस कालसे गृह निर्माण-कलामें काष्ठका आंशिक प्रयोग आरम्भ हुआ। यों तो काष्ठ-

शिल्पकी एक कथा जैनसाहित्यमे उपलब्ध हुई है, जिसका साराश यह है कि वह शिल्पी जलयान एव कई प्रकारके ऐसे वायुयान निर्माण करता था जिनका सचालन एक या दो कलोंसे हुआ करता था। इस प्रकारके कई आख्यान और भी मिल सकते हैं। परन्तु उनमे ऐतिहासिक सत्य कितना है यह एक विचारणीय समस्या होते हुए भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्राचीनकालमे इस प्रकारके सामाजिक उद्योग अवश्य ही रहे होंगे। परन्तु जबतक इन किवदतियोका समुचित मूल्याकन नही हो जाता, तबतक इनपर कुछ भी कहना अति साहस होगा। यों तो भारतमे जितने भी प्राचीन खण्डहर उपलब्ध हुए हैं, उनमे **मोहन-जो-दारोका** स्थान प्राचीनताकी दृष्टिसे प्रधान माना जाता है। अब तो यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि मोहन-जो-दारोका विकास भारतीय सस्कृतिके आधारोपर हुआ था। उन दिनो मानवने अपने रहन-सहनके साधनोका पर्याप्त विकास कर लिया था। परन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि अभीतक जो खुदाई वहाँपर हुई है उसमे काष्ठका कही भी पता नही मिला। यद्यपि इसे हम पत्थर-युग कहकर टाल देते है परन्तु उस युगमे काष्ठका उपयोग गृह-निर्माण कलामें नही होता था यह कैसे कहा जा सकता है?

वैदिक युगमे यज्ञ-यागोकी प्रधानता थी। तन्निमित्त मण्डपोकी बहुत बडी आवश्यकता रहती थी। उसमे भाषा, ज्ञान-चर्चा, गीत, नृत्य, आदि आध्यात्मिक एव जनरजक कार्य-क्रम हुआ करते थे। ये मण्डप अधिक द्रव्य व्यय कर सुन्दरसे सुन्दर बनाये जाते थे। कही पारस्परिक प्रतिस्पर्धाके कारण भी वर्ग अपनी धन-सम्पत्तिके बलपर मण्डपको अधिकसे अधिक सजाता था। परन्तु इन मण्डपोका अस्तित्व निर्धारित समयके लिए ही था। इतने परिश्रम और विपुल अर्थ-व्ययसे तैयार होनेके बाद भी वे स्थायित्वके सौभाग्यसे वचित रह जाते थे। समयने पलटा खाया। स्वाभाविक भी है कि जैसे-जैसे आवश्यकताएं बढने लगती है वैसे-वैसे समाजमें क्रान्ति और सघर्ष शुरू हो जाता है। वर्णित मण्डपोके सौदर्यपर मुग्ध होकर

कुछ मण्डप अपने ढगसे पक्के बनने लगे। कमान आदि और शोभन अलंकरणों-का क्रमिक विकास होने लगा। इन सब सजावटोंके बाद भी आखिर वह काष्ठ ही तो ठहरा। भला कबतक टिकता। शीत, धूप, और वर्षादिसे बहुत समयतक अपनेको बचाये रखनेके लिए मण्डप और भी इतने पक्के बनाये जाने लगे कि क्रमश मण्डपोंका रूप परिवर्तित होते-होते गृह या मदिर हो गया। इससे हमे यह तो मानना ही होगा कि भारतीय शिल्प-कलामे वैदिक कालसे ही काष्ठका उपयोग प्रचुर परिमाणमे होने लगा था। उस कालके शिल्पियोंमे कल्पना और सृजन-शक्ति अद्भुत थी। उनका जीवन कलाकारका एक आदर्श जीवन था, वे सासारिक होते हुए भी कलाकी साधनामे जुटते—अलिप्त थे। धनिक वर्ग द्वारा कलाकारोंका समुचित सम्मान भी होता था। इस सम्मानके पीछे कलाकारमे अपनी प्रतिभाके तत्त्व थे, जिनके बलपर धनवानोंमे वे समादृत होते थे, न कि अर्थसे उनको उन दिनो खरीदा जाता था। क्योंकि उस समय भारतका सामाजिक जीवन ही कुछ ऐसा बन गया था कि शायद ही कोई गृह ऐसा रहता, जिसपर सुरुचिपूर्ण कलात्मक अकन न किया गया हो। बिना सूक्ष्म खननके आवास-गृह अशुद्ध और अपशकुन-जनक माना जाता था। लकडीको 'प्लेन' रहने देनेसे काष्ठोपजीवी वर्ग स्वय इनकार कर देता था। गृह-कार्यमे आनेवाले झूले, पलग, बालकोंके खिलौने, बेलन, पेटियाँ और प्रधान वाहन रथ भी रगीन रहा करते थे। इस साधारण वस्तु-निर्माणमें भी कलाकार अपना श्रम लगाकर उसे जीवित प्रतीक-सम बना दिया करते थे। तात्पर्य यह कि घरकी कोई भी वस्तु ऐसी न रह पाती थी जिसमे कलात्मक अभिव्यक्ति न होती हो। किसी भी देशका आर्थिक विकास सामयिक महत्त्व रखता है परन्तु कलात्मक विकास तो शताब्दियोंतक देशकी गौरव-गरिमा बनाए रखता है।

यज्ञ-स्तभ काष्ठके गढवाए जाते थे, जिसका एक उदाहरण देनेका लोभ सवरण नही किया जा सकता। बिलासपुर (मध्य प्रदेश) जिलान्तर्गत

बन्नपुर तालुकेमे किरारी नामक ग्राममे हीराबन्ध जलाशयमेसे १९०० वर्ष पूर्व एक प्राचीन काष्ठका यज्ञ स्तभ सलईका प्रतीत होता है। इसपर जो लिपि है, वह गुप्तकालके पूर्वकी है। मैने इसे नागपुर आश्चर्य-गृहमे देखा था। इस स्तभमे विशेषकर उन दिनोके राजनैतिक कर्मचारियोके पदोके उल्लेख पाये जाते है[1]। अत इसका महत्व दोनो दृष्टियोसे है। यद्यपि यज्ञ-स्तम्भ तो और भी प्राप्त हुए है पर वे प्राय पाषाणके है।

ई० पू० ६ वी शतीमे महाश्रमण भगवान् महावीरकी चदन-काष्ठपर मूर्ति खोदी गयी थी। इसे उज्जयिनीके राजा चण्डप्रद्योतनने बनवाया था।

---

[1] राजकीय पदोके नाम इस प्रकार है —

(१) नगररखिनो (नगररक्षक City Kotwal or Magistrate)
(२) सेनापति (Commander of Army)
(३) प्रतिहार (द्वारपाल Door Keeper or private Secretary)
(४) गणक (खजांची Accountant or Cashier)
(५) गाहपालिय (अग्निरक्षक keeper of house hold fire)
(६) भाण्डागारिक (भडारी Store keeper)
(७) पादमूलक (मदिररक्षक Temple attendant)
(८) रथिक (सारथी charioteer)
(९) महानासिक (भोजनालय प्रबन्धक Superintendent of Kitchens)
(१०) धावाक (सन्देहवाहक या डाकिया Runners)
(११) सौगधक (इत्रोका परीक्षक Officer incharge of perfumes and sanitation)

ईसवी पूर्व छठवी शताब्दीमे गृहनिर्माण व पुतलियोंकी रचनामे काष्ठका प्रयोग होता था, जैसाकि तात्कालिक जैनागम साहित्यसे फलित होता है। गत वर्ष जब मै पटनामे था तब प्राचीन पाटलिपुत्रकी खुदाईके अवशेष एव भूमिको देखनेका सुअवसर आया था। वहाँपर बडे-बडे काष्ठके सुसस्कृत पटरे पडे हुए थे, जिनमे कुछ अधजले भी थे। पाटलिपुत्रमे विस्तृत आग लगनेके उल्लेख बौद्धसाहित्यमे आते है। मौर्यकालमे काष्ठका उपयोग व्यापक रूपसे हो रहा था, तक्षणकलामे तो होता ही था। पटनाके सग्रहालयमे आज भी बहुत-से काष्ठावशेषोमे एक रथका पहिया भी है। इसे अशोकके खास रथका चक्र बताया जाता है। इसमे चाहे जितना सत्य हो या न हो पर पहियेकी बनावटमे इतना तो नि सकोच भावसे कहा जा सकता है कि ईसवी पूर्वका तो निश्चित है ही। रचना कौशल प्रेक्षणीय है।

गौतम बुद्धने अक्षरारभ करते समय चन्दन काष्ठ-पट्टिकाका उपयोग किया था। इस उदाहरणसे ज्ञात होता है कि उन दिनो लेखन कलाके विशेष

---

(१२) गोलाध्यक्षलिक (Office incharge of Cow and Cattle)

(१३) यानसतायुधधरिक (रथो और आयुधोके रक्षक Officer incharge of carriage-sheds and armoury)

(१४) लेहवारक (डांक दारोगा Superintendent of letter carriers)

(१५) कुलपुत्रक (इजिनियर या मुख्य मिस्त्री Chief of architects)

(१६) हायोराह (गजरक्षक Superintendent of elephants)

(१७) अश्वारोह (Superintendent of horses)

(१८) महासेनानी (Commander-in-chief)

अभ्यासमे काष्ठका प्रचलन रहा होगा। **ललित विस्तर** और **कटहल जातक** इसके उदाहरण है। यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन जितने भी कलात्मक प्रतीक मिले है, वे प्राय सभी प्रस्तर के है, परन्तु उनसे यह प्रामाणित नही होता कि उस कालमे गृह-निर्म्माणादि कार्योंमे काष्ठका प्रयोग न होता था। **वसुदेव हिण्डीमे**—जोकि छठी शतीका एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है—एक काष्ठशिल्पकी रोचक कथा आती है। उसमे उस समयकी काष्ठ-निर्माणकलापर काफी प्रकाश डाला गया है। साहित्य यदि समाजका प्रतिबिम्ब है तो मानना पडेगा कि मध्यकालीन तथा इस पूर्व कुछ शताब्दियोके पूर्व, भारतमे काष्ठको कलात्म उपकरण निर्माणमे अवश्य ही प्रधान स्थान मिला था। भागवतमे मूर्ति-निर्माण विषयक उपकरणोकी जहाँपर चर्चा की गई है, वहाँपर काष्ठकी मूर्तियाँ बनानेका स्पष्ट विधान है। ठीक इसी प्रकारके एकाधिक उल्लेख जैन-शिल्पके ग्रन्थोमे भी पाये जाते है। जैन मूर्तियाँ काष्ठकी मैने कई जगहपर देखी है। **आशुतोष म्यूजियम** (कलकत्ता विश्वविद्यालयान्तर्गत) मे काष्ठकी विशाल जैन-मूर्ति है, जो **विष्णुपुर** (बगाल)से प्राप्त की गई थी। **नेपालमे** अत्यन्त सुन्दर काष्ठ-मूर्तियाँ बनानेकी विशिष्ट प्रथा थी। इन मूर्तियोके निर्माणमे वहाके सौन्दर्य-प्रेमी कलाकारोने जो कमाल किया है, वह अनिर्वचनीय है। रगीन मूर्तियोको देखकर कल्पना नही होती कि ये प्रतिमाएँ काष्ठकी होगी, विशेषकर बौद्ध तत्रोसे सम्बन्धित मूर्तियाँ मिलती है। यो भी नेपाल पहाडी प्रदेश होनेके कारण काष्ठ शिल्पमे काफी आगे रहा है। और भी पहाडी देशोमे काष्ठका उपयोग अच्छे-से-अच्छे रूपमे होता है।

पश्चिमी भारतके विशाल भवन और देवमन्दिरोके निर्माणमे बहुत कुछ अशोमे पत्थरोका स्थान लकडीने ले रखा था। इतना अवश्य मानना पडेगा कि विवक्षित कालमे काष्ठके ऊपर कलात्मक रेखाएँ शायद ही खचित की जाती हो, जैसे पत्थरोपर खीची जाती थी।

सोमनाथका मन्दिर वैदिकोकी दृष्टिमे ऊँचा स्थान रखता है। द्वादश

ज्योतिर्लिंगोमे इसकी परिगणना है । शिल्प और प्राचीन तक्षणकलामे अभिरुचि रखनेवालोके लिए भी मन्दिरकी रचनाशैली महत्वपूर्ण है। मन्दिर-का प्रथम निर्माण किस पद्धतिसे हुआ होगा, यह कहना कठिन ही नही प्रत्युत असभव है। कारण उतनी प्राचीन कोई सामग्री ही न तो वहाँ उपलब्ध हुई है और न ग्रन्थस्थ उल्लेख ही वर्तमान है। परन्तु बारहवी शतीके प्राप्त ऐतिहासिक उल्लेखोसे निश्चित कहा जा सकता है कि परमार्हत महाराजा **कुमारपाल**-जीर्णोद्धारके समयसम्पूर्ण मन्दिर काष्ठका था । इसकी विशाल छत काष्ठके ५७ मजबूत खभोपर आधृत थी[1], वे स्तम्भ खास तौरसे अफरीकासे लाये गये थे । इस मन्दिरको **महमूद गजनवीने** बुरी तरह क्षतविक्षत कर दिया था, अत **भीमदेव** और महाराजा **कुमारपालने** (जैन होते हुए भी) इसका जीर्णोद्धार करवाया था—जो धार्मिक सहिष्णुताका अच्छा उदाहरण है । कुमारपालने **तारगा हिलपर** अजितनाथजीका एक मन्दिर बनवाया था, इसमे ऐसी लकडीका उपयोग किया गया था कि अग्नि-स्पर्शसे जल निकलता था, ऐसा प्रवाद आज भी है । मै नही कह सकता इसमे सत्य कितना है ।

गिरिनगर-गिरनारपर भगवान् नेमिनाथका जो मदिर है, वह पूर्वकाल-मे काष्ठका ही था, पर **सिद्धराजके सौराष्ट्रके** दडाधिपति श्री **सज्जनने** जीर्णशीर्ण काष्ठ-चैत्यका जीर्णोद्धार करके उसके स्थानपर नवीन प्रस्तरका मदिर, वि० स०, ११८५ मे बनवाया[2] । इसके निर्माणमे सौराष्ट्रकी त्रैवार्षिक राजकीय आयका व्यय हुआ ।

---

[1] **इब्न जाफिर पृ० १५, इब्नुल असीर, भाग ९ पृ० २४१, सिंघी इब्नुसज्वजी, पृ० २१५ ।**

[2] **इक्कारसयसहीउ पचासीय वच्छरि ।**
नेमिभुयण उद्धरिउ साजणि नरसेहरि ॥
रैवगिरिरासु, कड० १,

काष्ठ-मंदिरका निर्माण किसके द्वारा और कब हुआ होगा ? यह एक प्रश्न है। श्रीयुत जयसुखराय पु० जोषीपुराने सूचित किया है[१] कि ई० स० ६०९में रत्न नामक श्रावकने काष्ठ-मंदिर बनवाया। परन्तु इसके पीछे ऐतिहासिक व पुष्ट प्रमाण नहीं है। अनुमान है कि वल्लभीकालमें जैनोंका प्राबल्य सौराष्ट्रमें सविशेष था। उसी समय काष्ठ-मंदिर बना होगा। सिद्धराज और कुमारपालके समयमें सौराष्ट्र व गुजरातमें सर्वत्र काष्ठ मंदिरोंको पत्थरोंसे बाधना शुरू कर दिया था। यह तो प्रसिद्ध ही है कि पाषाणके मंदिर बाधनेकी प्रथा तो गुप्तकालमें चली, पर नवम शतीतक काष्ठ-चैत्योंकी प्रथा भी थी।[२]

प्राचीन नीति विषयिक ग्रन्थोंमें काष्ठका उपयोग चिरकालतक बिना तैलके जलनेवाली मशालके रूपमें आया है।

प्राचीनकालमें तिब्बत और चीनमें, हस्तलिखित ग्रन्थोंकी रक्षाके लिए काष्ठ-फलकोंका प्रयोग होने लगा था। एवं कलाकारोंद्वारा उनपर कई प्रकारकी नक्काशीका काम प्रारंभ हुआ। ठीक उसीके अनुरूप भारतमें भी १२ वीं शतीके उत्तरार्द्धमें इस प्रथाका सूत्रपात हुआ, सम्भव है इतः पूर्व भी हुआ हो। दोनोंमें अन्तर केवल इतना ही था कि तिब्बत और बर्माके कलाकारोंने अपने सम्पुटके ऊपरी भागको कलात्म रेखाओंद्वारा सुन्दर बनानेपर अधिक ध्यान दिया, उनपर अपने धर्म-मान्य विविध भावोंका उत्खनन एवं कहींपर बेलबूटीके समूह अंकित किये, इनके पीछे धर्म भावना तो थी ही, परन्तु वह समाजमूलक थी, प्रकृतिगत थी कला समीक्षकोंके लिए इतनी ही सामग्री काफी है। इतने परसे उन-उन देशोंकी जनताके मनोभावोंका हल्का पता तो लग ही जाता है। इनके विशाल सम्पुट बर्मा और चीन तथा बोडलयन संग्रहालयोंमें विद्यमान हैं।

---

[१] "गिरनारनुं गौरव", पृ० ८१।

[२] श्रीदुर्गाशंकर, के० शास्त्री—"ऐतिहासिक-संशोधन", पृ० ६८१।

मुझे पता चला है इसप्रकारके सम्पुटके निर्माणमें लामालोग चन्दनका उपयोग—शायद बहुमूल्य होनेके कारण, करते थे। चन्दनका व्यवहार बौद्धोंने इस पूर्व भी किया था। गोपालके पुत्र धर्मपालने (बिहार शरीफ पटनामें) एक विशाल बिहार बनवाया था, इसम बोधिसत्व अवलोकितेश्वर-की प्रतिमा चन्दनकी प्रस्थापित की थी। इस बिहारकी यात्रा ह्यू-आन्-चुआङ्ने भी की थी। अस्तु।

पश्चिम भारतमें जैनोंने ताडपत्रके ग्रन्थोंको चिरकालतक सुरक्षित रखनेमें सहायक काष्ठफलकोंके बाह्य भागोंपर तनिक भी ध्यान न दिया, जैसा बौद्ध लोग देते थे। परन्तु भीतरी भागपर अधिक ध्यान दिया। अन्तर्भागको भली-भाँति स्वच्छ कर उनपर जैनसाहित्यके कथा-विभागसे सम्बन्धित भागोंका तथा तीर्थंकर एवं उनके अधिष्ठाता—अधिष्ठातृ देवियोंके चित्र अंकित किये जाते हैं। कभी-कभी ग्रथ लेखक या लिखवाने-वालोंद्वारा अपने आत्मीय पूज्याचार्योंके जीवनकी विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाओं तथा सर्वप्रिय महात्माओंके चित्र भी अंकित करवानेके काफी उदाहरण मिलते हैं। यों तो इस प्रकारके काष्ठ-फलक बहुत-से ज्ञाना-गारोंमें मिलते हैं, परन्तु अद्यावधि ज्ञान पट्टिकाएँ जैसलमेरके ज्ञान-भण्डारकी अच्छी मानी जाती है। इनका दो दृष्टिसे महत्व है। एक तो चित्रकलाकी दृष्टिसे और द्वितीय ऐतिहासिक घटनावलिमें।

इसप्रकारकी और भी काष्ठपट्टिकाएँ जैसलमेरमें होनेकी सम्भावना की जा रही थी। मुनि पुण्यविजयजीने इसे सत्य सिद्ध कर दिखलाया। ऐसे १४ काष्ठ-फलकोंका पता लगाया। इनमें-से कुछेकका प्रकाशन जैसलमेर नी चित्र समृद्धिमें किया गया है।

कुछ तो जैन-समाजके गुरु कहलानेवाले यतियोंने पानीके मोल विदे-शियोंके हाथ बेच भी दी। तिब्बतमें भी इस प्रकारके काष्ठ-फलक प्रज्ञापारमिताकी पोथियोंमें पाये जाते हैं। दक्षिण भारतमें भी तालपत्रपर खरोचकर लिखा जाता था। वहाँपर भी पश्चिमभारतके समान ही

कलापूर्ण काष्ठ फलक बनते रहे होंगे। परन्तु दक्षिण भारतमे अभीतक प्राचीन ग्रथ विषयक अन्वेषण नही हुआ।

१५वी शतीके बाद कुछ ऐसी भी लकडीकी पट्टियाँ, मिलती है जिनपर सपूर्ण वर्णमाला, सख्या, और सयुक्ताक्षर लिखे रहते है। इनके दूसरे भागमे अपने-अपने धर्मके मान्य भाव अकित रहते है। इसप्रकारकी पद्धतिके विकास-के पीछे दो भावनाएँ काम करती है। बालकोकी लिपि प्रारम्भसे ही साधु रहे और दूसरे प्राचीन लिपि उसकी मरोडका भी समुचित ज्ञान हो जाय। क्योकि प्राचीन कालमे ग्रथाध्ययन विषयक समाजके पास साधन स्वल्प थे। वर्त्तमानमे इस प्रकारकी प्राचीनसग्रहालयोमे[1] कई पट्टिकाएँ प्राप्त होती है और आज भी मध्यकालीन लिपियोसे परिचय रखनेके लिए जैनमुनियोको सीखनी पडती है। मुझे भी इस कोटिमे छुटपनमे आना पडा था। शिक्षा-प्राप्तिके ये उपकरण शोषित समाजके रहे हो, चाहे सास्कृतिक, परन्तु इतना सच है कि साधारण श्रेणीका मनुष्य भी अल्प साधन रहनेके बावजूद भी उन दिनो अक्षर-ज्ञानसे वचित न रहता था।

सन् १९४१के दिनो मै **त्रिपुरी**मे था, मुझे चन्दन-काष्ठकी तीन पट्टि-काएँ मिली थी। वे इतिहास और खुदाई की दृष्टिसे अत्यन्त मूल्यवान् है। प्रथम काष्ठ-पट्टिका ९६ इचकी है। अश्वपर एक स्त्री आभूषणोसे विभूषित बैठी है। ये **छत्तीसगढ**मे प्रचलित आभूषणोसे मण्डित है। बायी ओर तलवार एव कटि प्रदेशमे कटार है। कानोके जेवर विलक्षण है। मस्तकके बाल खुले है। सम्भवत यह कोई गोड राजकुमारी रही होगी, या यह किसी सतीका प्रतीक हो तो कोई आश्चर्य नही।

दूसरी पट्टिका १० इच लम्बी ५ इच चौडी। एक व्यक्ति मस्तकपर विशिष्ट प्रकारका मुकुट धारण किये, हाथमे बन्दूक लिए निशाना लगा रहा है। पूर्वमे कुछ वृक्ष एव छोटे-मोटे पौधोके आकार बने है। दोनो

---

[1] जैनचित्र कल्पद्रुम, पृष्ठ ४९।

लांगबन्धी धोती, पीछेकी ओर तरकस, गलेमें धनुष-प्रत्यचा, कानोंमें कुण्डल (इतने चौड़े मानो कोई नाथ-सम्प्रदायका साधु हो) चौड़ा ललाट। इन भावोंको व्यक्त करनेवाला चित्र किसका होगा यह एक प्रश्न है।

तीसरी पट्टिका १० इच लम्बी ५ इच चौड़ी है। अश्वपर स्पष्ट मुखवाला पुरुष अधिष्ठित है। निम्न भागमें ये शब्द खुदे हैं—"**कल्याणसिंह सवत १६९६ बः सुना**"। मेरी रायमें यह किसी योद्धाका चित्र है।

उपर्युक्त तीनों काष्ठ-शिल्पके अध्ययनसे इस निष्कर्षपर पहुँचना है कि ये १६वीं, १७वीं शतीकी महाकोसल-कलाके सुन्दर उदाहरण हैं।

चांदवड (जि० नासिक) में **अहिल्याबाई** होल्करका एक विशाल राजमहल है। इसके निर्माणमें ८०० से अधिक काष्ठ-स्तम्भ लगे है। ये स्तम्भ ऐसे हैं कि जिन्हें दोनों ओरसे दो व्यक्ति अकवारमें लेकर मिलना चाहें तो नहीं मिल सकते। काष्ठ-छतकी कड़ियोंपर जो नक्काशी की गयी हैं वह उन्नीसवीं शतीकी अच्छी कारीगरीके नमूनोंमें है। यद्यपि अहिल्याबाईका यह महल इतिहासकी दृष्टिसे बहुत प्राचीन नहीं कहा जा सकता, फिर भी प्राचीन भारतीय गृह-निर्माणकलाकी यह अन्तिम कड़ी है। अहिल्याबाईका धर्म-प्रेम भारत-प्रसिद्ध है। जिस हालमें वह बैठा करती थीं, उभय विस्तृत दीवालोंपर दोनों ओर **रामायण और महाभारतके चित्र** महाराष्ट्र कलममें अंकित है। इन चित्रोंका अध्ययन सम्भवतः अभी नहीं हुआ है। **टीपू सुल्तानने श्रीरंगपट्टनका** सम्पूर्ण महल ही काष्ठका बनवाया था। १७वीं या १८वीं शतीका मानवाकार विशाल काष्ठ-सिंहासन दीवान बहादुर **राधाकृष्ण** जालान (पटना) के संग्रहालयमें है। इसपर सुनहरी स्याही पोत दी गयी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि अग्रभागमें भगवान् बुद्धका विशिष्ट जीवन घटनाएँ एवं लामाओंके मठोंकी आकृतियाँ अंकित

हैं। साथ ही साथ भिन्न-भिन्न प्रकारके उभरे हुए पुष्प प्रेक्षकोंका ध्यान खींच लेते हैं। यह सिंहासन तिब्बतीय कलाका अनुपम प्रतीक है। बर्मामें विस्तृत काष्ठ-निर्मित राज्य सिंहासनसे शायद ही कोई अपरिचित हो। उपर्युक्त आलान महोदयके संग्रहमें काष्ठकी कारीगरीके बहुत-से अवशेष हैं। इनमें उड़ीसाके एक मन्दिरका तोरण बहुत ही मनोहर है। इसे मैं उड़ीसाका इसलिए कहता हूँ कि तोरणमें उत्कीर्णित शिखर-भुवनेश्वरकी शिखराकृति ही है। चौदह स्वप्नोंका जमाव होनेसे और मध्यमें कलशाकृति स्पष्ट होनेसे, निस्सन्देह यह किसी जैन-मन्दिरका ही भाग है। उड़ीसामें अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा आज भी कलाके उपकरणके रूपमें काष्ठका व्यवहार व्यापक रूपसे होता है। उड़ीसा अर्थकी दृष्टिसे भी काफी पिछड़ा हुआ प्रान्त है। फिर भी वहाँकी ग्रामीण जनताका जीवन सर्वथा कलाविहीन नहीं है। आप किसी भी देहातमें चले जाइये, वहाँ जगन्नाथके मन्दिर काष्ठके ही बने हुए मिलेंगे। इनमें विष्णुके दशावतार सहित या भागवत एवं रामायणसे सम्बन्धित चित्र लकड़ीपर खुदे हुए मिलेंगे। इन मन्दिरोंके बहाने आज भी जनताके कलाकारोंका पोषण उड़ीसामें होता है। पटनाके जैन-मंदिर (बाड़ेकी गली) में काष्ठपर नेमिनाथकी वरयात्राका सुन्दर अंकन है।

उपसंहार

इतने लम्बे विवेचनके बाद एक बातकी ओर पाठकोंका ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। जो काष्ठ-निर्मित वस्तुएँ प्रत्यक्ष मिलती हैं उनकी चर्चा ऊपर की गयी है। परन्तु इस प्रकारके अध्ययनमें अजन्ता, बाघ आदि गुफाओंके भित्ति-चित्रोंको नहीं भुलाना चाहिए, क्योंकि उनमें तात्कालिक जनताके आमोद, प्रमोद, उत्सवकी बहुत-सी घटनाओंके साथ-साथ समाजमूलक प्रवृत्तियोंमें सहायक एवं भिन्न-भिन्न वाहनोंके चित्र भी अंकित मिलते हैं। इनसे इतना अंदाज तो लगाया ही जा सकता है कि वे काष्ठके ही बने होंगे। इस प्रकार प्राचीन साहित्य और क्रमिक विकसित

शिल्प एवं चित्रकलाको भी इसके अध्ययनमें स्थान देना चाहिए। इन पंक्तियोंसे यह भी प्रतीत होता है कि कलात्मक भावोंको व्यक्त करनेके लिए सौन्दर्य-सम्पन्न उपकरण ही आवश्यक है ऐसी बात नहीं। कला वही है जो असुन्दर वस्तुमें शिवत्वकी स्थापना कर सके। भारतीय कलाकारोंपर यह पंक्ति सोलहों आने चरितार्थ होती है।

राजस्थानमें संगीत

राजस्थान एक ऐसा प्रान्त है जिसने आर्यत्वकी रक्षा तथा मा बहनोंकी प्रतिष्ठा बचानेमे एव तत्कालीन म्लेच्छो द्वारा होनेवाले आक्रमणोका बडी वीरतापूर्वक मुकाबला करनेमे सदा अग्रणीका कार्य किया है। स्पष्ट शब्दोमे कहा जाय तो सस्कृतिके बाह्य एव आशिक रूपमे आन्तरिक तत्वोको भी बहुत कुछ अशोमे सरक्षित एव विकसित करनेका मुयश राजस्थानको प्राप्त है। कर्तव्यशीलताकी बलिवेदीपर महर्ष उत्सर्ग होनेको तैयार रहनेकी क्षमता रखनेवाले वीरोंकी बहुलता राजस्थानकी मिट्टीकी अपनी विशेषता है। राजपूत माता पुत्रका एव पत्नी पतिको युद्धके क्षेत्रमे सोत्साह भेजनेमें अपनेको गौरवान्वित समझती है। राजपूतके जीवनका जिसप्रकार सघर्षमे गौरवपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार कलामें भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विशेष कर कवितामें। राजस्थानके काव्यमें माताका जितना वीरतापूर्ण शब्दचित्र अकित किया है, वैसे भाव और मातृत्वकी वैसी ही कल्पना अन्यत्र शायद ही उपलब्ध हो।

भारतवर्षके प्रान्तीय इतिहास विषयक साधनापर दृष्टिपात करनेसे अवगत होता है कि राजस्थान और गुजरात ही ऐसे प्रान्त हैं जिनके निवासियोंने रूपसे अपने जन-इतिहासकी नैतिक परम्पराओको साहित्यिक एव मौखिक न केवल सुरक्षित रखा है, अपितु उन्नतिशील तत्त्वोंसे अपने जीवनको भी समुन्नत बनाया है। सन्त-परम्पराका अधिकतर साहित्य राजस्थानमें ही निर्मित हुआ है। एक समय था सगीत, साहित्य और ललित कलाओका राजस्थानमे विकास अपनी चरम सीमापर था। ये त्रिपुटि ही मानव सस्कृतिको विकसित करते-करते शिव सुन्दरम् द्वारा सत्य तक पहुँचाती है। यही मानवका अभिलाषित अतिम तत्त्व है।

राजस्थानका अतीत अत्यन्त उज्ज्वल होते हुए भी वर्तमान कालमें उसकी काफ़ी उपेक्षा रही है, जैसे वहाँ न नागरिक जीवन रहा हो, न संस्कृति ही और न वहाँका मानव-क्षितिज ही परिस्कृत रहा हो। आज राजस्थानकी जहाँ थोड़ी-बहुत चर्चा होती भी है तो केवल अर्थाश्रित जीवनके बलपर ही। परन्तु राजस्थानका प्राचीन इतिहासमें जो गौरवपूर्ण स्थान रहा है, उसका कारण न तो औद्योगिक विकास है और न अतुल्य लक्ष्मी ही, अपितु विद्वज्ज-गतमें एवं कला समीक्षकोंकी दृष्टिमें गौरवका प्रधान मेरुदंड है संगीत, साहित्य और कला। इनके विकासपर ही देशमें ऐतिहासिक स्थायित्व आ सकता है एवं दूसरेके प्रति समादृत भी हो सकता है।

प्रस्तुत निबंधमें वर्तमान प्रधान राजस्थानमें पल्लवित कुछ संगीतकी विभिन्न शाखायें एवं ललित-कलाओंके बहुमुखी विकासका दिग्दर्शन करनेका यथामति प्रयत्न किया जायेगा।

संगीत

जीवनमें संगीतका क्या स्थान है, इसे शब्दोंद्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है, जब वह हमारे जीवनसे संबंधित न हो। आध्यात्मिक विकास, चित्तवृत्तियोंकी स्थिरता, तल्लीनता एवं मानवका परितोष संगीतमें सर्वत्र व्याप्त है। अंतरके अमूर्तपर विशिष्ट प्रेरणादायक भावोंका स्वर, ताल, लय एवं नृत्यपूर्वक समीचीन व्यक्तीकरण ही यदि संगीत कहा जाय तो मानना होगा कि जहाँ कहीं भी मानवका निवास है वहाँ किसी न किसी रूपमें इसका प्रादुर्भाव अवश्य ही पाया जायेगा। चाहे जंगलीसे जंगली जाति ही क्यों न हो? अन्तरप्रेरणाको केवल स्वरके द्वारा ही उत्तम ढंगसे व्यक्त करनेका ढंग अरण्यवासिनी जातियोंमें अधिक प्रचलित है। वस्तुतः देखा जाय तो स्वर ही संगीतकी आत्मा है। स्वर संगीत ही संगीत है। शब्द संगीत पंगु है। स्वरोंकी प्रक्रिया मानसकी परिस्थितियोंको विचलित कर देती है। स्वरोंकी झंकृति नहीं भुलाई जा सकती। शिशु भी इसके आनन्दमें

इतना तल्लीन हो जाता है कि वह अपनी बाल्य-सुलभ चचलवृत्तियोंतकका परित्यागकर अपनेको थोड़ी देरके लिए भूल जाता है। सगीतके स्वर पाषाण हृदयको भी द्रवित कर देनेमे सक्षम है। वे भक्तिके प्रधान वाहन है। यदि हम इसे ध्वनिकी अपेक्षासे विश्वभाषा भी मान ले तो आपत्ति नही। राज-स्थानकी सस्कृतिके आलोकपूर्ण पृष्ठोपर यदि दृष्टि केन्द्रित करे तो स्पष्ट दृष्टिगोचर हुए बिना न रहेगा कि यहाँके निवासी ललितकलाओमे कितनी गहरी अभिरुचि रखते थे। सगीतको राजस्थानके नरेश एव श्रीमन्त प्रोत्सा-हन देते थे। मुझे यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि राजस्थानका सगीत लोक सगीत था। राजमहलोसे लेकर झोपडियोतकमे इसका समान भावसे आदर होता था। साधारण-से-साधारण मानव भी अपने स्वरमे मानवोचित गुण, इष्टदेव-स्तुति, वीररसके पद, तथा जीवनगत घटनाओके प्रेरणादायक तत्त्वोपर प्रकाश डालनेवाली हृतत्रीके तारोको झकृत कर देनेवाली मानव-शक्तिका यशोगानकर आत्मानदका अनुभव करते थे।

शास्त्रीय सगीतकी अपेक्षा लोकसगीत इसलिए अधिक व्यापक हो जाता है कि उसमे उस प्रान्तके समयानुकूल परिवर्तन हो जाते है। जनता अपने ढगसे अलग-अलग तरहसे एक ही रागको गाती है। क्रमश सभी दृष्टिसे सीमित स्वरोका महत्व न रहकर परिचित परम्परा अर्थात् आनन्द ही प्रधान रहता है। सगीत-शास्त्रके वैदिककालसे लगाकर मध्य कालतक-के स्वरोके इतिहास-पर्यालोचन करनेसे स्पष्ट मालूम पडता है कि समय-समयपर विशुद्ध शास्त्रीय सगीतमे भी वेदोकी अलग-अलग शाखाओके गायकोने एव तदुत्तरवर्ती प्रतिभा सम्पन्न कलाकारोने बहुत-सा ऐसा परि-वर्तन किया है, जो इस समय तो वह नया प्रयास होनेके कारण अमान्य रहा, पर बादके समालोचकोने सगीतकी शुद्ध परिभाषामे स्थान दे दिया। वैदिक कालमे जब वेदोका सस्वर पाठ किया जाता था, तब अमुक स्वर ही अमुक शाखामे प्रधान माने जाते थे। अतिरिक्त स्वर निन्द्य तक समझे जाते थे, कारण कि इसकी शाखावाले उनका प्रयोग करते थे। यहाँतककी स्वरोकी

प्रकृतिके कारण पारस्परिक युद्धतक हुए है। परन्तु कुछ वर्षोंके बाद ही जिन वैदिक गायकोकी दृष्टिमे जो स्वर अवैदिक घोषित किये जा चुके थे, वे ही अगली पीढियोमे वैदिक मान लिये जाते है। मेरे विचारमे भारतमे बहुत प्रारम्भ कालसे ही कुछ ऐसा वातावरण रहा है कि चलती हुई स्थितिमे नवीन परिवर्तनके लिए यहाँके एकागी चितक कभी तैयार नही होते। इसी स्थितिपालक परम्पराने भारतको सास्कृतिक धक्का भी पहुँचाया है। सगीत-पर उपयुक्त पक्तियाँ सोलहो आने चरितार्थ होती है।

प्रधानत स्वरोके क्रमिक विकासका जहाँ प्रश्न उपस्थित होता है, विचार किया जाता है, वहाँ सर्व ऋक् प्राति शाख्यको ही प्रधानता दी जाती है, कारण कि इसमे कुछ ऐसी पक्तियाँ मिलती है जो स्वर और उनकी मात्राये तथा कौन पक्षी या पशु किस स्वरमे बोलता है आदि बाते सग्रहीत है। एक समय था कि वर्णित स्वरोका प्रयोग ही शास्त्रीय-सगीत माना जाता था, परन्तु बादमे स्वतत्रतापूर्वक ज्यो-ज्यो जनताने आनद प्राप्तिके लिए नवीन स्वरोका आविष्कार किया या वास्तविक स्वरोको पहचाना तब वे स्वर भी शास्त्रीय-सगीतमे सम्मिलित कर लिये गये। यद्यपि वैदिक साहित्यके सबधमे मेरा ज्ञान सीमित ही है, अत वैदिक कालीन किस शाखामे कौन-कौन स्वर किस वेदके पाठके प्रधान वैदिक थे और कौन-कौन से अवैदिक, यह बताना मेरे लिए कठिन है। न विद्वत् जगतमे इस दृष्टिकोणको ध्यानमे रखते हुए सगीत एव साहित्यके मर्मज्ञोने चेष्टा की है। हाँ, शांति-निकेतनके आचार्य क्षितिमोहन सेनने इस विषयपर १९४८मे मुझे एक निबध सुनाया था।

वैदिकोत्तर कालीन सगीत भी सदैव परिवर्तित होता रहा है। स्वरोकी झझटे उतनी नही थी। प्रान्तीय रागोमे अन्तर अवश्य था। सगीत शास्त्रानुसार केवल गान विद्या ही सगीत नही है। अपितु 'गीतवाद्य तथा नृत्यं संगीतं त्रय मुच्यते' गायन,वादन और नृत्य ही सगीत है। इस परिभाषाके अनुसार सगीत शब्दका प्रयोग करूगा। प्रस्तुत कालमे वाद्योका काफी

विकास हुआ, कारण कि जहाँतक वाद्योंका प्रश्न है वह अधिकतर जनताके प्राप्त साधनोंपर निर्भर था। वाद्य गायनमें सहयोग देते है और स्वर समाबाध देते हैं। अत वाद्योंकी आवश्यकता केवल स्वर प्राप्ति ही है। अतः इस व्यापक उद्देश्यकी प्राप्ति किसी भी द्रव्यसे की जा सकती है, अर्थात् स्वर निकाले जा सकते है। अर्थात् कुछ वाद्य प्रमुख है। वैदिकोत्तर कालमें वाद्योंमें न केवल क्रान्तिकारी परिवर्तन ही हुए, अपितु बहुतसे नूतन वाद्योंकी सृष्टि भी हुई।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें विषयान्तर सकारण है। जिसप्रकार अलग-अलग कालोंमें संगीतके स्वर, वाद्य और नृत्य-पद्धतिमें तथा प्रान्तीय भेदोंके कारण रागके नामोंमें परिवर्तन किये, ठीक उसीप्रकार उपप्रान्तोंमें या एक ही परम्पराका जहाँ विकास होता है, वहाँ कालक्रमसे रागोंके नाम भी देश-परक हो जाते है। कम-से-कम राजस्थानमें तो ऐसा अवश्य ही हुआ है। **तमालु माढ** (जैसलमेर प्रदेश) **माढ** आदि कुछ राग और खास देशियाँ जिन्हे हम जनताका संगीत कह सकते है राजस्थानकी संगीत साहित्य-का मौलिक दन है। इसमें **भाट, और मीरासी, ढोली** आदि कुछ जातियाँ ऐसी है, जिनका आज भी गायन ही प्रधान व्यवसाय है। चौदहवी सदीमें भारतीय संगीतमें अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है ऐसा संगीत समीक्षकोंका अभिमत है, परन्तु किन परिस्थितियोंमें किस प्रान्तमें और कैसे यह परिवर्तन हुआ, यह आवश्यक साधनोंके अभावमें बताना असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। ऐतिहासिक परिवर्तन और जहाँतक नैतिक और साहित्यिक विकासका प्रश्न है वह परिवर्तन सम्भवत राजस्थानसे ही प्रारम्भ हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही, कारण कि उन दिनो राजस्थान संघर्षके काले बादलोंसे घिरा था, परन्तु सांस्कृतिक चेतना तो थी ही। उन्ही दिनो भक्ति परक साहित्य भी राजस्थानमें ही निर्मित हुआ। जैन-सन्तोंने अपनी व्यापक और समत्वकी मौलिक भावनापर आधृत औपदेशिक वाणीका प्रवाह संगीतके द्वारा प्रवाहित किया था। आचार्य श्री जिनकुशलसूरि १४वी सदीके ऐसे महान् संगीतज्ञ

आचार्य थे, जिन्होंने अपनी प्रतिभासे संगीतकी सम्पूर्ण परिभाषाको ही अर्थात गीत, वाद्य और नृत्यकी ध्वनिको इस प्रकार शब्दोंमे ग्रथित कर दिया—

छन्द हरिगीत

द्रं द्रं कि धपमप, धुधुमि धोधो, ध्रसकि धरधप धोरवं,
दों दों कि दो दो, द्राग्डिदि द्राग्डिदिकि, द्रमकि द्रम रण द्रेणवं,
झझिझैंकि झें झें, झणणरणण, निजकि निजजन रंजनं,
सुर-शैल-शिखरे भवतु सुखद पार्श्वजिनपति मज्जनं ॥१॥
कटरेंगिनि थोंगिनि, किटति गि गुडदा, धधुकि धुटनट पाटवं,
गुण गुणण गुणगण, रणकिणेणं गुणणगुणगण गौरव,
झझि झेंकि झें झें, झणणरणरण निजकि निजजन सज्जना
कलयति कमला कलितकलमल, मुकलमीश—महेजिना ॥२॥
ठ कि हूं कि हूं हूं, ठेंहि ठहि कि ठ हि पट्टास्ताड्यते
तल लोकि लो लो, थेंथि थेंथिनि डेंथि डेंथिनि वाद्यते,
ओ ओ कि ओ ओ थोगि थोगिनि थोगि थोगिनि कलरवे,
जिनमतमनता महिमतनुता, नमति सुरनरमुक्कवे ॥३॥
खुदां कि खुंदा खुखुद् दि खुंदां, खुखुदद्दि दो दो अम्बरे,
चाचपट चचपट रणकि णं णं उणणण डेंडें अम्बरे,
तिहां सरगमपधुनि, निधपमगरस ससससस सुर -सेविता,
जिन-नाट्य रंगे, कुशल मुनीश, दिशतु शासन देवता ॥४॥

मुझे मिर्जापुरमे जो हस्तलिखित गुटका प्राप्त हुआ था, उसमें राजस्थानी संगीतपर प्रकाश डालनेवाली स्फुट रचनाएँ पर्याप्त हैं। उसमें एक जैन भी है जो इस प्रकार है—

छन्द स्रग्धरा

पापा धाधानि धाधा, धपमपधिगा, सासगासार धापा,
सासागागार धापा निगमसरिया पापमा सार धापा,

इत्थं धटजारिम्यं, करणलघुयुतं सकुला भी समेतं,
संजीतं यस्य देवो बहिव मति सुभ पातु सो पार्श्वनाथं ॥१॥
धोन्धा धोन्धा धुधवा डिगडिग डिग डि भाटां धुमाटा धुमाट,
डुग्मां डुग्मां डुमां डुमा डुलि डुलि डुलिमां भांसु भाजांभुभामं,
छल्मा छल्मां निछल्मा टिक टिक रिटिभा भुवा भुवा भुयें,
पामां तो तो धेवाथे,वि बुधत्ति विबुधां, पान्त वस्तीर्थवास्ते ॥२॥
कोटंट रावणं त त्रिभुवन करट दर्पण ट रण ट,
डांबिड अडहडहड़, हडक अगुल त्रिवु त्रिगुणे,
प्रं भपा भपा भभंप्रा त्रिषुमि प्रिषु भिषु त्रिभिषुद्र नाथे,
रेभे स्तूयं सतोषेज्जनपति वचसा पातु पूज्योपचार ॥३॥
भाटा निर्धाटयती तुटिति कटिपट कटके लोटयंती,
कोटाधि कोटयंती कपट नटि पट कि पटे सार यन्ती,
उत्पाले . .लिखाले स्यारिजलज्जाटा तूटकं आटेयन्ती,
घरुट्या लयन्तीधममधनवसा, श्रेयसो वर्द्धमान ॥४॥
इति वर्द्धमानस्तुति । प० दयाकुशल लिपीचक्रे[1] ।

१४ वी सदी ही भारतीय सगीतमे मौलिक परिवर्तन-विशेषत रागोंके परिवार आदिकी दृष्टिसे बडे महत्वकी सदी है। राजस्थानसे ही यह प्रयास प्रारभ हुआ, जैसा कि ऊपर मे लिख चुका हूँ । यो तो राजस्थान वीरप्रसू-भूमि होनेके कारण और यहाँके निवासियोका सघर्षमय जीवन रहनेके कारण अधिकतर वीर रसात्मक राग ही अधिक प्रचलित थे, परन्तु जीवनमें आनन्द उत्पन्न करनेवाले स्वराश्रित राग रागिणियोकी ओर भी उपेक्षात्मक-वृत्ति नही थी।

राजस्थान प्रान्तका सगीत आजतक क्रमिक विकास और इतिहासकी

---

[1] इस स्तुतिकी एक ही प्रति मेरे अवलोकनमें आयी है । इसमें छंदके हिसाबसे काफी अशुद्धियां हैं ।

दृष्टिसे प्राय. उपेक्षित-सा हो रहा है। यद्यपि लोकसाहित्यके कुछ एक मर्मज्ञोने राजस्थानके लोकगीतोंकी चर्चा कर उनके सार्वजनिक महत्वपर अवश्य ही प्रकाश डालकर अन्य प्रान्तीय एतद्विषयक साहित्यिकोका ध्यान आकृष्ट कर इस सास्कृतिक निधिको प्रकाशमे लानेका प्रयत्न किया है, परन्तु लोकगीतोकी पुरानी देशियोमे जो स्वर तत्त्व पाया जाता है एव रसानुसार जिन स्वरोकी, उनके रचयिताओने योजना की है, इस विषयपर वे भी मौनावलम्बन किये हुए हैं। जब एक अभिलषित विषयपर समुचित प्रकाश डालनेवाले साधन उपलब्ध नही हो जाते, तबतक राजस्थानमे जो संगीतका व्यापक रूप बिखरा हुआ है, उसकी कल्पना नही हो सकती।

मेवाडके महाराणाओंको सगीतसे विशेष प्रेम था। महाराणा **कुम्भा** शिल्प स्थापत्यके साथ सगीतकलाके भी मर्मज्ञ थे। उनकी मुद्राओमे भी वीणा वादिनि सरस्वतीका चित्र अकित रहा करता था। **सगीतराज** महाराणाकी भारतीय सगीत साहित्यमे अमरकृति है। **संगीतरत्नाकर** और **गीत-गोविन्द** पर वृत्तियाँ रचकर अपना एतद्विषयक ठोस परिचय दिया है। आज भी यह ग्रन्थ हमारे लिए गर्वकी वस्तु है, परन्तु अत्यन्त परिताप है कि ऐसे मूल्यवान् ग्रथको आजतक समुचित रूपमे प्रकाशमे नही लाया गया और न उसके आभ्यन्तरिक रहस्य, शैली आदिपर आलोचनात्मक विचार ही किया गया। यद्यपि इसके कुछ भाग बीकानेर राज्यसे श्री डॉ० कुन्हन राजाके सम्पादनमे प्रकाशित देखे है, परन्तु मुझे खेद है कि उसे देखकर कोई भी सगीत प्रेमी बिना क्रुद्ध हुए न रहेगा।

राजस्थानी स्वभावसे भावुक होते है। यही कारण है कि भक्तिकी परम्परामे राजस्थानी सतोकी सर्वाधिक देन है। मीरा इस परम्पराकी एक प्रकारसे नेत्री थी। आपने अपने भक्तिसिक्त पदोमे शास्त्रीय सगीतका उपयोग बडी सफलतापूर्वक किया है। वहाँ विचरण करनेवाले जैन-श्रमणोने भी हजारो की सख्यामे न केवल शास्त्रीय सगीत बद्ध पदोकी ही रचना की, अपितु **समयसुंदरजी** और वाचक **कुशल-लाभ** जैसे सस्कृतके प्रकाण्ड

पंडितोंने राजस्थानीय रागोंमें भी अपनी कृतियोंका प्रणयन किया है। इन मुनियोंने राजस्थानमें प्रचलित संगीत पद्धति एवं स्वरोंपर प्रकाश डालनेवाली स्वतंत्र रागमालाएँ भी निर्माण की हैं, वे उस प्रान्तके मुखको उज्ज्वल करती हैं।

यों तो संगीत परमार्थका साधक है, परन्तु इतिहासमें देखा यह गया है कि जनशक्तिके उत्प्रेरक इस संगीतका प्रयोग अभिजात्य वर्ग द्वारा अधिकतर शृंगारिक भावोंके उद्दीपनके रूपमें किया गया है, परन्तु राजस्थानमें संगीतकी सरिता दूसरे ही रूपमें बही है। इसका यह अर्थ नहीं कि उपर्युक्त उल्लिखित अर्थमें राजस्थानमें संगीतका उपयोग हुआ ही नहीं, प्राय इस कार्यके लिए उसका उपयोग नहीं हुआ। राजस्थानमें संगीतका उपयोग वीररसके उद्दीपनके रूपमें हुआ है, जैसा कि वीरगाथाकालीन साहित्यसे लेकर आजतकके डिंगलसाहित्यके अन्वेषणसे ज्ञात होता है। वीररसका स्थायी भाव उत्साह ही है और उसे स्वर और शब्दके द्वारा राजस्थानमें प्रोत्साहित किया जाता है। राजस्थानके चारण परम्परासे आज भी ऐसे-ऐसे गायक हैं, जो निरुत्साह और शक्तिहीन व्यक्तिको भी तलवारकी मूठ पकडनेको बाध्य कर देते हैं।

संगीतकी आत्मा स्वर है। नादका महत्व संगीत विषयक शास्त्रोंमें बहुत बडा बतलाया गया है। परब्रह्मकी साधनामें भी नादका महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। नादका समुचित उत्थान ही शुद्ध संगीत ही है। नाद प्राणिमात्रको प्रभावित कर, इतना तल्लीन बना देता है कि वह अपने आपको कुछ क्षणोंके लिए भुला देता है। अनुश्रुति है कि बैजू बावरा, गोपाल नायक, और मोहम्मद, घोष आदिके संगीतके समय वन्य पशु तक स्तम्भित हो जाते थे, किन्तु खेद है कि इस दृष्टिसे राजस्थानके गीतोंके मूल्याकनका प्रयत्न संभवत कम ही हुआ है। अधिकाश गीतोंके मर्मतक साधारण जनकी दृष्टि नही पहुंच पाती वे भी गीतोंके नादसे प्रभावित हो तल्लीन हो उठते हैं।

निरालाजीके गीतोके पाठक इन पंक्तियोका सरलतापूर्वक अनुभव कर सकते हैं। निरालाजीके तथाकथित क्लिष्टतम गीतोका मर्म तभी खुलता है, जब वे भी मुग्ध हो उनका पाठ कर सकते है। यही बात मीराँके सम्बन्धमे भी कही जा सकती है। राजस्थानमे मीराँका व्यक्तित्व सर्वाधिक उभरा हुआ है। बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो मीराँके द्वारा ही इधर कुछ प्रान्त, राजस्थानको जानते है। राजस्थानकी भक्ति परम्परामे मीराँका ही ऐसा व्यक्तित्व है जो वैचारिक दृष्टिसे भी सपूर्ण भारतवर्षमे फैला हुआ है। उनके सगीतबद्ध गीत प्राय सारे भारतवर्षमे श्रद्धाके साथ गाये जाते है। राजस्थानी भाषासे अपरिचित व्यक्ति भी मीराँके गीतोके सस्वर पाठ सुनकर आनन्द-विभोर हो उठता है। अपने गीत तत्वोके कारण ही मीराँकी भाषा हृदयको छू लेती है।

राजस्थानमे सगीतशास्त्रके विभिन्न अगोका विकास किसप्रकार हुआ होगा, इसपर स्वतत्र प्रकाश महाराणा **कुम्भा** रचित **संगीतराजमे** तो कुछ मिलता ही है, परन्तु राजस्थानमे निवास करनेवाले जैनमुनियोने देशकी नैतिक परम्पराको कायम रखनेवाली जो सस्कृत, प्राकृत एव देशी भाषाओमे कथाये रची है, उनमे भी प्रासगिक रूपसे सगीतकी जो चर्चा की है उससे इस बातका पता चलता है कि वहां सगीतकी क्या स्थिति थी। ऐतिहासिक दृष्टिसे कथाओके निर्माणकालसे ही राजस्थानके सगीतका इतिहास खोजा जाय तो वर्तमान उपलब्ध साधन-सामग्रीसे यह स्थिर करना असगत न होगा कि विक्रमकी दसवी या एकादशवी शताब्दीमे राजस्थानमे सगीत था, क्योकि आचार्य **श्रीजिनेश्वरसूरिने** ११वी सदीमे अपने कथाकोषमे **सिंहकुमार** कथानकमे गाधर्वकलाका परिचय देते हुए **तंत्री, समुत्थ, वेणु, समुत्थ** और मनज समुत्थ नादोका वर्णन किया है। नादका उत्थान कैसा होता है और उसके स्थान भेदसे स्वर भेद कैसे हो जाते है, और फिर उसके ग्राम मूर्च्छना आदि कितने प्रकारके राग भेद होते है, इसे सूचित किया है। कथाकार आचार्यने लिखा है कि इस विषयका शास्त्र एक

लाख श्लोकका है। नहीं कहा जा सकता कि यह किसकी रचना है। इसी कथानकमें भरतमुनिके नाट्यशास्त्रका उल्लेख करते हुए नृत्य भग एक अभिनय आदिका विशद् वर्णन किया गया है। प्रासगिक और भी कथानकोमे अवान्तर रूपमे इस प्रकारकी चर्चा आती है। यदि इन कथा-कहानियोको तात्कालिक समाजका प्रतिबिम्ब माना जाय तो कहना होगा कि उन दिनों जिस प्रान्तमे जिस कथाका प्रणयन हुआ हो, उसका सास्कृतिक प्रभाव अवश्य ही कथाओंपर पड़ा है। अर्थात् इससे प्रकट होता है कि इन कथाओंसे तत्कालीन राजस्थानी संस्कृतिका अध्ययन करनेमे बड़ी सहायता मिल सकती है।

राजस्थानमें इतिहास पुरातत्वकी जो साधन-सामग्री समुपलब्ध हुई है, उसमे पता चलता है कि राजस्थानमे सगीत बहुत अधिक व्यापक हो चुका था। व्यक्ति या अभिजात-वर्ग तक ही सगीतका प्रचार सीमित न था। अपितु जनजीवनमे ओतप्रोत था। राजस्थानकी अधिकाश कथाओसे, जिनमे जन-जीवनका चित्रण मिलता है, ज्ञात होता है कि विशिष्ट उत्सव एव प्रात - कालमें महिलायें समुचित रूपसे गाती-बजाती हैं। आज भी उदयपुर, जोधपुर आदिमें ढोली जातिकी स्त्रियाँ प्रतिदिन एक-आध घण्टे रईसोंके यहाँ गानेके लिए रखी जाती है।

राजस्थानी चित्रकलामें राग और रागिनी चित्रोंका बाहुल्य है। एक समय था जब शायद ही कोई श्रीमन्त रहा हो, जिसने अपने शयनागारमे रागिनी चित्र न लगाया हो। राज दरबारमें तो विशेष रूपसे इसका ध्यान दिया जाता था।

हस्तलिखित प्राचीन ग्रथोंके हाशियोमे भी रागिनी चित्र या सगीत उपकरण अकित मिलते है। निष्कर्ष यह कि अतीतमे इस कलामें राजस्थान पश्चात्-पाद न था, अपितु कुछ शाखाओमे आगे ही था।

लिपि
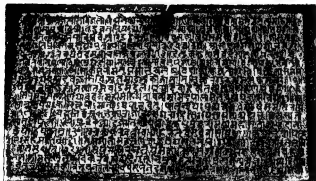
कलचुरि पृथ्वीदेवका ताम्रपत्र

पूर्वार्द्ध

कलचुरि पृथ्वीदेवका ताम्रपत्र
उत्तरार्द्ध

खोजकी पगडंडियाँ

"राज्ञ श्रीमत्पृथ्वी देवः"
कलचुरि पृथ्वीदेवके ताम्रपत्रकी मुहर
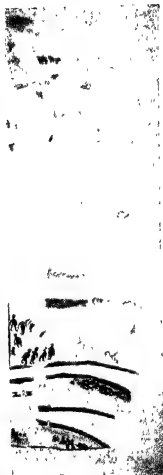
जैनाश्रित चित्रकलाकी सर्वप्राचीन कृति
(जोगीमारा गुफाकी दीवालपर चित्रित है)

महाराज हस्तीका नवोपलब्ध ताम्रशासन

भारतीय इतिहासकी महत्वपूर्ण और सर्वाधिक विश्वस्त साधन-सामग्रीमे ताम्रपत्र व शिलोत्कीर्ण लिपियोकी उपयोगिता सर्व विदित है, सीमित स्थानमे महत्त्वपूर्ण आवश्यक घटनाएँ ही उनमे उत्कीणित रहती है। अत वे इतिहासके क्रमिक—विकासकी प्रामाणिक कडियाँ है। जहाँतक ताम्रपत्रोका सवाल है, उनके सम्बन्धमे ग्रामीण जनतामे कई प्रकारके भ्रम फैले हुए है। कुछ लोग इन्हे देवताओके सिद्धिदायक यन्त्र समझकर भक्ति-पूर्वक अर्चना कर अपनी भावुकताका परिचय देते है ! कहीं-कहीं ये गडे हुए धनकी सूचना देनेवाले बीजक-पत्र भी समझे जाते हैं। अन्ध विश्वासोके कारण इसप्रकारकी ऐतिहासिक साधन-सामग्री-प्राप्त्यर्थ शोधकको कितना श्रम करना पडता है, कितनी बार भर्त्सनाका पात्रतक बनना पडता है, यह भुक्तभोगी ही समझ सकता है। श्रद्धाजीवीको समझाना कठिन नही होता। पर यदि उसका स्वार्थ किसीमे निहित हो तो निश्चित रूपसे वह किसी भी प्रकार समझाने-बुझानेपर भी अपनी बात नही छोड सकता। ताम्रपत्रोपर ये पक्तियाँ सोलहो आना चरितार्थ होती है अभी-अभी मुझे पता चला है कि खानदेशमे एक स्थानपर तीन-चार ताम्रपत्र व मुद्राएँ एक व्यक्तिके पास है। पर वह इतना बेसमझ व अनुदार है कि पाँच मिनिटसे अधिक ताम्रपत्रोको पढनेतक नही देता। उसे शक है कि गडे हुए धनका पाठकको कहीं पता न लग जाय। ऐसी सामग्री प्राप्त करनेके लिए कभी-कभी दो-तीन पीढी तक प्रतीक्षा करनी पडती है, और अन्य शोधकोको करनी पडी है। सम्भव है इसकी पुनर्प्राप्तिके लिए भी उतनी ही या उससे कम तपश्चर्या मुझे भी करनी पड़े।

ताम्रपत्रकी प्राप्ति--

सन् १९४२ वैशाखमे मै पूजनीय गुरु महाराज उपाध्याय श्री **सुखसागर-जी महाराजके** साथ **जबलपुर** था । उस समय सुषमा-साहित्य-मदिरके सचालक **बाबू सौभाग्यमलजी जैन** एक व्यक्तिको लाये--जिसका नाम मुझे स्मरण नही है--जो आर० एम० एस० मे काम करता था। उसने अपने गाँवकी, जो रीवाँ और सतनाके बीच या कही आसपास पडता है, एक घटना सुनाई ।

चातुर्मासके दिनमे अतिवृष्टिके कारण वहाँ एक मन्दिरका शिखर टूट गया। दिवालोकी कुछ ईंटे भी खिसक गई, इनमेसे बहुत-सी स्वर्ण व रजत मुद्राएँ एव फुटकर मूल्यवान् धातुके खड प्राप्त हुए। इन्ही दिनो इस व्यक्तिके खेतमेसे एक ताम्रपत्र अनायास ही उपलब्ध हो गया, उसका भाई हल जोत रहा था। एकाएक ठेम लगनसे वह अटक गया। मधुर आवाज हुई। विशुद्ध धार्मिक मानस होनेसे प्रथम तो वह कुछ भयभीत हुआ, पर बादमे ऊपरवाली घटना स्मरण हो आनेसे उसने प्रसन्नताके साथ जमीन खोदना शुरू किया। इस विश्वासके साथ कि शायद मदिरके समान इसमे भी कही धन निकल आये। मनुष्यकी सभी आशाएँ मूर्त नही हो सकती। उत्खननके फलस्वरूप एक ताम्रघट, जिसमे राख भरी हुई थी, प्राप्त हुआ । इसमे दो ताम्रपत्र एव एक मुद्रा अवस्थित थी। कुछ वर्षो तक तो उसने देववत् पूजन किया। इतनेमे भूमिविषयक पारिवारिक कलह उत्पन्न हुआ। इन दोनो घटनाओने उसके हृदयमे ताम्रपत्रका रहस्य जाननेकी जिज्ञासा उत्पन्न की । क्योकि उनका भ्रम था कि या तो धनकी सूचना इसमे उल्लिखित होगी या अपनी भूमिविषयक अधिकारकी बाते होगी । वह ताम्रपत्र भी विशेषरूपसे लपेटे हुए था, जैसे कोई उपासक देवमूर्तिको रखता है। उस समय पुरातत्त्वके क्षेत्रमे मैने प्रवेशमात्र ही किया था, अत लिपिविषयक मेरा ज्ञान भी सीमित होनेके कारण तत्काल पूर्ण ताम्रपत्रको पढकर रहस्य तक पहुँचना कठिन था। मै केवल सील ही पढ पाया, जिसपर **श्रीहस्ति राज्ञः** अकित था।

इसपरसे मुझे इतना तो अनुमान हो गया कि इस ताम्रशासनका सबध गुप्त राज्यवशसे है। पूछनेपर ज्ञात हुआ कि उसने इसे आजतक किसीको भी बताया नही है। अत इसपर मेरा आकर्षण और बढ़ा। मैंने चाहा कि इसे दो-चार दिन अपने पास रखकर पढनेका प्रयास करूँ, कमसे कम इम्प्रेशन या फोटो तो उतरवा ही लू, पर वह एक क्षण भी मेरे पास न तो रखनेको तैयार था और न फोटो उतरवानेकी अनुमति देनेकी ही स्थितिमें था। कारण स्पष्ट है। मुझे भी आश्चर्य नही हुआ। दो सप्ताहतक मैंने भी स्वेच्छासे उसकी उपेक्षा ही की। कभी-कभी उपेक्षित वृत्ति भी कार्य-साधक बन जाती है, विशेषकर ऐसे मामलोमें।

ताम्रपत्र-स्थिति—

अनुशासन दो ताम्रपत्रोपर उत्कीर्णित है। दोनो ताम्रपत्रोके उपरि-भागमे दो गोलाकार छिद्र है। मध्यमें एक ताम्रकी कडी है, जिसका आधा भाग सापेक्षत अधिक चौडा है। इसपर 'श्री हस्तिराज' खुदा हुआ है। जब ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ, तब कडी और पत्र भिन्न थे, बादमे सयुक्त रूप दे दिया गया है। प्रथम ताम्रपत्रमे तेरह और द्वितीयमे १२ पक्तियाँ उत्कीर्णित है। ताम्रपत्रका निर्माण कुशल ताम्रकारकी कृति है। उभय ताम्रपत्रोके चारो ओरके किनारोका भाग पीट-पीटकर उठा दिया गया है, जिससे मूल लेखकी घिसाई वगैरहसे क्षति न हो। उठे हुए भागपर बार्डरनुमा कुछ रेखाएँ खीची हुई है। लेख काफ़ी गहरा खुदा है। प्रथम ताम्रपत्र तो स्पष्टतासे पढा जा सकता है, परन्तु द्वितीय ताम्रशासनकी स्थिति ठीक नही है। ऐसा लगता है मानो वह जग खा गया हो। कही-कही सूक्ष्म छिद्र भी हो गये है, जो लिपिके साथ ऐसे घुल-मिल गये है कि पढते समय उन्हे भिन्न समझना कठिन है। यद्यपि ताम्रपत्रोको उस समय मैंने तोला तो नही था पर अनुमानत एक-एक पत्र ६ पावसे कम नही रहा होगा। लबाई-चौड़ाई अनुमानत ८"×४½" होगी।

वैशाखमें भारतपर जापानी आक्रमणके कारण हमे जबलपुरसे प्रस्थान करना पडा। ताम्रपत्र गुमानेका कुछ अफसोस तो था ही, पर यदि मैं उस वक्त उसका महत्त्व बताता तो शायद उसे प्राप्त भी न कर सकता। ठीक अक्षय तृतीयाके दिन पुन ताम्रशासन मेरे हाथमे आया और मैने उसे अल्पमत्यनुसार पढकर भारतीय लिपिमालाके सहारे अक्षरान्तर तैयार किया और फोटो कापी भी उतरवा ली। उन दिनो मुझे अपने द्वारा पठित पाठपर विश्वास न हुआ, तब फोटो प्रति सहित अक्षरान्तर श्रीयुत रणछोड़लाल भाई ज्ञानी (क्यूरेटर, प्रिंस आफ वेल्स, म्यूजियम, बम्बई) एव स्वर्गीय महामहोपाध्याय डा० गौरीशकरजी हीराचन्द ओझाको भेजे। उपर्युक्त महाशयोसे मुझे बडा प्रोत्साहन मिला। ओझाजीने ताम्रपत्र-स्वीकृतिपर जो पत्र दिया, उसका आवश्यक अश इस प्रकार है —

"आपके भेजे हुए ताम्रपत्रके दोनो फोटो और उनका अक्षरान्तर रजिस्टर्ड पार्सलद्वारा प्राप्त हुआ। मै इन दिनो अस्वस्थ हूँ तो भी मैने ताम्रपत्रके फोटोको पढनेका कार्य आरम्भ किया और एक पत्र पढ लिया है तथा दूसरा पत्र पढ रहा हूँ। यह ताम्रपत्र परिव्राजक (योगी) महाराज हस्तीका है। इससे कुछ नवीन बात मालूम नहीं होती, क्योकि इसके पहले उसी महाराज हस्तीके तीन दानपत्र गुप्त-सवत् १५६, १६३ और १९१ (वि० स० ५३२, ५३९ और ५६७)के मिल चुके है। आपके भेजे हुए ताम्रपत्रके फोटो गुप्त सवत् १७० (वि० स० ५४६)के हैं। इन चारो ताम्रपत्रोमें महाराज देवाढ्य, महाराज प्रभजन, महाराज दामोदर और महाराज हस्तीकी वशपरम्परा दी है। आपके भेजे हुए अक्षरान्तरमें कुछ पाठभेद अवश्य है और पहले पत्रकी पक्ति बारह तथा तेरहके अक्षर कुछ अस्पष्ट हैं। बाकी बहुधा ठीक है। ये योगी राजा गुप्तोंके सामन्त थे और बुन्देलखंडमें उच्चकल्प

('उचहरा')में राज्य करते थे और इनको जोगिया राजा कहते थे। इन चारों ताम्रपत्रोंमें कई ब्राह्मणोंको गाँव दान करनेका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त और कोई बात नहीं है।"

(विशाल भारत, जून १९४७, पृष्ठ ४१२)

श्रीमान् ज्ञानीजीने सन् १९४३ में इसे प्रकाशित करनेकी इच्छा व्यक्त की। इस बीच मैं अपने भ्रमण एवं अन्यान्य कार्योंमें व्यस्त रहा और इस नवोपलब्ध ताम्रपत्रके प्रकाशनकी बात प्रमादवश यों ही टलती गयी! सन् १९४९ में तत्कालीन बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी इतिहास विभागके प्रधान श्रीमान् डा० अनन्त सदाशिव अल्टेकर महोदयसे इस विषयमें बातचीत हुई और मैंने ज्ञानीजो, और ओझाजीके अक्षरान्तर उन्हें प्रकाशनार्थ दिये। आपने भारतीय लिपिविज्ञान-विशारद सौजन्यमूर्ति श्रीमान् डाक्टर बहादुर-

[1] एक समय था जब उचहरा परिव्राजकोंका प्रमुख नगर था, संस्कृति और सभ्यताका प्रमुख केन्द्र भी। परन्तु आज स्थिति दूसरी ही है। गुप्त-कालीन भारतीय शिल्पस्थापत्य कलाकी उज्ज्वल कीर्तिपर प्रकाश डालने-वाले अनुपम सौन्दर्यसम्पन्न, विचारोत्तेजक अगणित अवशेष यहाँसे उठ-उठकर कलकत्ता और प्रयाग आदि नगरोंके संग्रहालयोंमें चले गये। फिर भी नगरमें भ्रमण करनेपर कुछ अवशेष सामूहिक रूपमें या एक खंड-खंड इतस्ततः विशृंखलित रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं, जो तत्कालीन कला-मण्डपका प्रतिनिधित्व तो क्या, पर धुँधला संस्मरण अवश्य कराते हैं। आज भी वहाँ ग्रामीणों द्वारा पुरातन अवशेषोंकी घोर दुर्दशा हो रही है, परन्तु स्वतन्त्र भारतकी सरकार और भारतीय पुरातत्त्व विभाग इस ओर पूर्णतः उपेक्षित दृष्टिसे काम ले रहा है। अधिक आश्चर्य और दुःखकी बात तो यह है कि पुरातन लेखोंके, जो अद्यावधि अपठित व अप्रकाशित हैं, प्रस्तरपर निर्दयतापूर्वक चटनी और भंग पीसी जाती है! ऐसा होना जनतन्त्रके लिए भारी कलंक है।

चंदजी छाबड़ा एम० ए० पी०एच० डी० उटकमडको एपिग्राफिया इंडिकामे प्रकाशनार्थ भेज दिया ।

उत्कृष्ट कोटिकी गवेषणात्मक सामग्री प्राय प्रथम अंग्रेजीमे ही प्रकट होती है, इससे हिन्दीके पुरातत्त्वप्रेमी पाठक, जो विदेशी भाषासे सर्वथा अपरिचित है, वंचित ही रह जाते हैं। दुर्भाग्यसे भारतमे राष्ट्रभाषाके आसनपर हिन्दीको बैठानेके बावजूद भी पुरातत्त्वीय गवेषणा-विषयक वृत्तान्त अंग्रेजीमे ही प्रकाशित होते हैं। ओरियटल कान्फ्रेंस और हिस्ट्री कांग्रेस-जैसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सरस्वती-पुत्रोकी सस्थाओंकी कार्यवाही भी यदि हिन्दीमे प्रकाशित होने लगे तो निस्सदेह न केवल हिन्दीका ही स्तर उच्च होगा, किन्तु जन-साधारणके ज्ञानमे भी उल्लेखनीय अभिवृद्धि होगी। डॉ० **छाबड़ाजीने** मेरे कहनेसे एक हिन्दी निबध **"ज्ञानोदय"** (वर्ष ३ अं० ५) मे प्रकाशनार्थ भेजा था, उसे भी मै यथावत् उद्धृत करना यहाँ उचित समझता हूँ—

मुनि कान्तिसागरजीने २४, जुलाई १९४९के पत्रके साथ बनारससे मुझे इस शासनके फोटो भेजे। पत्रमें आप लिखते हैं कि "जब मै जबलपुरमें था तो मुझे महाराज हस्तिनका एक अप्रसिद्ध[1] ताम्रपत्र मिला था, जिसका ब्लाक मैंने बनवा लिया था। प्रिंट अवलोकनार्थ भेज रहा हूँ।" उसके बाद प्रयत्न जारी है कि मूल ताम्रशासनकी कुछ समीचीन छापें बनवाई जाएँ, परन्तु वह ताम्रशासन अब कहाँ और किसके पास है इसका अभी तक कोई पता नहीं लग रहा है। आशा है कि मुनि कान्तिसागरजीके पुनः प्रयत्नसे यह आकाक्षा शीघ्र ही पूर्ण हो जायगी।

मुनिजी द्वारा बनवाये ब्लाकसे यद्यपि मैंने सम्पूर्ण लेख पढ़ लिया था, परन्तु छपवानेके लिए अधिक स्पष्ट चित्रों अथवा छापोंका होना आवश्यक है। जबतक यह सामग्री नहीं मिलती, तबतक पाठकों तथा

---

[1]अप्रसिद्धसे आपका अभिप्राय है अप्रकाशित।

इतिहासप्रेमियोंके बोधार्थ उक्त ताम्रशासनके विषयमें कुछ यहाँ लिखा जाता है।

ताम्रशासन परिव्राजक महाराज श्रीहस्तीका है। जैसा कि इसी महाराज हस्तीके अन्यान्य ताम्रशासनोंसे विदित है, वैसे ही इस ताम्रशासनमें भी उनकी वंशपरम्परा दी हुई है। आप महाराज देवाढ्यके प्रपौत्र, महाराज प्रभंजनके पौत्र तथा महाराज दामोदरके पुत्र थे।

"सिद्ध नमो महोदवाय स्वस्ति"के बाद शासनकी तिथि दी गई है जो इस प्रकार है "सप्तत्युत्तरेब्दशते गुप्तनृपराज्यभुक्तौ महाज्येष्ठसाम्बत्सरे फाल्गुणमासशुक्लपक्षपचम्या अस्यान्दिवस पूर्व्वायां" अर्थात् गुप्तराजाओंके राज्यकालमें १७०वें वर्षमें, जब कि महाज्येष्ठ नामका संवत्सर चल रहा था, फागुन महीनेके शुक्लपक्षकी ५वी तिथिको। यहाँ 'सवत्सर'की जगह 'साम्बत्सर' एवं 'फाल्गुन'के स्थानपर 'फाल्गुण'का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। फाल्गुनके विषयमें कोषकारोंका तो यह कहना है कि "गगने फाल्गुने फेने णत्वमिच्छन्ति बर्बरा."। अर्थात् जो लोग उक्त तीन शब्दोंमें नकारके स्थानपर णकारका प्रयोग करते है वे असभ्य है। अगण आदिके विषयमें उनकी क्या सम्मति है, पता नही। जो भी हो, फाल्गुण या फाल्गुण शब्दका प्रयोग बहुत प्राचीन शिलालेखोंमें भी मिलता है, उदाहरणार्थ कोटा राज्यके अन्तर्गत बड़वा गाँवसे प्राप्त तीन प्रस्तरयूपोंपर खुदे मौखरियोंके अभिलेखोंमें फल्गुण ही मिलता है। ये तीनो अभिलेख विक्रम संवत् २९५में तिथ्यंकित है।[1]

अस्तु, ताम्रशासनका प्रतिपाद्य विषय यह है कि उपर्युक्त तिथिपर

---

[1]एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द २३, पृ० ५५। फाल्गुणके उदाहरणोंके लिए देखो—एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १५, पृ० १३०; फ्लीट द्वारा सम्पादित गुप्त अभिलेख (कार्पस् इन्सक्रिप्सनुम् इंडिकारुम्, जिल्द ३), पृ० २४६ और पृ० २५३।

परिव्राजककुलोत्पन्न महाराज हस्तीने अपने पुण्यकी वृद्धिके निमित्त मधूक-गर्तिका नामक गाँवका दान किया। इस गाँवमें भगवद्विष्णुपल्लिका और गोधिकापल्लिका नामके दो खेड़े भी शामिल थे। इन तीनोंका उसने एक अग्रहार अर्थात् ब्रह्मदाय बना दिया। दान जिन ब्राह्मणोंको मिला उनके नाम इस प्रकार हैं—"कोद्रव शर्मा, नागशर्मा, मातृदत्त, गंगाभद्रस्वामी, धनदत्त, कपिलस्वामी, अग्निशर्मा, विष्णदेव, विशाखदेव, गोविन्दस्वामी, परितोष शर्मा, कृष्णस्वामी, देवशर्मा, रोहशर्मा, देवशर्मा, वेवाढ्य, वसशर्मा, मनोरथ, अग्निदत्त, हरिशर्मा, रुद्रभव, विशाखदत्त, दारभट्ट, मौन, विष्णुस्वामी, विष्णुदेवस्वामी, गगघोष, इत्यादि।" दो-एक व्यक्तियोंके नाम एक जैसे हैं। अग्रहारकी सीमाओंका उल्लेख भी किया गया है।

दानका वर्णन कर महाराज हस्तीने यह अनुरोध किया है कि "आगे चलकर हमारे वंशका कोई राजा अथवा हमारा कोई सेवक इस दानमें हस्तक्षेप न करे। इस आज्ञाका जो कोई उल्लंघन करेगा उसको मैं देहान्तर-को प्राप्त हुआ भी बड़े अवध्यानसे भस्म कर दूँगा।" यहाँ अवध्यान शब्दका प्रयोग ध्यान देने योग्य है। इसका अर्थ है घृणा करना, बुरा मनाना, अभिशाप देना, इत्यादि। भागवतपुराणके दशमस्कन्धके ४४वे अध्यायके अन्तिम (४८वें) श्लोकमें 'अवध्यायी' शब्दका प्रयोग मिलता है—

सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः।
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित् सुखमेधते ॥

अर्थात्—इस संसारमें सभी प्राणियोका केवल कृष्ण ही उत्पादक, सरक्षक और संहारक है। जो उसकी अवज्ञा करता है वह कहीं सुख नहीं पाता, और न उन्नतिको ही प्राप्त होता है।

आगे शासनमें भूमिदान सम्बन्धी ऋषि व्यासके तीन श्लोक उद्धृत किये गये हैं। और अन्तमें ताम्रशासनके लेखक तथा दूतकके नाम दिये गये हैं जो क्रमशः महासान्धिविग्रहिकसूर्यदत्त और नागसिंह हैं। सूर्यदत्त भोगिक रविदत्तका पुत्र, भौगिक नरदत्तका पौत्र एवं अमात्य वक्रका प्रपौत्र

था। इस सूर्यदत्तने महाराज हस्तीके कई एक अन्य ताम्रशासन भी लिखे थे।

ताम्रशासनकी मुद्रापर जो छोटा-सा लेख है उसका पाठ है 'श्रीहस्तिराज्ञ:'। व्याकरणके अनुसार तो इसे कदाचित् 'श्रीहस्तिराजस्य' होना चाहिए।

पाठ

पहिला ताम्रपत्र

१ सिद्धन्[1] नमो महादेवाय।[2] स्वस्ति सप्तत्युत्तरेब्दशते . . .[3] गुप्तनृप

२ राज्यभुक्तौ महाज्यैष्ठसाम्व (संव) त्सरे फाल्गुणमासशुक्लपक्षपंचम्यां

३ अस्यान्दिवसपूर्व्वायां नृपतिपरिव्रा (व्रा) जककुलोत्पन्नेन महाराज देवाढ्यप्रण (–*)

४ प्त (प्त्रा) महाराजप्रभंजननप्त्रा श्रीमहाराजदामोदरसुतेन गोसहस्र-ह (–*)

५ स्त्यश्वहिरण्यानेकभूमिप्रदेन गुरुपितृमातृपूजातत्परेणात्यन्तदेवब्रा (–*)

---

[1] मूलमें इस मंगलात्मक सिद्धम् शब्दको एक चिह्न द्वारा प्रकट किया गया है। इसी चिह्नको बहुत-से विद्वान् ओंका चिह्न मानते हैं।

[2] मूलमें इस विरामको एक तिरछी रेखासे दरसाया गया है, आड़ी रेखासे नहीं। आगे चलकर जहाँ दान-पात्र ब्राह्मणोंका नामोल्लेख है वहाँ भी इसी तिरछी रेखाका ही प्रयोग किया गया है। परन्तु वहाँ इसका प्रयोजन विराम नहीं, अपितु समासगत पदोंका छेद प्रयोजन है, जैसा कि आजकल हम प्रायः किया करते हैं (उदाहरणार्थ इसी वाक्यमें दान-पात्र)।

[3] शतेके आगे कोई अक्षर है या केवल विरामचिह्न मात्र यह फोटोपरसे स्पष्ट नहीं।

६ ह्मणभक्तेन[1] नैकसमरशतविजयिना स्ववंशा(शा)मोदकरेण श्रीमहाराज (*)

७ हस्तिना स्वपुण्याप्यायनार्थं ब्राह्मणकोद्रवशर्म्मनाग शर्म्म-मातृदत्त (-*)

८ गगाभद्रस्व (स्वा) मि-धनदत्त-कपिलस्वामि-अग्निशा (श) र्म्म-विष्णु-देवशिवदेव-

९ गो(वि*)न्दस्वामि-परितोषशर्म्म-कृष्णस्वामि-देवशर्म्म-रोहशर्म्म-देवशर्म्म-

१० देवाढ्य-दत्तशर्म्म-मनोरथ (थ-)अग्निदत्त-हरिशर्म्म- रुद्र-भव-विशाखदत्त-वार

११ मोनभट्ट-विष्णुस्वामि-पुनरपि विष्णु[2] (ष्णु)देव-[3]स्वामि-गणघोषाद्यान(ना)-मधूक(-*)

१२ गर्त्तिका भगवद्विष्णु(ष्णु)पल्लिकागोधिकापल्लिक(का)समवेताग्रा-हारोतिसृष्ट. सोद्र (-*)

१३ ङ्गः सोपरिकर अचाटभटप्रा (प्रा) वेश्यश्चौरवर्ज्ज समधुकः यत्राघाटा [:*]

---

[1] अत्यन्तदेवब्राह्मणभक्तेनमें दो बातें उल्लेखनीय हैं—एक तो अत्यन्त-में तकारका द्वित्व, दूसरे इसी शब्दका समासमें दूरान्वय—यह भक्तका विशेषण है देवब्राह्मणका नहीं।

[2] इस लम्बे समासके मध्यमें पुनरपिका आ पड़ना उल्लेखनीय है। लेखक यह बताना चाहता है कि विष्णुदेव नामके दो ब्राह्मण थे, एकका उल्लेख तो ऊपर आठवी पक्तिमें आ गया है और यहाँ दूसरे विष्णुदेवका उल्लेख है।

[3] इस स्वामिके पहले किसी नामका होना आवश्यक जान पड़ता है अथवा इसे पूर्वगत विष्णुदेवके साथ ही पढ़ना चाहिए—विष्णुदेवस्वामि. इस अवस्थामें तिरछी रेखा व्यर्थ है।

दूसरा ताम्रपत्र

१४ पश्चिमदक्षिणेन मधूकगर्तिकासिंहनकः उत्तरेण शल्की म . . .[1]:

१५ पूर्व्वेण वटा बाहिकाः किन्नाटदेहिकौ च दक्षिणपूर्व्वेण आम्रगर्त्तमधूक–

१६ गर्त्तिकासंगमश्चेत्येवं न केनचिदस्मत्कुलोत्थेन मत्पादपिण्डोपजीविनावा

१७ कालान्तरेष्वपि व्याघात न[2] कार्य्यः (।*) एवमाज्ञप्ते योन्यथा कुर्य्यात् तमहं दे–

१८ हान्तरगतोपि महतावद्ध्यानेन निर्द्दहेय(यम्) (॥*) उक्तं च भगवता परमर्षिणा वेद-

१९ व्यासेन व्यासेन (॥*) पूर्व्वदत्ता(त्ता) द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष युधिष्ठिर (।*) महिम्महिमतां।

२० श्रेष्ठो (ष्ठ) दानाच्छ्रेयोनुपालनं(नम्) (॥*) बहुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभि. सगरादिभि. (।*) य (-*) !।

२१ स्य यस्य यदा भूमिस्तस्य तस्य तदा फलं(लम्) (॥*) आस्फोटयन्ति पितरः प्रवर्ल्ग(ल्ग)-

२२ न्ति पितामहाः (।*) भूमिदाता कुले जातः स नस्त्राता भविष्यति (॥*) तिः (इति ॥) लिखित ।

२३ वक्रामात्यप्रणप्त्रा भोगिकनरदत्तनप्त्रा भोगिकरविदत्त पुत्रेण

२४ महासन्धिविग्रहिकसूर्य्यदत्तेन ॥ दूतको नागसिंहः ।

मुद्रा
श्रीहस्तिराज्ञः

ता० ३–१०–५१

---

[1] फोटोपरसे इस अक्षरका पढा जाना दुष्कर है।

[2] यह 'न' निरर्थक है। शुद्ध पाठ होना चाहिए व्याघातः।

कलचुरि पृथ्वीराज द्वितीयका ताम्रशासन

मध्य-प्रान्त और बरारके प्राचीन राजनीतिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास पटपर नूतन प्रकाश डालनेवाले अनेक शिला व ताम्र एवं ग्रन्थगत लेख उपलब्ध हुए हैं, जो विभिन्न पुस्तकोंमें प्रकाशित थे। उनका प्रान्तीय विद्वानोंकी सुविधाके लिए प० **लोचनप्रसाद पाण्डेयने** '**महाकोसल-रत्नमाला**'में सामूहिक प्रकाशन किया है।

यह ताम्रपत्र मुझे ८ नवम्बर, १९४४को **रायपुर**में तत्कालिक जिलाधीश **श्रीयुत गजाधरप्रसाद तिवारी** द्वारा प्राप्त हुआ था। वस्तुतः यह बिलाईगढ जमींदारीके अधिकारमें था। मुझे **तिवारीजी**ने यह लेख इसीलिए बतलाया कि मैं इसे ठीक-ठीक पढकर हिन्दीमें संक्षिप्त सार लिख दूं। मेरे लिए तो यह अतीव आनन्दका विषय था कि वर्षोंसे अँधेरी कोटरीमें पडे हुए कैदीको छुट्टी तो मिली। मूल ताम्रशासन दो भागोंमें विभाजित है। प्रत्येक पत्रकी लम्बाई ११ इंच और चौडाई ३ × ६॥ इंच है। एक-एक भागपर १८-१८— इस प्रकार ३६ पंक्तियाँ उत्कीर्णित हैं। लिपि सुन्दर होनेसे स्पष्टतः पढी जाती है। उभय पत्रोंके उपरिभागमें परस्पर जोड रखनेके कारण बीचमें एक कडीके लिए गोलाकार छिद्र बना हुआ है, जिसमें कडी लगी हुई है। तदुपरि हिस्सेमें राजाकी मुहर है। बीचमें लक्ष्मीजी और उनके दोनों ओर गज उत्कीर्णित हैं। प्रतिमा सौन्दर्य-विहीन है। शारीरिक रचना बहुत ही भद्दी है। निम्न भागमें **राजा श्रीमत्पृथ्वीदेव** शब्द खुदे हुए हैं। चारों ओर गोलाकृतियाँ खचित हैं। ताम्रपट्टकी लिपि शीघ्रतासे घिसने न पावे, इस ध्येयसे चारों ओरका कुछ भाग उठा हुआ है, जिसपर सुन्दर बेल बना दी गयी है। इनका वजन २-२॥ सेरसे कम नहीं। इतने वर्षोंके बाद भी ताम्रशासन अच्छी हालतमें है। केवल द्वितीय भागमें कुछ विकृति-सी आ गई है, पर अक्षरोंपर कोई प्रभाव नहीं पडा है।

ताम्रपत्रकी लिपि तेरहवी शताब्दीकी देवनागरी है । महाकोसलमे पाषाण और अन्य ताम्रपत्र भी इसी लिपिमे लिखे गये मैने देखे है । मोड सुन्दर होते हुए भी कई अक्षर—'इ', 'र', 'श'—कुछ विलक्षण-से जान पडते है । मातृका-सयोजनापर लेखक और खुदाई करनेवालोने पूर्ण ध्यान दिया मालूम देता है । वर्ण्य विषयकी समाप्तिपर पैराग्राफ-सूचक विशेष प्रकारके चिह्न बने हुए है । लेखकी भाषा शुद्ध सस्कृत है । इसकी रचना अनुष्टुप (१ से ८ व १६ से २२-२४), शार्दूल विक्रीडित (३-८-१२), वसन्ततिलका (४-६-७-१०), उपजाति (५-१३ से १५-२३), मदाक्रान्ता (११), उपेन्द्रवज्रा (२) जैसे गिर्वाण गिराके प्रमुख व्यापक छन्दोमे की गई है । ये २८ पद्य कवित्व-शक्ति और प्रतिभा-सम्पन्न पाण्डित्यके परिचायक तथा रचनामे लालित्य एव हृदयको प्रभावित करनेकी क्षमता रखते है । कलचुरि-नरेशोके जितने भी ताम्रपत्र मैने देखे, उन सभीका साहित्यिक दृष्टिसे बहुत बडा महत्त्व है । इसपर म० म० प्रो० मिराशीजीने अन्यत्र प्रकाश डाला है ।

ताम्रपत्रकी प्रधान हकीकत यह है कि कलचुरि-नरेश श्री **पृथ्वीदेवने पण्डरतलाई** ग्राम सूर्यग्रहणके अवसरपर स्नान करके, वेदान्त-तत्त्व-निपुण तथा स्मृत्यादि शास्त्रोके पारगामी विद्वान्, अतुलनीय प्रतिभा-सम्पन्न एव ससार-कल्याणरत श्रीमान् **देल्हुक** नामक ब्राह्मणको प्रदान किया । इसी विषयको ताम्रशासन-निर्माताने तीन भागोमे विभाजित किया है । प्रथम ११ श्लोकोंमे निर्गुण, व्यापक, नित्य, परम कल्याणके कारण, भावसे ग्राह्य, ज्योतिस्वरूप ऐसे नित्यब्रह्मको नमस्कार करके आकाशका अग्रसर अनादि पुरुष जो ज्योति-स्वरूपसे सकल ससारमे व्यापक उनके वशमे मनु आदि राजा हुए । बादमे जो महान् पराक्रमी वीर और प्रतिभा-सम्पन्न **कार्त्तवीर्य** नरेश हुए, उनके वशकी ख्याति **हैहय** नामसे हुई । एतद्वश समुद्भूत राजाओकी कीर्त्ति समस्त ससारमे व्याप्त हो गई थी । शत्रुओके मनमे तापानलोत्पादक एव धर्म-ध्यानादि धन-यशसे सज्जनोको सदा

सुखानुभव करानेवाले सर्वगुणसम्पन्न **श्री कोक्कल** नाम नरेश हुए । इनके शत्रु-रूप हस्ति, उसके मस्तक भेदनमे सिंह-स्वरूप अत्यन्त शूरवीर अठारह पुत्रोत्पन्न हुए, जिनमेसे बडे **मुग्धतुग पुरीके**के नरेश हुए। अन्य लघु बन्धुओं-को इतर स्थानोमे राज्य दे दिया होगा। **रत्नपुर** (या **तुम्माण**) मे भी इन अठारह पुत्रोमेसे एकको गद्दी उसी समय स्थापित हुई, जिसके सस्थापक महाराज **कलिंगराज** थे । इनकी प्रतापाग्निसे ही शत्रु राजा प्रकम्पित हो उठे थे। उज्वल कीर्त्ति-कान्तिसे परिपूर्ण **कमलराज** नामक पुत्र हुआ। जिसके प्रताप-रूपी सूर्योदयसे रातमे कमल-वन विकसित हो जाते थे, ऐसे **कमलराज**ने विश्वोपकारक, करुणार्जित भार वहन करनेवाले उभय बाहुजनित विक्रम-पराक्रमसे तीन भुवनमे शत्रुओंका नाश किया। इन्हीके पुत्र रत्नदेव प्रथम हुए। इसीने रत्नपुर बसा वहाँपर रत्नेश शिवमन्दिरका निर्माण कराया। शिल्प-स्थापत्य-कलासे इन्हे बहुत रुचि थी। इनका विवाह **कोमोमण्डलके** राजा **वज्जूक**की पुत्री **नोनल्ला**से हुआ। यह भी बडी शूरवीरा थी। **पृथ्वी-देव** प्रथम इनके पुत्र थे। आपने **रत्नपुर**मे विशाल जलाशय एव तुम्माणमे पृथ्वीश्वरका मन्दिर बनवाया। रानी **राजल्लदेवी**की रत्नकुक्षीसे **जाजल्ल-देव** नामक बडा शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुआ, जो सज्जनोको यथेष्ट दान देनेमे कल्पवृक्ष, विद्वानोको उचित रूपसे सत्कार करनेमे निपुण, शत्रुओंके लिए तीक्ष्ण कटक और सुन्दरियोके लिए कामदेव सदृश्य था। इसने अपने शौर्य-धर्मसे अनेक राजाओंको अपने अधीन किया। **भाणार** (भण्डारा **लाजी**), **वैरागर** आदिके माण्डलिक इन्हे खिराज देते थे। बताया जाता है कि यह राजा **दिङनाग** आदि नैयायिक आचार्योंके सिद्धान्तोका सूक्ष्मतया परिज्ञान रखता था। इसीसे जाना जाता है कि विक्रमकी १२वी शताब्दीमे **छत्तीसगढ़**-मे शिक्षाका कितना विशद प्रचार था। दिङ्नाग-जैसे महान् दार्शनिकका ज्ञान महाराजा तक रखते थे। **सिरपुर**मे हमे ४ ताबेके सिक्के मिले, जिनपर **श्रीमज्जाजल्लदेवः** और दूसरी ओर हनुमन्तकी प्रतिमा उत्कीर्णित थे। विदित होता है कि इन मुद्राओंका सम्बन्ध इसी नरेशसे होगा। चेदि स०

८६६ (वि० स० ११७१, ई० स० १११४) का एक जाजल्लदेव लेख मिला है। इसका पुत्र **रत्नदेव** द्वितीय हुआ, जो अनेक नरेशोंसे सेवित, सकल कोसल-देशका मण्डन-स्वरूप था। इसके विशेषणोंसे स्पष्ट है कि यह बडा प्रतापी और पूर्वजोकी निर्मल कीर्त्तिका रक्षक और प्रवर्द्धक था। रत्नदेवके सिक्के भी उपलब्ध होते है, पर ठीक रूपसे नही कहा जा सकता कि ये रत्नदेव प्रथमके है या द्वितीयके।

रत्नदेव प्रथमके पुत्र हुए महाराज **पृथ्वीदेव**, जो इस ताम्रपत्रके प्रदाता है। इनके चरणोमे शत्रुओके मस्तक नम्रीभूत रहते थे। बडे-बडे नरेश इनकी सेवा करनेमे अपना परम गौरव मानते थे। इस ता पत्रमे एक उल्लेख महत्त्वका जान पडता है। वह यह है कि अद्यावधि प्राप्त लेखोसे विदित हुआ है कि कलिग-नरेश श्री **चोडगग**को रत्नदेव प्रथमने पराजित किया था, पर इसमे तो स्पष्ट उल्लेख है कि उसे पृथ्वीदेव द्वितीयने हराया था।

यः श्रीगंगं नृपतिमकरोच्चक्रकोटोपमर्दी
जित्वा कान्तं जलनिधि जलोल्लंघनैकाभ्युपाये ॥११॥

द्वितीय गगके समयमे भी **पृथ्वीदेव**का अस्तित्व था। एक ही देशमे, अत्यन्त निकट समयमे एक नामके दो राजा हो जानेसे कभी-कभी किसी विशेष घटनाको लेकर उसके इतिहास व सदकार्योंके निर्णयमे समस्या खडी हो जाती है। महाराज रत्नदेवके सम्बन्धमे वैसा ही हुआ है। महाराज रत्नदेवके एक अन्य ताम्रशासनमे **चोडगंग** विषयक जो उल्लेख आया है वह इस प्रकार है—

"यः चोडगंग गोकरणं यदि चकई परांग मुखं" **चोडगंग** तथा **गोकर्ण**को **रत्नदेव** द्वितीयने पराजित किया था जबकि प्रकृत ताम्रपत्रसे यह फलित होता है कि **चोडगंग**को **रत्नदेव** द्वितीयने पराजित किया था। इस ताम्र-पत्रमे ग्यारहवे श्लोकके प्रथम भागमे वर्णित **'गंग'** राजा कौन और कहाँका था?

यह एक प्रश्न है। चक्रकोटसे वर्तमान **जबलपुर व बस्तर**का भू-भाग समझा जाना चाहिए।

प्रसगत एक बातकी सूचना आवश्यक जान पडती है कि सभी कलचुरि राजाओके ताम्रपत्रोकी मुद्रामे **गजलक्ष्मी**का चिह्न नही मिलता, केवल राजाका नामोल्लेख ही रहता है। ऐसा एक ताम्रपत्र **शवरीनारायण**से प्राप्त हुआ है। इस विषयपर मध्यप्रदेशके वयोवृद्ध गवेषक **पं० लोचन प्रसादजी पांडेय**ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया है तदर्थ आभार व्यक्त करना अपना परम कर्तव्य समता हूँ[1]।

इस प्रकार ११ श्लोकोके प्रथम विभागमे पृथ्वीदेवके पूर्वजोका परिचय सुन्दर-ललित भाषामे दिया गया है। तदनन्तर द्वितीय भागमे वत्सगोत्रीय **हारुक** नामक बुध, जो वेद, श्रुत-स्मृति आदि शास्त्रोके उद्भट विद्वान् एव अभिनन्दनीय है, उन्नति जिसकी, कर्पूर-चूर्ण-तुल्य आकाशमण्डलमे व्याप्त है यश जिसका, के पुत्र पृथ्वीको पवित्र करनेवाले, चरित्रको धारण करते हुए तथा असीमित है गुणगौरव जिसका, लक्ष्मी जिसकी गुथी हुई मालाके सदृश है, मानो इनके गुणोसे प्रभावित होकर लक्ष्मीने अपना चलत्व-धर्म ही छोड दिया हो, इन सद्गुणोके अधिपति श्री **जीमूतवाहन** हुए। इनके **देल्हुक** नामक विद्वमान्य पुत्र हुए, जिसकी मति वेदान्त-तत्त्वके मनन-हृदय-गम करनेमे अत्यन्त निपुण थी। अतुलनीय महिमा और विश्व-कल्याणकी उत्कृष्टतमा भावनाओका हुआ है विकास जिसके हृदयमे, मानव-मात्रकी उन्नति करनेमे चतुर, ऐसे वे थे। मेरा अनुमान है कि ये राज-सभाके मान्य पडित राजवशके प्रमुख पुरोहित रहे होगे। पुरातनकालीन राजवशोमें नियम था कि राजा-महाराजा तन्निर्मित या अन्य मन्दिरोके प्रतिष्ठित महोत्सवोपर, सूर्य-चन्द्र-गृहणोपलक्षमे स्नान करनेके अनन्तर या और किसी ऐसे ही धार्मिक अवसरोपर ग्राम-मन्दिरो या विद्वान् ब्राह्मणोको दान-प्रदान

---

[1]—दि० ९-८-५१ के व्यक्तिगत पत्र से।

करते थे। इसीको चिरस्थायित्वका रूप देनेके कारण ताम्रशासन दे दिया जाता था। प्रस्तुत ताम्रपट्ट भी महाराज **पृथ्वीदेव** द्वितीयने **पण्डरतलाई** नामक ग्राममें, जो **मेवडी-मण्डल**में था, सूर्य-ग्रहणके अवसरपर स्नान करके **देल्हूक** नामक ब्राह्मणको भेट किया, यथा —

पण्डरतलाइग्रामं, ख्यातं मेवडिमण्डले
पृथ्वीदेवो ददौ तस्मै, सूर्यग्रहणपर्व्वणि ॥१६॥

१७-२२ श्लोकोमे प्रदत्त भूमि-दानकी महिमा कालान्तरसे राजा-महाराजा या कोई अमात्य हो, उनको इस लेखकी आज्ञा शिरोधार्य करनेमे ही धर्मका पालन है, इस प्रकारकी शिक्षा दी गई है। बादमे जिस समय भूमिपर जिसका आधिपत्य हो, उसे भी प्रदत्त दानका आंशिक फल अवश्य मिलता है। तदनन्तर पुराणके सुप्रसिद्ध श्लोकोके भाव व्यक्त किये गये है कि नूतन दान देनेकी अपेक्षा प्रदत्त भूमिकी रक्षाका फल अधिक है। परन्तु दी हुई भूमिका जो अपहरण करता है, वह विष्टाका कीडा बनकर अपने पितृव्योके साथ पचता है। सहस्रो जलाशय, सैकडो अश्वमेध-यज्ञ और करोड़ो गो-दानसे भी भूमिहर्त्ता शुद्ध नही होता। २३ वे श्लोकमे ताम्रपत्र-प्रशस्ति-रचयिता श्रीमान् **शुभकर**के पुत्र बहुश्रुत अनेक सुन्दर प्रबन्धके प्रणेता कविवर्य श्री **अल्हणका उल्लेख** (आजतक एक भी प्रबन्ध इनका मिला नही) है। वामनने प्रशस्ति कही, **कीर्तिसुनुने** लिखी और **लक्ष्मीधरके** पुत्रने इस ताम्रपत्रको बनाया।

गुप्तकालीन एव उसके बादके कुछ ताम्रपत्रोमे प्रदत्त भूमि, ग्रामकी चौहद्दी आदिका वर्णन आता है। पर इसमे इस ओर ध्यान नही दिया गया। अन्यान्य ऐतिहासिक साधनोसे ज्ञात होता है कि **पण्डरतलाई** ग्राम आज भी ठीक इसी नामसे विख्यात और विलासपुर जिलेके पण्डरिया ज़मीदारीके अन्तर्गत अवस्थित है। वहाँपर एक प्राचीन मन्दिर भी विद्यमान है, जिसपर सुन्दर खुदाईका काम किया गया है। आज **पण्डरतलाई**पर राजगोडका अधिकार है, जिनकी एक शाखा **कबीरधाम** (**कवर्धा**-रियासत) में है।

विलासपुरके बाबू **प्यारेलाल गुप्त**से विदित हुआ कि हैहयोकी चौरासीमें यह जमीदारी कभी नही रही। पर यह ताम्रपत्र तो चौरासी-जैसी विभाजन-प्रथाके बहुत वर्ष पूर्वका है। इस जमीदारीका इतिहास भी दान देनेके ५०० वर्षो बादसे प्रारम्भ होता है। **मानकुमारीदेवी** अभी इसकी प्रधान है।

महाराज **पृथ्वीदेव**की ४ स्वर्ण-मुद्राएँ मैने **सराईपाली** (रायपुर)में देखी थी, जिनपर एक ओर **'श्रीमत्पृथ्वीदेवः'** दूसरी ओर द्विभुजी हनूमानकी प्रतिमा उत्कीर्णित थी। इसमे सन्देह नही कि ये कलचुरि ही थे, पर इस वशमे एक ही नामके भिन्न-भिन्न समयमे तीन नरेश हुए है। अत समुचित प्रमाणके अभावमे ठीक नही कहा जा सकता कि इन मुद्राओके निर्माता कौन-से पृथ्वीदेव थे।

प्रस्तुत ताम्रपत्रमे **'८९६ अमिने'** उल्लेख है, पर स्पष्ट नही किया गया कि यह कौन-सा सवत् होना चाहिए। पर अन्यान्य साधनोसे निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि यह **सवत् कलचुरि** ही है। कलचुरियो **त्रैकूटक** एव गुजरातके ताम्रपत्रोमे इस सवत्का प्रयोग विशेषरूपेण होता था। इसे **चेदि-सवत्सर** भी कहा गया है। पर मुद्राओमे इस सवत्का न-जाने क्यो विकास नही हुआ। ईस्वी सन् १४९ से इसकी शुरुआत होती है। मूल ताम्रपत्र इस प्रकार है —

ताम्र पत्रका लिप्यंतर

(१)

१ ७ ओ नमो ब्रह्मणे। निर्गुण व्यापक नित्य शिव परमकारण। भावग्राह्य परज्योतिस्तस्मै सद्ब्रह्म

२ णे नम ॥१॥ यदेतदग्रेमरमवस्य ज्योति सपूषा पुरुष पुराण। अथास्य पुत्रो मनुरा-

३ दिराजस्तदन्वयेऽभूद्भुवि **कार्त्तवीर्यः** ॥२॥ तदुद्गमप्रभवा नरेन्द्रपतयः ख्याता क्षितौ **हैहया**

४ स्तेषामन्वयभूषण रिपुमनोविन्यस्ततापानल । धर्म्मध्यानधनानुसंचितयशा (शश्व) सस्वत्सता सौख्य

५ कृत्प्रेयान्सर्वगुणान्वित समभवच्छ्रीमानसौ **कोक्कलः** ॥३॥ अष्टादशारिकरिकुंभविभर्गासहा

६ पुत्रा बभूवुरतिसौ(शौ)र्यपराश्च तस्य । तत्राग्रजो नृपवर**स्त्रिपुरीश** आसीत्पार्स्वे(र्श्वे)च मडलपतीन्स

७ चकार बन्धून् ॥४॥ तेषामनूजस्य **कलिंगराजः** प्रतापवह्निक्षपितारिराज । जातोऽन्वयेद्वि

८ ष्टरिपुप्रवीरप्रियाननाभोरुहपार्व्वणेदु ॥५॥ तस्मादपि प्रततनिर्मलकीर्त्तिकान्तो जा

९ त सुत **कमलराज** इति प्रसिद्ध । यस्य प्रतापतरणावुदिते रजन्या जातानि पकज

१० वनानि विकासभाजि ॥६॥ तेनाथ चद्रवदनोऽजनि **रत्नराजो** विश्वोपकारकरुणार्ज्जि

११ तपुण्यभार । येन स्वबाहयुगनिर्म्मितविक्रमेण नीत यशस्त्रिभुवने विनिहत्य श

१२ त्रून् ॥७॥ **नोनल्लाख्या** प्रिया तस्य शूरस्येव हि शूरता ॥ तयो सुतो नृपश्रेष्ठ **पृथ्वीदेवो**

१३ बभूव ह ॥८॥ **पृथ्वीदेवसमुद्भव** समभवद्राजाल्ल**देवी**सुत. शूरः सज्जनवांछितार्थफल

१४ द कल्पद्रुम श्रीफल । सर्वेषामुचितोच्चने सुमनसा तीक्ष्णद्विषत्कटक पुष्यत्कान्त

१५ तरागनागमदनो **जाजल्लदेवो** नृप ॥९॥ तस्यात्मज सकल**कोसलमंडनश्रीः** श्रीमा

१६ न्समाहृतसमस्तनराधिपश्री । सर्वक्षितीश्वरशिरोविहिताघ्रिसेव
सेवाभृना नि

१७ धिरसी भुवि **रत्नदेवः** ॥१०॥ पुत्रस्तस्य प्रथितमहिमा
सोऽभवद्भूपतीद्र **पृथ्वीदे**

१८ **वो** रिपुनृपशिर श्रेणिदत्तांहिपद्म । य **श्रीगंगं नृपतिम**
करोच्च**क्रकोटो**पम

(२)

१९ दीच्चिन्ताक्रान्त जलनिधिजलोल्लघनैकाभ्युपाये ॥१॥* गोत्रे
वत्समुनेरनल्पमहिमा **हा**

२० **रुक**नामा पुरा विप्रोऽभूद्भुवनप्रिय श्रुतिविदामाद्योऽनवद्योन्नति ।
यस्यामो(शो)भियशोभि

२१ रम्बरतल कर्पूरपारिप्लव श्रीखडद्रवमोदरैखिसदालिप्त
समन्तादपि ॥२॥ **जीमूतवा**

२२ हन इति प्रथितस्तदीय पुत्र पवित्रितधरित्रिदधच्चरित्र ।
आसीदसीमगुणगौरवगु

२३ फितश्री श्रीरेव यत्र च मुमोच निज चलत्व ॥१३॥ **देल्हूक**
इत्यभवदस्य सुनोमर्नीशि वे

२४ दान्ततत्त्वनिपुणा धिषणा यदीया । स्फूर्ति. स्मृतावनुपमा महिमा
च यस्य विश्वोपकारचतुरो

२५ चतुरोन्नतस्य ॥१४॥ सा(शा)कभरीमनुपमा भुवनेषुविद्या ज्ञात्वा
यतो युधि विजित्य समस्त

२६ शत्रून् य **ब्रह्मदेव** इति विश्रुतमाण्डलीको जानाति
निर्जरगुरूपममेकमुच्चै ॥१५॥

२७ **पंडरतलाइग्राम** ख्यात**मेवडिमडले** । **पृथ्वीदेवो** ददौ तस्मै
सूर्यग्रहणपर्व्वणि ॥१६॥

२८ सि(शि)रस्तभसहश्रे(स्रे)ण यावद्वत्ते महीमहि । तावत्ताम्रमिदं पाल्यमेतदन्वयजन्मभि ॥१७॥ का

२९ लान्तरेऽपि य कश्चिन्नृपोऽमात्योऽथवा भवेत् । पालनीय प्रयत्नेन धर्म्मोय मम तैरपि

३० ॥१८॥*॥ व(ब)हुभिर्व्वसुधा भुक्ता राजभि सगरादिभि । यस्य यस्य यदा भूमिस्तस्य त

३१ स्य तदा फल ॥१९॥ पूर्वदत्ता द्विजातिभ्यो यत्नाद्रक्ष पुरन्दर । मही महीभृता श्रेष्ट दाना

३२ च्छ्रेयो हि पालन ॥२०॥ स्वदत्ता परदत्ता वा यो हरेत वसुधरा स विष्ठाया कृमिर्भूत्वा पितृ

३३ भि सह मज्जति ॥२१॥ तडागाना सहस्रेण वाजपेयस (श) तेन च । गवा कोटिप्रदानेन भूमि

३४ हर्त्ता न सु(शु)ध्यति ॥२२॥ ताम्रप्रसन्नि(शस्ति)रचनेयमकारि तेन श्रीमत्सु(च्छु)भंकरसुतेन व्हुश्रु

३५ तेन । श्री मल्हणेन कविकैरवषट्पदेन भन्निप्रबन्धरचिताथलसत्पदेन ।२३। धटित वा

३६ मनेनात्र लिखित कीर्त्तिसूनुना । लक्ष्मीधरसुतेनेदमुत्कीर्णं ताम्रमुत्तम ।२४। संवत् ८९६ अमिने ।

१–१–४७

गुप्त लिपि

यहाँ हम एक ऐसी मुगल-कालीन नूतन लेखन-प्रणालिकाका परिचय देना चाहते है, जो भारतीय लेखन-कला-विज्ञानका मस्तक ऊँचा करती है। रोहणखेड सत्रहवी शताब्दीमे एक उन्नतिशील नगर था। प्राचीन सस्कृत, प्राकृत एव अरबी-फारसी तवारीखोमे रोहिणीखण्ड, रोहणगिरी, रोहणाबाद आदि नामोसे इस नगरके उल्लेख मिलते है। इस नगरकी स्थिति ठीक खानदेश और बरारकी सरहदपर है। निजाम-स्टेटकी सीमा भी यहाँसे कुछ ही दूरपर मिली है। अत सत्रहवी शतीमे सुरक्षाकी दृष्टिसे इस नगरका स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता था। मुगलो और मराठोके प्रमुख युद्ध यही हुए है, जैसा कि तत्कालीन राजनीतिक इतिहास-ग्रन्थोसे जाना जाता है। मार्च, १९३९ मे हमे एक दिन यहाँ रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यहाँके विभिन्न प्रकारके अवशेषोसे, जो अधिकतर मुगल-कलासे ही सम्बन्धित है, हमने समझ लिया था कि अवश्य ही यह किसी समय उन्नत नगर होगा। ग्रामके पास एक विशाल मकबरा बना हुआ है। निर्माण-काल-सूचक कोई लेख प्राप्त न होनेसे इसके बननेके निश्चित समयका निर्देश करना सम्भव नही, यहाँपर प्रचलित जनश्रुति एव कलापरसे निश्चित रूपसे तो कहा ही जा सकता है कि सत्रहवी शतीके उत्तरार्द्धके बादका इसका निर्माण-काल नही हो सकता। कहा जाता है कि औरगजेबकी एक पुत्री यहाँपर रहती थी और यहीपर उसका देहावसान हुआ। शायद उसीकी स्मृति-रूप यह मकबरा निर्मित हुआ हो?

प्रस्तुत मकबरेकी निर्माण-कला बडी सजीव है। इसके कलात्मक अवशेष ज्यो-के-त्यो सुरक्षित है। अन्दरका नमाजका स्थान, मूलस्थान और आजू-बाजूकी जालियाँ आदि स्थापत्य-कलापर गुजरातमे प्रचलित

मुग़लकलाका स्पष्ट प्रभाव प्रकट करते हैं। दीवालोंपर विभिन्न प्रकारकी पुष्प-लताएँ अंकित हैं, जो स्पष्ट रूपसे निर्दिष्ट समयका समर्थन करती हैं। इसप्रकारकी कलापूर्ण इमारतको देखकर हमने स्वभावतः प्रश्न किया कि इतना सुन्दर कलापूर्ण मकबरा बनानेवाला कैसा व्यक्ति था, जिसने कुरानकी आयतें भी यहाँ न खुदवाई ? पर वहाँ रहनेवाले एक मुसलमान व्यक्तिने कहा—"यहाँपर कुरानकी आयतें ही नहीं, महाकवि हाफिजके पद्य भी गुप्त-रूपसे उल्लिखित हैं।" हमने आश्चर्यसे कहा—"यहाँ तो केवल कोरे पाषाणोंके अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता ?" पर उस व्यक्तिने ज्यों ही दीवालपर जलका छींटा दिया, त्यों ही तत्रांकित लिपि सजीव हो उठी ! जहाँ-जहाँ जलसे स्थान भीगता गया, वहाँ-वहाँ लिपि प्रकट होती गई। जल सूखा कि लिपि भी विलुप्त ! परिचायकसे विदित हुआ कि कुरानकी कुछ खास आयतें इस लिपिमें लिखित हैं। यह लेखन-कला इतनी सुन्दर, स्पष्ट और आकर्षक है कि देखते ही बनता है। एक-एक आयतके चारों ओर बड़ा सुन्दर बार्डर पृथक्-पृथक् ढंगसे बना है। लिपिमें पीली, काली, हरी और लाल स्याहीका उपयोग होनेसे वस्तुतः लेखनमें सजीवता आ गई है। इस प्रकारका लिपि-कौशल हमारे अवलोकनमें तो आजतक कहीं नहीं आया था। कहना होगा कि यह कला मुग़ल-कालीन भारतकी सबसे बड़ी देन है। इस लेखन-पद्धतिको देखनेसे स्पष्ट विदित होता है कि आजसे तीन सौ वर्ष पूर्व भी भारतका कलात्मक जीवन कितना उच्चकोटिका था।

अब प्रश्न यह है कि इस प्रकारकी लेखन-प्रणालिकाका प्रचार भारतमें कबसे कबतक तथा इसका विधान कैसा था ? साथ ही भारतके किन-किन स्थानोंमें इस पद्धतिका विकास हुआ, आदि। इन प्रश्नोंका उत्तर भारतीय खण्डहरोंके अन्वेषणपर निर्भर करता है। प्राचीन साहित्य इस विषयमें मौन है, परन्तु कुछ फुटकर हस्त-लिखित पत्रोंमें जो उल्लेख आये हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि वे हमारी इस समस्याको पूर्णरूपेण नहीं सुलझाते,

फिर भी उनसे इसपर कुछ प्रकाश अवश्य पडता है। खासकर इस प्रकारकी गुप्त लिपि लिखनेमे मोम, सिरखटा और तिलके तेलका उपयोग विशेष-रूपसे होता था। लिखते समय निम्न भागमे पाषाणको आग द्वारा तपायें रखना पडता था। कुछ घण्टोके बाद नीबूसे पाषाणोको धोकर दीवारपर लगा दिया जाता था। हमने इसमे साबुन मिलाकर कुछ ऐसे पत्र लिखें, जिन्हे पढनेमे अच्छे-अच्छे गुप्तचर भी समर्थ न हो सके।

भौ गो लि क

या त्रा

मेरी नालन्दा-यात्रा

पैदल-यात्राका आनन्द और सांस्कृतिक महत्त्व

पैदल-यात्रा भी जीवनका एक अद्भुत आनन्द है। प्रकृतिका सान्निध्य पैदलयात्रासे ही प्राप्त किया जा सकता है। मानव-जीवनकी गहनता और वास्तविकताकी जो अनुभूति घुमक्कडको होती है, सम्भवत: वाहन-विहारी उसकी कल्पना भी नही कर सकते। भारतका सास्कृतिक अध्ययन और इस महादेशमें निवास करनेवाले मनुष्योकी नैतिक परम्पराओका तलस्पर्शी अनुशीलन पैदल यात्री और दृष्टि-सम्पन्न कलाकार ही कर सकता है। भारतीय सत-परम्पराका सपूर्ण इतिहास इसका साक्षी है। सतोने सारे एशियाको और कभी-कभी विश्वके कुछ देशोको भी अपनी इसी साधनाके बलपर, सास्कृतिक सूत्रमे आबद्ध किया था। यह सास्कृतिक एकता न केवल तात्कालिक जन-जीवनको सुखद बना सकती है, अपितु मानो ससारके लिए भी कुछ ऐसी परम्पराएँ छोड जाती है, जिनसे वे भी मानवताके मूल्यको पहचान सकें। पर वर्तमान युग तो प्रगतिशील ठहरा! सत-परम्परा भी वाहन-विहारिणी हो आकाशमे उडने लगी है! गति सीमित ही श्रेयस्कर हो सकती है। आवश्यकतासे अधिक प्रगति जीवनको सतुलित नही रख सकती। मुझे तो ऐसा लगता है कि आज भले ही सस्कृति या नैतिक परम्पराके नामपर लोग चाहे जो कहे या यन्त्रोके सहारे उनका प्रचार भी करे, परन्तु पैदल-यात्रा करनेवाले श्रमणोके सास्कृतिक कार्यकी तुलना, इनसे नही हो सकती। आजका प्रचार कागजके चीथडोपर है। पूर्वकालमे वह जीवनसे सबधित था, अल्प होते हुए भी चिरस्थायी था। उन दिनो सस्कृति केवल मानसिक श्रम और वैचारिक आनन्दकी वस्तु न थी, बल्कि उसका उपयोग जीवनके

विकासके लिए था। कला, कलाके लिए न होकर जीवनके लिए थी। अब सन्त-परम्परामे भी वह जीवन-शक्ति न रही, जो उसे जन-कल्याणके प्रशस्त पथकी ओर उत्प्रेरित कर सके। कहनेके लिए आज भी पैदल चलनेवालोकी कोई कमी नही है, पर उनमे बहुमुखी प्रतिभा और सास्कृतिक दृष्टिकोण प्राय नही है। मै तो ऐसा मानता हूँ कि सत-परम्पराके अनुयायी अपनी दृष्टिको अतीतसे वर्त्तमानके आधारपर भविष्यकी ओर मोड ले या दृष्टि माज डाले तो सस्कृतिके नामपर फैली हुई अनैतिकताको दूर किया जा सकता है तथा एकागी शुष्क जीवनमे भी सौन्दर्यकी स्रोतस्विनी प्रवहमान हो सकती है। जैन-मुनियोके जीवनमे पैदल-यात्राके साथ सास्कृतिक दृष्टिकोण भी पाया जाता है। आज भी वे इस जटिल नियमका पालन कट्टरतासे करते है। मध्यकालीन भौगोलिक, ऐतिहासिक व सास्कृतिक इतिहासकी जितनी सामग्री, इन पादविहारी मुनियोने, अपने यात्रा—विवरणोमे एकत्र की है, उतनी शायद चीनी पर्यटक भी नही कर सके है। यद्यपि जैन-मुनियोका दृष्टिकोण शुद्ध-धार्मिक था, पर उन्होने मार्गमे आनेवाले देशके अनेक सामाजिक व धार्मिक रिवाजोको एकत्र करनेमे तनिक भी सकोच नही किया। बगाल, विहार, ओरिसा, मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र और दक्षिण भारतके आदिवासी जानपदोकी महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक सूचनाएँ अपने ग्रन्थोमे सग्रहीतकर इतिहासके विद्यार्थियोपर बडा उपकार किया है। पर हाँ, विद्वानोने इस विषयको, विशेष दृष्टिकोणसे देखनेका या अध्ययन करनेका परिश्रम नहीं किया है। मै नही समझता ऐसा प्रत्यक्षदर्शी वर्णन अन्यत्र उपलब्ध होगा।

नालन्दाकी ओर

पुरातत्त्वमे थोडी-बहुत अभिरुचि रखनेके कारण नालन्दाके कलात्मक प्रतीकोके प्रति स्वाभाविक आकर्षण था। तबतक केवल कतिपय प्रतीकोके चित्र ही देख पाया था, अत उन्हे प्रत्यक्ष देखनेकी उत्कट अभिलाषा बहुत दिनोसे थी। जब पूज्यपाद गुरुवर **उपाध्याय मुनि श्रीसुखसागरजी महाराज** तथा **मुनि श्रीमंगलसागरजी महाराज**के साथ सन् '४८ मे मै मगधमे प्रवास

कर रहा था तो वहाँके ऐतिहासिक भग्नावशेषोंके देखनेका सौभाग्य प्राप्त होना स्वाभाविक ही था ।

सिमरिया, राजगृह, लछवाड़ तथा श्रमण भगवान् महावीरकी निर्वाण-भूमि **पावापुरीकी** यात्रा समाप्त कर हम २६ अप्रैलको नालन्दाकी ओर चल पड़े । राजगृहसे नालन्दाके लिए दो मार्ग हैं । एक तो सड़कसे और दूसरा पगडंडियोंसे । सड़कसे नालन्दा जानेमें बहुत घूमकर जाना पड़ता है, परन्तु पगडंडियोंसे केवल ५ मील चलना पड़ता है, इसलिए हम सड़कसे दाहिनी ओरको मुड़नेवाली पगडंडीसे ही चले, जो नदी, नालों और खेतोंको पार करती आगे निकल जाती है । कहीं-कहीं यह मार्ग इस प्रकार लुप्त भी हो जाता है कि मार्ग-दर्शकके बिना सही रास्तेका पता पाना मुश्किल हो जाता है । मार्गमें कई सुन्दर गाँव भी पड़ते हैं । प्रातःकालका समय होनेसे गाँव और भी आकर्षक प्रतीत होते थे । नालन्दा आस-पासकी ग्राम्य संस्कृतिमें इतना घर कर गया है कि वहाँके लोगोंसे उसका मार्ग पूछनेपर उनका चेहरा खिल उठता है । सचमुच सौन्दर्य और संस्कृति किसी अभिजात वर्गकी ही वस्तु नहीं है, बल्कि ग्राम्य-जीवनमें तो प्रकृति और संस्कृतिका अद्भुत तादात्म्य हुआ है ।

जिन पगडंडियोंसे हम जा रहे थे, वे कभी-कभी खेतकी मेंडोंपर भी चढ़ जाती थीं । धानके खेतोंकी मेंडें वैसे ही ऊँची होती हैं । १५ सेरका बोझ कंधेपर लादकर इन सकरी मेंडोंपर चलना कोई आसान काम नहीं है ।

चारों ओर सिवा धानके खाली खेतों के और कुछ भी नहीं दीखता था । पेड़ोंकी संख्या भी इस क्षेत्रमें अपेक्षाकृत कम थी । गर्मीके दिनोंमें धानके इन खेतोंमें बड़ी-बड़ी दरारें फट पड़ती हैं, जो यात्रियोंमें भयका संचार करती हैं । नालन्दाके सम्बन्धमें कल्पनाओंका सागर-सा उमड़ा पड़ता था । अतः मार्गकी इन असुविधाओंपर ध्यान भी नहीं गया । गति एक लक्ष्यपर केन्द्रित थी । पैर उसी ओर बढ़ रहे थे । देखते-ही-देखते हम सवा घंटेमें ही नालन्दा-स्टेशनपर पहुँच गये । पहुँचते ही अवशेषोंके दर्शनके लिए मन

अधीर हो उठा, आश्चर्यान्वित मुद्रामे इधर-उधर झाकने लगा। इतनेमें एक महाशय, जो शायद सी० आई० डी०के कोई चर थे, मेरी ओर बढे और उन्होंने मुझसे प्रश्नोकी झडी लगा दी। उनके प्रश्नोके ढगसे ऐसा लगा, मानो वे मुझे कोई राजनैतिक फरार समझते थे। उनके इस व्यवहारसे मुझे बडी झुझलाहट हुई और उनके सब प्रश्नोके उत्तरमे मैने केवल इतना कहा, "आपको मेरी कैफियत जानने की जरूरत नही।" वे चले गये।

नालन्दामें

ठीक पौने नौ बजे हम लोगोने नालन्दाकी पुनीत भूमिपर पैर रखा। दूरसे ही खण्डित लाल ईटोके अवशेष दिखलाई पडे। उन्हे देखकर मन पुलकित हो गया, हृदय गौरव-गरिमासे उछलने लगा। मानसिक वृत्तियाँ टूटे-फूटे खण्डहरोसे लिपट गयी। मानस-पटलसे तद्विषयक कल्पनाओका स्रोत फूट पडा। प्रेरणाप्रद वातावरणसे विगत स्वर्णिम सृष्टिका स्वत अनुभव होने लगा। ज्यो-ज्यो हम लोग बढने लगे त्यो-त्यो और भी कई अवशेष सामने आने लगे, वर्षोंकी साधना पूर्ण होती प्रतीत हुई। यह देख मन प्रसन्नताका अनुभव करने लगा। समस्त खण्डहरोने हमे इतना प्रभावित किया कि उन्हे बादमे देखनेका धैर्य रखना मुश्किल हो गया, परन्तु अप्रैलका महीना होनेसे उस समय मार्गकी धूल इतनी तप्त हो रही थी कि पैर जमाना मुश्किल था। दूसरे शरीरपर भी बोझ काफी था। अत नालन्दाके कलात्मक प्रतीकोका थोडा-सा अवलोकन कर हम लोगोने नालन्दाकी जैन-धर्मशालामे डेरा जमाया।

एक खेतमें

आहार करके सोच रहा था कि कुछ लेटकर खण्डहर और खेतोमे इतस्तत बिखरे अवशेषोसे भेट कर उनकी मूक कहानी सुनूँ, तबतक सूर्य-तापकी प्रखरता भी कम हो जायगी। उन दिनो प्रकृति भी हमारा साथ दे रही थी। ठीक १ बजे आकाशमे हल्के काले मेघ उमड आये। मैंने अपनी दूरबीन सम्हाली और कैमरा लेकर चल पडा। मेरे आवाससे नालन्दाके

खण्डहर लगे हुए ही थे । ज्यो ही धर्मशालाके पिछले द्वारसे निकला, मेरी दृष्टि खेतके एक अवशेषपर पड़ी । यह बौद्धतन्त्रसे सम्बन्धित एक देवीकी मूर्त्ति थी । कई हाथ विविध आयुधोसे सुसज्जित थे । मुखपर जो भाव कलाकारने व्यक्त किये थे, उनसे स्पष्ट पता लग रहा था कि देवी कितनी क्रूर रही होगी । मूर्तिका अंग-विन्यास विचित्र होते हुए भी आकर्षक था । वह विभिन्न आभूषणोसे अलकृत थी । ये आभूषण ही सूचित कर रहे थे कि प्रतिमा निस्सन्देह पाल-कालीन थी, क्योकि इस कालकी अन्यत्र प्राप्त स्त्री-मूर्त्तियोमे जिन आभूषणोकी उपलब्धि होती है, वे यहाँ भी थे । नारीकी मूर्त्ति, तान्त्रिक होते हुए भी, मर्यादित थी। इस प्रतिमाको कुछ समयतक एकटक देखता रहा । मनमे कई प्रकारकी कल्पनाएँ उठती थी । ऐसा लग रहा था मानो कलाकारने जड प्रस्तर पर कठोर छेनीसे हृदयकी सुकुमार भावनाको ही मूर्त्त नही किया, अपितु उस समयकी एक ऐसी नारीको रच दिया, जो तत्कालीन नारीका प्रतिनिधित्व करती है । आभूषण इस बातके साक्षी थे कि उन दिनो आर्थिक विकास कितना था । शस्त्रास्त्र भी अपने कालकी उपयोगिता प्रमाणित कर रहे थे । यह प्रस्तर-मूर्त्ति न जाने क्या-क्या सन्देश दे रही थी । कितने परिश्रमसे इसका निर्माण हुआ होगा, इसकी तो हम कल्पना तभी कर सकते है, जब हमारा जीवन सौन्दर्यके तत्त्वोसे ओत-प्रोत हो । एक समय वह न जाने कितने भक्तोद्वारा समादृत होती होगी, परन्तु आज उसके चारो ओर शौचालय है ।

ढेला बाबा

आगे चलकर देखता क्या हूँ कि बुद्धदेवकी एक बडी ही सुन्दर और सुकुमार भावोकी प्रतिमा पडी हुई है । ओठोपर स्मित परिलक्षित था । मूर्त्ति-निर्माण उच्च कलाकारके हाथो सम्पन्न हुआ प्रतीत होता था । मुखका भाग तो कुछ खडित था ही, परन्तु अन्य उपांग भी टूटे हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे । नासिका विशेषतया तराशी गई थी । पासमे छोटे-बड़े पत्थरोंका

ढेर लगा था। कुछ देर तक हम लोगोने यही अपना आसन जमाया। इतनेमें कुछ युवक आये और एक-एक ढेला मूर्त्तिपर पटककर हँसते हुए चलते बने। उनकी इस अभ्यर्थना और पूजाके नये ढगको मै समझ नही पा रहा था। सभी पढे-लिखे सूट-बूटधारी युवक थे, इसलिए स्वभावत जिज्ञासा पैदा हुई और मै उनसे पूछ बैठा कि देव-पूजाका यह विधान कैसा ? उन्होने निस्सकोच उत्तर दिया कि इस मूर्त्तिकी पूजाका यही शास्त्रीय विधान है। उनके इस उत्तरसे हमे बडा आश्चर्य हुआ, परन्तु थोडी देरमे हमे पता चल गया कि सचमुच उस मूर्त्तिकी वहाँ उसीप्रकार अभ्यर्थना होती है। आसपासकी जनतामे यह प्रवाद है कि इनको पीटनेसे ये भयभीत हो परमात्माके पास जाते है और अपने अस्तित्वको बनाये रखनेके लिए, उन्हे सतानेवालोके पापोको क्षमा करनेकी सिफारिश करते है। भक्तिका यह रहस्य तो मेरी समझमे नही आया। हाँ, इतनी कल्पना जरूर हुई कि इस प्रवादका मूल श्रमण सस्कृति के प्रति घोर घृणा और द्वेषकी निम्न मनोवृत्तिका परिचायक है। मै मूर्त्तिके और निकट गया। उसकी निर्माण-कला देखकर आश्चर्य-चकित रह गया। कलाकारने मूर्त्तिके निर्माणमे कमाल कर दिखाया है। इस प्रतिमाका ऐतिहासिक दृष्टिसे भी कम महत्त्व नही। कारण कि इसके ऊपर **सारिपुत्र** और **मौग्गलायन**, **अवलोकितेश्वर** तथा आर्य **मैत्रेय**की मूर्त्तियाँ खुदी हुई है।

तेलुआ-भैरों बाबा

रात्रिको नालन्दाके कथाकोविद ग्राम-वृद्धोसे वहाँके अवशेषो और खण्डहरोके सम्बन्धमे प्रचलित कथाएँ सुनी। उनमे इन अवशेषोके सम्बन्धमें कई किवदन्तियाँ और भ्रमपूर्ण धारणाएँ फैली हुई है। एक प्रतिमा ध्वस्त खडहरोके सुदूर उत्तरी भागमे वटवृक्षके नीचे भूस्पर्शकी मुद्रामे है। चारों ओर ईंटोका परकोटा बना है। दूरसे लगता है, यह कोरा खडहर ही होगा। मेरा अनुमान है कि बहुत-से नवागन्तुक पर्यटक इस सौन्दर्य-सम्पन्न प्रतिमाके

दर्शनसे वंचित ही रह जाते होंगे। ज्यों ही भीतर झाँकते है, एक विशालकाय प्रतिमा दृष्टिगोचर होती हैं। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ स्वर्गीय डॉ० **हीरानन्द शास्त्रीकी** मान्यता है कि "यह उस अवस्थाकी द्योतक है, जिसमें सिद्धार्थको ज्ञान प्राप्त हुआ था। ज्ञान-प्राप्तिके पूर्व जब ये महात्मा पालथी मारकर बैठे थे, तब इन्होने दृढ सकल्प कर लिया था कि यहाँसे तबतक नही उठेंगे जबतक 'बोधि' या पूर्ण ज्ञान प्राप्त न हो। भूमिको स्पर्श करते हुए इन्होने कहा था कि **"हे भूमि ! यदि मैं पापी नहीं हूँ तो मैं इस ज्ञानको प्राप्त करूँ। तू मेरे पुण्य और पापको देखनेवाली हो।"** नि सदेह यह प्रतिमा उपर्युक्त भावोको समुचित रूपसे व्यक्त करती है। आत्म-कर्त्तव्यके प्रशस्त पथपर अग्रसर होनेको उत्प्रेरित करनेके दृढ सकल्पी भावोसे मुखपर ज्योति चमक रही है। लगता है, मानो इस जड पत्थरमे साक्षात् बुद्धदेवकी आत्मा तो नही आ विराजी ! इसके निर्माणमे कलाविद्ने मनोविज्ञानका सुन्दर परिचय दिया है। मुखपर दृष्टि केन्द्रित करते ही मनकी गति और चित्तवृत्तिमे अद्भुत परिवर्त्तन हो जाता है। कहना चाहिए कि आत्म-लक्ष्मी दृष्टि स्थिर हो जाती है। यदि सौन्दर्यका सम्बन्ध हृदयसे है तो मानना होगा कि शायद ही कोई सहृदय ऐसा होगा जो इसके सम्मुख नतमस्तक न होगा। भगवान् बुद्धदेवके लोकोत्तर व्यक्तित्वका साकार रूप प्रस्तरपर निखर उठा है। अहिंसा और विश्व-बन्धुत्वकी उदात्त भावनाएँ यहाँ साकार है। न जाने प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारने मानसकी किन उन्नत भावनाओसे इसका निर्माण किया होगा। शारीरिक अग-विन्यास और विकासमे शिल्पीने अपना अद्भुत चातुर्य दिखाया है और इस प्रकार वह निश्चय ही हमारी श्रद्धाका भाजन बना है। जड वस्तुमे भी ऐसे सात्विक भावोको मूर्त्त कर दिया है, जिसपर सभी मुग्ध हो जाते है। हमने अपने नालन्दा-प्रवासके दिनोंमे इसका नियमित अवलोकन किया, परन्तु मन कभी ऊबा नही। यो तो प्रतिमा सात्विक भावोंका पुंज ही है, परन्तु ग्रामीणोके लिए इसकी स्मृतिका एक दूसरा ही प्रकार है। वे इसे **भैरों बाबाके** रूपमें पूजते हैं। श्याम

पाषाणपर विशालकाय बुद्धदेवकी यह मूर्ति है। इसीसे इसे भैरवका प्रतीक मान लिया गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। प्रतिदिन बुद्धदेवको तैल-स्नान करना पड़ता है और बदलेमें दुबले-पतले बच्चोंको मोटा बनानेका काम करना पड़ता है। पण्डोंने भोली जनताको लूटनेका एक निकृष्ट पेशा ही बना लिया है। फलस्वरूप कच्चे घड़ेमें सातों धान, दूब, सुपारी, नारियल, चुन्दरी और सवा रुपया पण्डोंकी जेबमें जाता है और **'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय'**के उदघोषक बुद्धकी मूर्तिपर इसप्रकार निर्लज्जतापूर्वक भोली-भाली जनता ठगी जा रही है।

विद्यापीठके खण्डहरोंमें

फुटकर अवशेषोंको देखनेके बाद हमने निश्चय किया कि अब एक साथ प्राचीन विद्यापीठके अवशेषोंका निरीक्षण किया जाय, जो कभी माता सरस्वतीका पुनीत धाम था, जहाँपर विदेशके प्रकाण्ड पंडित विद्यार्थी होकर आते थे और जिसके लिए नालन्दाकी इतनी ख्याति थी। नालन्दाकी प्राचीन व पवित्र कीर्त्तिका अनुभव उसके इन खण्डहरोंसे होता है। वर्षोंकी साधनाका इतिहास इन खण्डहरोंके कण-कणमें आज भी बिखरा पड़ा है। वहाँकी एक-एक ईंट मानो बुद्धदेवका दिव्य सन्देश दे रही है। वीणापाणिके सुविख्यात तीर्थमें निवास करनेवाले और भारतीय-संस्कृति, कला और साहित्यकी विभिन्न शाखाओंके प्रकाण्ड पण्डित, भिक्षु-साधकोंके समुज्ज्वल व्यक्तित्वका परिचय, यहाँके, खण्डहर मौन वाणीमें पुकार-पुकारकर दे रहे हैं। एक समय था, जब यहाँ सैकड़ों घंटोंके नाद होते थे, परन्तु अब तो दिनमें भी निस्तब्धता छाई रहती है। एक समय था, जब यहाँ विभिन्न विषयोंका अध्ययन करनेके लिए देश-विदेशसे छात्र आते थे; परन्तु अब तो अध्ययन-स्थान ही अनुशीलनका विषय बना हुआ है।

उत्तरकी ओरसे हमने खण्डहर-यात्रा प्रारम्भ की; क्योंकि वही मार्ग हमें अनुकूल पड़ता था। खण्डहरोंको यहाँपर दो भागोंमें विभाजित करना

सुविधाजनक जान पडता है। एक भाग विहारोंका और दूसरा स्तूपो और चैत्योका है।

आगेवाली पक्तिमे लगातार कई खण्डहर दीख पडते है। वे सभी विहारोके अवशेष है। लाल ईंटे है। जो विहार अभी दिखलाई पड़ते है, उनसे यही प्रतीत होता है कि अब भी पूर्ण रूपसे उनका खनन नही हुआ। कुछ भाग ही सरकार पृथ्वीके गर्भसे निकाल पायी है। बौद्धोमे शुरूसे ही प्रथा रही है कि एक विहार गिरनेपर उनके अवशेषोको ढँकनेके लिए उसी मलवेपर दूसरा विहार बना देते थे। इसे बौद्ध साहित्यमे **परिछादन** कहते है।

सभी विहारोकी निर्माण-शैली एक ही है। चारो ओर कोष्ठ और खुला बरामदा है। कही चौकोर आगन भी है। बरामदेके विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना मुश्किल है। या तो वह दूर-दूर बने स्तम्भोपर आधृत रहा होगा या छत खुली रही होगी। विहारोकी भित्ति बिलकुल सादी है। केवल आगेका कुछ भाग ही सुसस्कृत है। छोट-छोटे कमरे प्रत्येक विहारमे बने है। उनमे वायु-प्रवेशके लिए खिडकियाँ नही दीखती। हाँ, सामान या मूर्त्ति रखनेके लिए आले अवश्य बने है। कुछ बरामदे ऐसे भी दिखाई दिये, जिनकी पीठिकामे मूर्त्तियाँ अकित थी। कमरेकी दीवारो-के कटाव इस ढगके बने है कि चारपाईके रूपमे भी उनका उपयोग हो सकता है। कुछ विहारोकी छते अब भी इतनी दृढ है कि उनकी प्राचीनताका अनु-मान करना कठिन हो जाता है। कुओकी भी यहाँ बडी सुन्दर व्यवस्था है। कुछ अठपहले है तो कुछ छह पहले। यहाँके कुओका जल बडा मीठा और शीतल है। कूप और विहारोमे जिन ईटोका व्यवहार हुआ है, वे गुप्तकालके पूर्वकी तो नही है। इतिहास साक्षी है कि शुगकालसे चौथी शतीतकका एक भी उल्लेख ऐसा नही मिलता जो नालन्दाकी स्थितिपर प्रकाश डाल सके। पाँचवी सदीमे (४०५-४११ ई०) चीनी यात्री **फाहियान** भारत आया था। उसके समयमे नालन्दा उच्च कोटिके नगरोमे नही गिना जाता रहा होगा,

वरना वह इसका उल्लेख किये बिना न रहता। उसने तो केवल 'नाल' का उल्लेख कर सतोष कर लिया है।

इन विहारोके बाद हम लोग चैत्योकी पक्तिकी ओर मुडे। जैसा कि मै ऊपर लिख चुका हूं, प्रत्येक विहारके पश्चात् भागमे एक-एक स्तूप या चैत्य बने हुए है। स्तूपोकी पक्ति दक्षिणकी ओरसे प्रारम्भ होती है और उत्तरकी ओर चली जाती है।

स्तूप

जैन-सस्कृतिमे जो स्थान मदिरोका है, बौद्ध-सस्कृतिमे वही स्तूपोका है। अन्तर केवल इतना है कि जैन-मदिरोमे प्रशम-रसके प्रतीक तीर्थंकरकी प्रतिमा विराजमान् होती है जबकि स्तूपोमे गौतम बुद्ध या उनके त्यागी भिक्षुओके शरीरका अश या धातु—हड्डी—रहती है। इन्ही अवशेषोपर स्तूपो या चैत्योका निर्माण होता है। ऐसे स्तूपोकी सख्या काफी है। कही-कही ऐसा भी देखनेमे आता है कि बडे स्तूपोके निकट छोटे-मोटे स्तूप भी बनते थे। इनकी रचना अर्द्ध गोलाकार होती थी। उनके ऊपरी भागमे एक या अधिक छत्र भी रहा करते थे। ऐसे स्तूप विशेषत· पुण्य-तीर्थोमे बनवाये जाते थे। नालन्दा न केवल बौद्ध-सस्कृतिका केन्द्र था, अपितु स्वय बुद्धदेवने यहांके आम्रवनमे कई चातुर्मास विताये थे। कहा तो यह भी जाता है कि बुद्धके निर्वाणके बाद ही यहाँपर उनकी स्मृति-स्वरूप एक स्तूप बना था। आनन्दने बुद्धदेवके निर्वाणका यही स्थान उपयुक्त समझा था। पाटलिपुत्रसे भी नालन्दाका वैभव उन दिनों बढकर था।

भारत सरकारकी ओरसे खुदाईका कार्य सर्वप्रथम इसी स्तूपसे हुआ था। इसकी ओर पर्यटकका ध्यान शीघ्र ही आकर्षित हो जाता है, कारण यह सबसे ऊँचा है। टेढी-मेढी सीढियाँ पार कर हम ऊपर चढे। पहुँचने पर हमे जिस आनन्दकी अनुभूति हुई, वह तो अनुभवकी ही वस्तु है। कोसो तक ग्राम, खेत, नदियाँ और वृक्षोकी पक्तियाँ दिखती थी। सर्पाकार सडके

कोसो तक मार्गको चीरती हुई आगे निकल गई थी। राजगृहके पाँचो पहाड तो मानो हमारे निकट ही हो, ऐसा लगता था। वहाँका प्राकृतिक दृश्य बडा सुहावना था। ऊपरवाली छतके चूनेकी पालिश इतनी चिकनी थी कि देखकर आश्चर्यान्वित हो जाना पडता था। कहा जाता है कि यह स्तूप इतना ऊँचा इसलिए बनवाया गया था कि भिक्षुगण ख-मण्डलका समुचित अध्ययन कर सके।

नीचे उतरकर स्तूपका निम्न भाग और कई उपस्तूपोकी दीवारोपर चूनेकी पालिशकी सुन्दर कलापूर्ण प्रतिमाएँ देखी, जो उन दिनोकी लोक-सस्कृति और मूर्त्तिकलाका प्रतिनिधित्व करती थी। ऐसे ही ढगकी प्रतिमाएँ हमने राजगृहके निर्माल्य कूपमें भी देखी थी। पाल युगमे मगधका शिल्प बहुत बढा-चढ़ा था। इन्ही शिल्पियोंके पूर्वजोकी उपर्युक्त कला-कृतियाँ रही होगी। स्तूपके पास पूर्व विहारोके अवशेष पडे हुए थे। अत. इस स्तूपकी पूरी खुदाई सम्भव नही हो सकी है, क्योकि इससे पूरा स्तूप ढह जानेकी सम्भावना है। अर्थात् यह स्तूप परिच्छादनका स्पष्ट प्रतीक है। निम्न स्तरोसे बहुत-सी मूल्यवान् वस्तुएँ प्राप्त हुई है। सम्भव है, अग्निदाहके समय शीघ्र पलायन करते समय भिक्षु उन्हे साथ न ले जा सके होगे! धातु-प्रतिमाओके अतिरिक्त अष्टधातुका एक सिहासन भी मिला है। कुछ अन्य अवशेष भी ऐसे मिले है जो किसी नृप-प्रतिमाके सूचक हैं। सम्पूर्ण स्तूपका सरसरी तौरसे अवलोकन करनेसे प्रतीत होता है कि नालन्दाके उन्नत युगमें जो स्तूप निर्मित हुए थे, उनमे यह प्रमुख रहा होगा, क्योकि इसकी विशाल आकृति, सुन्दर रचना-कौशल, अधिक-से-अधिक इसी स्तूपमे पाया जाता है। बहुत-से छोटे-छोटे कमरे, जिनपर सुन्दर अलकरण बने है। यह स्तूप क्या है, मानो छोटा-सा दुर्ग ही है।

उत्तरकी ओर दो कोष्ठ ईंटोके बने हैं। प्रतीत होता है कि सम्भवतः गुफाएँ ही हों। इनमे व्यवहृत पाषाण नालान्दाके निकट गया और बराबर पहाड़ियोके है। पश्चिम कोष्ठका द्वार बन्द है; पर पूर्वका खुला है। इसके

ऊपरका भाग भारतीय कलाका सुन्दरतम उदाहरण है। ईंटोंने इनका सौन्दर्य काफी बढा दिया है। पार्थिव पुष्पोंमें सौन्दर्य पाये जानेकी उक्ति इसपर सोलहो आने चरितार्थ होती है। यह स्तूप न केवल तथ्योंका ही आधार है, अपितु सत्यका भी प्रकाशक है। इन दोनोंमें कमानदार छत्ते हैं, जो मुसलिम शिल्प-कलाके पहलेकी है। स्तूपसे पानी निकलनेकी सुन्दर नालियाँ बनी है। पूर्वी भागमें कुछ ऐसे अवशेष दिखलाई पड़े, जो बुद्धदेवकी भूमिस्पर्श मुद्राके अवशेष-से लगे। दक्षिणी कोना मूर्त्तियोंसे भरा पडा है। उत्तर और दक्षिणकी दीवारोंके आलोंमें तारा और भगवतीकी चित्ताकर्षक मूर्त्तियाँ थी; पर अभी वे ईंटोंसे आच्छादित है। मगधके दीपकोंका, शिल्पकलामें यहाँसे प्राप्त अवशेषोंके अतिरिक्त इतना सुन्दर उदाहरण सम्भवत अन्यत्र न मिल सके। भीतरी भागका विभाजन विलक्षणताओंसे भरा पडा है। कहनेका तात्पर्य कि वहाँकी एक-एक ईंटमें सौदर्यके तत्त्व इतने व्याप्त है कि वहाँसे हटनेकी इच्छा नही होती। सम्पूर्ण स्तूप नष्ट-भ्रष्ट होते हुए भी मागधी शिल्प-स्थापत्य कलाका आज भी सफल प्रतिनिधित्व कर रहा है।

भीतरी भागको देखकर हम लोग चाहते तो यह भी थे कि विशाल स्तूपका बाह्य भाग भी घूमकर देखे, परन्तु वह सभव न हो सका। कारण, छोटे-मोटे इतने पौधे थे कि उनको रौंदकर अपनी इच्छाकी पूर्त्ति करना हमारे जैसे जैन-मुनिके लिए सभव न था। फिर भी यथासभव घूमकर देखनेकी चेष्टा की। स्तूपका ऊपरी भाग नष्ट हो गया है, पर नीचेकी दीवारे आज भी नई-सी लगती है। ईंटोकी जुडाई सुन्दर और कलापूर्ण है। जगती-का भाग तो और भी सुन्दर है। ईंटोका यथास्थान जैसा उपयोग हुआ है, उसे देखकर तो यही प्रतीत होता है, मानो सम्पूर्ण स्तूपका मानचित्र पहले ही तैयार हुआ होगा और तदनुकूल ही ईंटोका भी निर्माण हुआ होगा, क्योंकि बहुत-सी गोल या अर्द्ध गोल ईंटे ऐसी है, जो स्वाभाविक ढली-सी प्रतीत होती है।

उपर्युक्त विहारके दक्षिण-पश्चिम कोनेसे सटा एक दूसरा विहार भी है। यहाँसे बहुसख्यक मूर्त्तियाँ निकली हैं। इसका आँगन भी बडा भव्य है। यहाँ चूल्हे भी पाये गये है। इसमे एक कुआँ भी है। उनसे अनुमान होता है कि निस्सदेह यहाँ औषधालय रहा होगा। यहाँसे हम उत्तरकी ओर चलते गये और एक दूसरेसे सटे हुए अनेक चैत्यावशेषोकी कहानी सुनते गये। यो भी सभी स्तूप सुन्दर बने होगे, पर बिलकुल अच्छी हालतमें कुछ ही बचे है। इनके बीच पुरातत्त्व विभागका एक छोटा-सा मकान बना है। जहाँसे दर्शकोको टिकट लेना पडता है। इसके सामने एक विशाल स्तूप है। हम लोग इसकी विस्तृत छतपर चढ गये। ऊपर जानेके लिए सीढियाँ बनी है। पर अब तो वे भी इतनी जर्जर है कि यदि चढ़ते समय थोडी भी भूल हो जाय तो जानकी खैरियत नही। ऊपर पहुँचते ही एक छोटा-सा कमरा दिखलाई पडा। इसकी दीवारमे जो गारा दिखलाई पडता है और वेदी बनी हुई है, उनसे पता चलता है कि इसमे पूज्य प्रतिमा रही होगी। छत चारो ओरसे इतनी फैली है कि १००० मनुष्य सरलतासे बैठ सकते है। पालिश चिकनी और कुछ ढलुआँ भी है। पानी जानेके लिए नालियाँ बनी है। छतका भीतरी कटाव और दीवार इतनी चौडी है कि एक मनुष्य आसानीसे दौड सकता है। मध्य भागमे ईटोका ढेर-सा लगा है। सम्भव है, यह भी बडा-सा चैत्य रहा हो, क्योकि भूमिसे एक मजिल ऊँचा है। अग्रभागमें दोनो ओर बहुत-से छोटे-बडे स्तूप बने है। पिछला भाग कुछ अधिक गहरा है। ईंटोसे बने शिल्प भास्कर्यको देखकर मन मुग्ध हो जाता है। ईटोकी निर्माण-शैली प्रेक्षणीय है। यहाँकी जगतीमें ईटोका एक अनुपम स्वस्तिक बना हुआ है। ऐसा अन्यत्र नही दिखलाई पडा। लगता है, जैसे खड़े तन्दुलोका ही बना है। एक-एक लाइनमें दो-दो तन्दुल-कणोका उपयोग किया गया है। यहाँकी खुदाई भी अपूर्ण ही जान पडती है। कारण कि उत्तरकी ओर दो फुट चौडी एक गली है, जिसका थोडा-सा भाग ही दीखता है। सम्भव है, यह मार्ग दूसरे मार्गमे जानेका रहा

हो। जल-प्रवाहके लिए तो अलग ही नालियाँ बनी हुई है। इस विशाल चैत्यके निर्माणका लक्ष्य शायद यही रहा होगा कि या तो यहाँ विशेष अवसरोपर बडी सभाएँ होती रही हो या दैनिक सामूहिक प्रार्थना। स्तूपोके चारो ओर बौद्ध संस्कृतिसे सबधित प्रतिमाएँ हैं। प्रथम विहारके बाद यही विहार हमे आकर्षक लगा।

ऊपर लिख चुके है कि स्तूपोमे भगवान् बुद्धदेव या उनके शिष्योकी अस्थियाँ रखी जाती थी, पर यहाँ एक ऐसा भी स्तूप है, जिसकी छानबीनके बाद मालूम हुआ कि उसमे न तो धातु है और न भस्म ही। सम्भव है, बुद्धदेवने जिस स्थानपर तीन माह तक धर्मोपदेश दिया था, वही यह स्थान हो और उसकी पवित्रता या स्मृतिको सुरक्षित रखनेके लिए यह स्तूप बनाया गया हो। यह स्तूप छ बार आच्छादित हो चुका है। इसपरसे नालन्दाके कमलाकर सरोवर और झीले बडी सुहावनी दीखती हैं। स्तूपका चौक भी छोटे-छोटे स्तूपोसे भरा है। इसी स्तूपसे अग्निकोणमे महायानके प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुनकी खडित, पर भव्य प्रतिमा है। और भी मूर्त्तियाँ वहाँ रखी गई है।

इसप्रकार यत्र-तत्र भ्रमण कर सभी विहारोके ओर इस भू-भागमें बने स्तूपोकी यात्रा की, जो प्राय ऊँचे टीलोपर स्थित है। मार्ग कही अच्छा है, कही ऊबड-खाबड। अतिम स्तूपका मार्ग तो बडा ही विचित्र है। भीतरी भाग शून्य है। रिक्त स्थानकी आकृति सूचित करती है कि वहाँ विशाल मूर्त्ति रही होगी। इस स्तूपका बाहरी भाग, विशेषत जगतीका हिस्सा, उत्तम शिल्प-कलाका परिचायक है।

पत्थर घट्टी मंदिर

विहारोके भग्नावशेषोमे एक मदिर पाया जाता है, जिसे लोग 'पत्थर घट्टी मदिर' नामसे पुकारते हैं। इतिहास-तत्त्व-गवेषकोका मन्तव्य है कि यह मदिर बालादित्य (मगध)के बनवाये हुए प्रासादकी सामग्री है। इसका उल्लेख यहीके यशोवर्मदेववाले लेखमे भी मिलता है।

मंदिरका प्रवेश-द्वार पूर्वकी ओर है। इसमे २११ छोटी-बडी प्रस्तर-पट्टियाँ है। इनका निर्माण कई दृष्टियोसे महत्त्वपूर्ण है। हसोकी पक्तियाँ एव अन्य पक्षियोका खुदाव अत्याकर्षक है। सम्पूर्ण रचना शिल्प-शास्त्रानुकूल है। पट्टियोपर और भी नाना प्रकारके चित्र खचित हैं। यहाँपर हमने ऐसे विलक्षण शिल्प देखे, जिनकी यहाँ अर्थात् आत्मलक्षी भिक्षुओंके मठोमें क्या उपयोगिता रही होगी ? शृगाररसके ८४ आसनोंमे कुछ आसन यहाँपर खुदे हुए हैं। इस प्रकारकी शिल्पाकृतियाँ उन दिनोकी बौद्ध तान्त्रिक परम्पराका स्मरण दिलाती है, जिसका बौद्धोके पतनमे प्रमुख हाथ था। यहाँपर किन्नर-किन्नरियोंके चित्रोकी भी कमी नही। कुछ ऐसे भी शिल्प दिखलाई पडे जो एक प्रकारसे साहित्यगत तथ्योका साकार रूप खडा करते थे। बचपनमे पचतन्त्रमे एक कछुएकी कथा पढ़ी थी। वह भी वहाँ खुदी थी। बौद्धोकी कच्छप जातकमे भी यह कथा है। इन विभिन्न आलेखनोसे शिल्प-शास्त्र विषयक एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि उन दिनो गृहका कोई भी भाग बिना आलेखनके रखनेका रिवाज न था। भारतीय शिल्प-शास्त्रोमे निरलकृत गृह अपशकुनजनक माना गया है। मुसलमानोके आगमनके पूर्व ही भारतीय शिल्पकी शाखाएँ कितनी उन्नत हो चुकी थी। इसके परिचयके लिए प्रस्तुत स्तूप ही पर्याप्त है।

नालन्दाके खण्डहर भारतके प्रमुख कला-तीर्थ है, जिनके साथ ससारकी भावनाएँ जुडी है। जिस अवस्थामे खण्डित अवशेष यहाँ बिखरे पडे है, वे उसके उन्नत अतीतको समझनेके लिए पर्याप्त है। जैन और बौद्ध-साहित्यमे नालन्दाका उल्लेख बडे गौरवके साथ किया गया है। ह्यूश्रान्-चुश्राङ् और तारानाथ आदि बहुश्रुतोने मुक्त कठसे नालन्दाकी गौरव-गाथा गाई है। यहाँ शिल्प और सस्कारका अश्रुतपूर्व समन्वय है। सस्कृति और आदर्शोका साकार रूप नालन्दाके खण्डहरोमें व्याप्त है। आज भी समुज्ज्वल श्रमणसस्कृतिके रत्न भगवान् महावीर और बुद्धकी प्रतिध्वनि यहाँ सुनाई

पडती है। यह भूमि साधकोकी चरण-रजसे पवित्र हो चुकी है। विश्वने यहीसे ज्ञानका प्रकाश पाया था।

विहारोंका निर्माण और ध्वंस

इतने लम्बे विवेचनके बाद प्रश्न उपस्थित होता है कि इन विहारोका निर्माण और ध्वस-काल क्या है ? यह कहानी लम्बी है, पर यहाँ तो प्रासगिक उल्लेखसे ही सतोष करना पडेगा।

भगवान् बुद्धके आत्मव्रती बौद्ध भिक्षुओने नालन्दा महाविहारकी स्थापना की थी, यह बात सर्वविदित है। विहार-स्थापनाका एकमात्र कारण उनके सिद्धान्तोका विश्वमे प्रचार करना रहा होगा। वह भी न केवल सैद्धान्तिक रूपसे ही, अपितु बौद्धिक रूपसे भी, क्योकि बौद्ध-सिद्धान्तोसे सबधित ग्रथोका अध्ययन-अध्यापन तो होता ही था, परन्तु भारतीय साहित्य-की आयुर्वेद, तर्क, न्याय, अलकार आदि अनेक शास्त्राओका गम्भीर अध्ययन अध्यापन भी सहिष्णुतासे होता था। यहाँ प्रश्न यह है कि इस महाविहारकी स्थापना कब हुई ? स्थापना-सूचक कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। प्राप्त उल्लेख भी परस्पर-विरोधी भाव रखते है। तिब्बतीय विद्वान् पण्डित तारा-नाथने लिखा है कि यह अशोकद्वारा स्थापित किया गया था। ह्यूआन् चुआङ्-का अभिमत है कि बुद्धदेवके निर्वाणके कुछ दिन बाद ही नालन्दामे प्रथम सघाराम स्थापित हो गया था। परन्तु वहाँ अभी तक एक भी ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण नही पाया जाता जो उपर्यक्त पक्तियोको सार्थक करता हो। फाहियान (४५८) ने भी अपने यात्रा-विवरणमे नालन्दाके किसी भी विहारकी चर्चा नही की। यदि उन दिनो नालन्दा महाविहारके कारण विख्यात होता या तीर्थके रूपमे उसकी प्रसिद्धि होती तो वह वहाँ अवश्य गया होता और उसका उल्लेख भी अवश्य ही करता। ह्यूआन्-चुआङ्के समय नालन्दा विश्व-विद्यालयके रूपमे पर्याप्त कीर्त्ति अर्जित कर चुका था। ६३५ ई० मे वह जब वहाँ पहुँचा, उस समय शीलभद्र विश्वविद्यालयके अध्यक्ष थे। वे समस्त

सूत्र और शास्त्रोके पारगामी विद्वान् थे। इस पूर्व इनके गुरु धर्मपाल इस आसनपर अधिष्ठित थे। शीलभद्र ब्राह्मण, सगीत प्रेमी और बाल्यकालसे विद्याके प्रेमी थे। योगाचार विषयक इनकी टीकाएँ, भारतीय साहित्यकी मूल्यवान् निधि है। चीनी पर्यटक श्यूआन् चुआङ्ने १९ मासतक इनके चरणामे बैठकर योगदर्शनके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोका सूक्ष्म-ज्ञान सम्पादन किया। इसने शीलभद्रको 'यग-फा-त्सग—सत्य और धर्मका अवतार कहा है। नालन्दाके सुप्रसिद्ध आचार्योका नामोल्लेख पर्यटकने किया है जो इस प्रकार है—चद्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, धर्मपाल और शीलभद्र। ये सब आचार्य प्रत्युत्पन्नमति थे। इन्हीके ज्ञान और चारित्रके बलपर विश्वविद्यालय दैनन्दिन उन्नति कर रहा था। चीन और मगोलियातकके विद्यार्थी यहाँ अध्ययनार्थ आते थे[1]। पाठ्य विषयोमे अठारह सम्प्रदायके ग्रन्थोके अतिरिक्त, वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, तात्रिक विद्या, योगविद्या, चिकित्सा और साख्यदर्शनके ग्रन्थ मुख्य थे। आज भी वहाँपर प्राचीन परपराकी भट्टियाँ बनी हुई है। अत उपर्युक्त पक्तियोसे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि फाहियानके बाद और श्यूआन् चुआङ् के पूर्व नालन्दा विहारकी स्थापना हुई होगी। यह समय ५ वीसे ७ वी ईस्वी शतीके मध्य पडता है।

कनिंघम और **स्पूनर**ने भी यही समय स्थिर किया है। उपर्युक्त समयमे नालन्दाका एक बार दाह भी हुआ था। बालादित्यके एक लेखसे इसका पता चलता है। यह दाह हूणोके समयमे हुआ होगा। उन दिनो मगधके शासक **बालादित्य** थे। अत नालन्दाके पुनरुत्थानमे उन्हीका प्रमुख हाथ था। कारण कि **मिहिरकुल** (ई० ५१५) का समय भी यही है। अनुमानतः **बालादित्य**का राज्यकाल सन् ४६७-४७४ ई० रहा बतलाया जाता है। इसके तीन पूर्वजोने सघाराम बनवाये थे। अत सिद्ध होता है कि महा-विहारकी स्थापना पाँचवी शतीके उत्तरार्द्धमे हुई होगी। जबतक यहाँका

---

[1] रिकर्डस् ऑफ़ दि बुद्धिस्ट रिलिजन-,तक कस्, पृ० २६।

खनन-कार्य पूर्ण न हो जाय तबतक निश्चित रूपसे कुछ भी नही कहा जा सकता। गुप्तोका विद्या तथा कला-प्रेम प्रसिद्ध ही है। वे सहिष्णु भी थे। इसी भावनासे उत्प्रेरित होकर महाविहारकी स्थापना की थी। नालन्दाके विकासमे गुप्तोका बडा योग रहा है। **शशांकने** भी नालन्दापर आक्रमण किया था, जिसकी मरम्मत **हर्षवर्द्धनने** करवाई थी। इसने महाविहारोकी व्यवस्थाके लिए कई गाँव दिये थे। एक पीतलका विहार भी बनवाया था। नालन्दाकी ख्याति इतनी व्यापक हो चुकी थी कि बडे-बडे राजा-महाराजा इसकी सहायता कर गौरवान्वित होते थे। इसमे परस्पर प्रतिस्पर्धा भी हुआ करती थी।

हर्षके पश्चात् ८ वी शतीमे महाविहारका सरक्षण पाल वशके हाथमे आया। पाल राजाओने भी कई विहार निर्मित करवाये थे। महाराज गोविन्दपालके समयमें (ई० स० ११६५मे) **अष्ट-साहस्रिका-प्रज्ञा-पारमिता**-की प्रतिलिपि तैयार हुई। नालन्दामे साहित्यिक अध्ययनके साथ नूतन निर्माण भी पर्याप्त रूपमे हुआ। पाल-कालमे लेखन-कलाका भी वह प्रधान केन्द्र-सा बन गया था। प्रज्ञा-पारमिताकी अति शुद्ध और सौन्दर्य-सम्पन्न प्रतियाँ जितनी भी मिलती है, उनकी बहु-सख्यक प्रतियोका प्रतिलेखन नालन्दाके भिक्षुओने ही किया था। नालन्दाके विकासकी कहानी यही समाप्त होती है।

प्राचीन भारतके विद्याकेन्द्र नालन्दाका प्रत्यक्ष पतन भले ही मुसलमानो-के कारण हुआ हो, परन्तु अप्रत्यक्ष पतन तो उसी दिनसे प्रारम्भ हो गया था, जिस दिन विद्यापीठमे तन्त्र-पद्धतिका प्रवेश हुआ। बौद्ध तान्त्रिकोने तन्त्रकी आडमे व्यभिचार-साधना शुरू कर दी थी। इसकारण जनतामे उनका सम्मान निश्चयपूर्वक घट गया होगा। वे राज्यलक्ष्मीके बलपर जनताकी परवाह न कर, अहकारके मदमे, शिक्षाके नामपर, अकर्मण्यताका प्रच्छन्न पोषण कर रहे थे। यदि नालन्दा विहारके प्रति जनताका कुछ भी आकर्षण या सद्भाव होता तो इने-गिने मुसलमानो द्वारा उसका इसप्रकार

सदाके लिए नाश न होता। आखिर बख्तियार खल्जीने ई० स० ११९९में कुछ सौ सैनिकोंसे ही तो विहारपर आक्रमण किया था। उसने अल्प समयमें ही भयंकर रक्तपात कर नालन्दाके विहारोंका निर्दयतापूर्वक ध्वंस तो किया ही, साथ-ही-साथ नालंदाकी विद्या-परम्पराको सुरक्षित रखनेवाले विशाल पुस्तकालयको भी नष्ट कर डाला। पुस्तकालयमें कितने ग्रंथ थे, इसका अनुमान तो इसीसे लगाया जा सकता है कि कई महीने जलकर भी सारी पुस्तकें नष्ट न हो सकी थी।

पीछे चलकर पाल राजाओंने नालन्दाके संरक्षणमें पहलेका-सा उत्साह प्रदर्शित करना छोड़ दिया था और अपने ही संरक्षणमें वे विक्रमशिला विश्वविद्यालयकी अभिवृद्धिमें पूरी तरह जुट गये थे। इस प्रकार नालन्दाका महत्त्व दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था। तिब्बतीय इतिहासज्ञ तारानाथका तो कथन है कि विक्रमशिलाकी देख-रेखमें नालन्दा विश्व-विद्यालय चलता था। यद्यपि नालन्दाकी भाँति विक्रमशिलाकी शिक्षा-पद्धति विस्तृत न थी, तथापि यदि मुसलमानोंका आक्रमण न हुआ होता तो नालन्दाकी शिक्षा-पद्धति, अंशतः अवश्य ही विक्रमशिलामें सुरक्षित रहती।

निस्सन्देह नालन्दाका शिक्षा-विषयक अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बढ़ा-चढ़ा होनेके कारण ही नालन्दामें विकसित साहित्यिक शाखाओंके कुछ प्रौढ़ ग्रंथ आज भी चीन, नेपाल, तिब्बत और कम्बोडियामें पाये जाते हैं। इयूआन् चुआङ् भारतसे बहुसंख्यक ग्रंथोंकी प्रतिलिपि ले गया था। उनमें अधिकांश भागका सम्बन्ध नालन्दासे ही था। पश्चात् भी तिब्बत आदि देशोंके बौद्ध राजा धर्म-प्रचारार्थ भिक्षुओंको यहाँसे आमन्त्रित करते थे। उन भिक्षुओं तथा पर्यटकों द्वारा जो ग्रंथ या विद्या-परम्परा विदेशोंमें गई, उनमेंसे अधिकांश आज भी वहाँ सुरक्षित हैं। भारतीय विद्वानोंके प्रयाससे मूल रूपमें अब आ रही है। इस दिशामें महापण्डित राहुल सांकृत्यायनका प्रयास प्रशंसनीय है। महामहोपाध्याय पंडित विधुशेखर शास्त्री अति वृद्धावस्थामें भी तिब्बतीय ग्रंथोंका संस्कृत रूपान्तर करते रहते हैं।

तीसरे दिन हमने अवशिष्ट ऐतिहासिक भूखण्डोके दर्शनका निश्चय किया। प्रातःकाल ही हम बडगाँवकी ओर चल पड़े, कारण कि जहाँपर हम ठहरे थे, वहाँके भृत्यने हमें सूचना दी थी कि गाँवके कुछ किसानोके पास मिट्टीकी मुहरे, मूर्त्तियाँ आदि हैं। बरसातमें मुहरे, ताम्रपत्र, मूर्त्तियाँ आदि बहुत-सी सामग्री मिट्टी बह जानेसे ऊपर आ जाती है, जिसे वे लोग उठा ले जाते हैं। इसे वे बड़ी हिफाजतसे छिपा रखते हैं और ऊँचे दामोपर पारखी यात्रियोंके हाथों बेचते हैं। अधिकतर मुद्राएँ और मुहरे घण्टाकार शिखराकृतिवाली उपलब्ध होती हैं। **नालन्दा महाविहार** एवं कुछ एकपर **राजगृह महाविहार** ये शब्द अंकित रहते हैं। इसप्रकारकी हजारों मुद्राएँ आज भी धनके बलपर वहाँसे प्राप्त की जा सकती है, मूर्त्तियोमें अधिकतर धातुकी उपलब्ध होती हैं।

यहाँपर दिगम्बर धर्मशालाके पास विशाल अमराई है। यह वही आम्रवन है, जहाँ बुद्धदेव ठहरे थे। आज भी मेलोके दिनोमें आनेवाले यात्री इसीमें ठहरते हैं।

सूर्य-सरोवर

नालन्दाके सम्बन्धमें जितने भी प्राचीन उल्लेख मिले हैं, उनमें प्राय वहाँके जलाशयोंकी चर्चा है। नालन्दाका नाम ही इसीके साथ जुटा हुआ है। वर्तमानमें बडगाँवके पास एक विशाल सरोवर है। इसका जल गहरे हरे रंगका है। कहा जाता है कि किसी समय यह सरोवर बड़ा विस्तृत था। सरोवरमें हजारों यात्री कमर तक पानीमें खड़े होकर मन्त्रोच्चारके साथ सूर्यको अर्घ्य दे रहे थे। सरोवरके प्रधान घाटपर छोटा-सा चबूतरा बना है। इसपर बहुत-सी टूटी-फूटी मूर्त्तियोंके ढेर बिखरे पड़े है। इनमें विष्णु, गणेश, शिव, पार्वती और अधिकतर अवशेष सूर्यकी प्रतिमाके हैं, क्योंकि यहाँ इनकी आवश्यकता भी है। इन अवशेषोमें दो वस्तुएँ हमें ऐसी दिखलाई पड़ी, जिनके सम्बन्धमें पढ़ा तो काफी था, परन्तु साकार रूपमें तो

तभी ही देखा। मेरा तात्पर्य सहस्रलिंग शिव-मूर्त्तिसे है। ११ फुट ऊँचा और ९ इचसे क्रमश ६ इच चौडा था, मानो किसी मन्दिरका गोपुर ही हो, परन्तु यह था सहस्रलिंगका प्रतीक। चारो ओर १००० शिवलिंग खुदे थे। एक ओर मध्यमे शिवजी पार्वतीको गोदमे लिये गलेमे हाथ डाले विराजमान थे। सहस्रलिंग सरोवरका निर्माण तो गुजरातके चालुक्योने करवाया था, परन्तु एक ही प्रस्तरमे खुदे हुए लिंग हमारी दृष्टिमे नही आये थे। ऐसे दो अवशेष दिखलाई पडे। इसी चबूतरेपर भूमिस्पर्श मुद्रामे विशाल बुद्ध प्रतिमा भी अवस्थित है। अभय मुद्राकी प्रतिमाके साथ एक स्तूप भी है।

सरोवरके निकट ही पीपलके वृक्षके अधोभागमे मानवाकार एक प्रतिमा पडी है। वैसे यह किसी देवकी मानी जाती है, पर वस्तुत यह किसी राजाकी ही प्रतिमा है। आकृति राजाकी-सी है। जिस प्रस्तरपर मूर्त्ति खुदी है, उसी शिलापर, एक दर्जनसे अधिक पक्तियोका विस्तृत लेख खुदा है।

सरोवरके पास छोटी-सी कुटिया बनी है। इसमें एक देवीकी मूर्त्ति रखी है। मस्तक-विहीन है। बरामदेमे बहुसख्यक प्रतिमाएँ एव स्तम्भोके टुकडे अस्त-व्यस्त दशामे पडे है। आगे चलकर छोटे-से घाटपर हम ठहर गये। यहाँपर भी बहुत-से स्तूप, सूर्य-मूर्त्तियाँ एव बुद्धदेवकी विभिन्न मुद्रा-सूचक मूर्त्तियाँ पडी है। कुछ तो आधी धूलमे गडी है। कुछ स्तम्भोपर ६४ शिवलिंग अकित है। इस प्रकार १९ अवशेष पडे है। सपूर्ण सरोवरके चारो ओर कई अवशेष बिखरे पडे है। यहाँपर कुछ पत्थर ऐसे भी दिखे, जिनपर कपडा धोया जाता था, परन्तु वे सुन्दर कलावशेष थे।

यह सूर्य-सरोवर भी अपनी कहानी लिये है। प्रति रविवार और पूर्णिमाको यहाँ स्नानार्थियोका बडा मेला लगता है। आश्विन और चैत्र शुक्ल ६ को यहाँपर लाखो व्यक्ति स्नान करते है। जनताका विश्वास है कि इसमे स्नान करनेसे कुष्ठके रोगी चगे हो जाते है। कहा नही जा सकता कि इसमे कितना सत्याश है।

सूर्य-मन्दिरके मार्गमे एक मन्दिरमे ५ फुटसे कुछ अधिक लम्बी भगवान् कृष्णकी प्रतिमा अवस्थित है। उसका तूर्णालिकार कलाकारकी सफल कृतित्वका परिचायक है।

सूर्य-मन्दिर

मगध प्रान्तमें सूर्य-पूजाका प्रचार बहुत प्राचीनकालसे हुआ प्रतीत होता है। बिहारके अन्य भागोमे भी अवान्तर रूपसे सूर्य-पूजाकी परपरा प्रचलित है। इसके प्राचीन इतिहासपर प्रकाश डालनेवाले साधनोके अभावमे निश्चित कहना कठिन है, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि भगवान् महावीरके समयमे सूर्य-पूजाका जनतामे पर्याप्त विकास हो चुका था। महाश्रमणके जन्मके बारहवे दिन सूर्य-दर्शनका विधान कथाकारो द्वारा वर्णित है। सूर्यकी ताम्र-प्रतिमा निर्माणकी चर्चा भी है। उस कालकी मूर्त्ति दृष्टिगोचर नही होती। गुप्त और पालकालीन बूटवाली सूर्य-मूर्त्तियाँ सैकडोकी सख्यामे मिलती है। इनपर शक-प्रभाव स्पष्ट है। आज भी मगधमे, विशेषत नालन्दामे, सूर्य-उपासना विशेष रूपसे प्रसिद्ध है। यह सूर्य-मन्दिर एक प्रकारसे बहुत बडा तीर्थस्थान-सा बन गया है। चैत्र मासमे तो यहाँपर इतना बडा मेला लगता है कि ठहरनेको वृक्षोके नीचे भी स्थान नही मिला।

हम लोग सूर्य-सरोवरकी प्रदक्षिणा करके सूर्य-मन्दिर आये। दिनको ११ बजे हमने मन्दिरके श्वेतद्वारमे प्रवेश किया। दाहिनी दीवारकी ओर हमारी दृष्टि ठहरी, जहाँ कई प्राचीन अवशेष बिखरे पडे थे। उनमें **गणेश, विष्णु, तारा** और बुद्धदेवकी मूर्तियोके साथ स्तभोके टुकडे भी थे।

मुख्य मन्दिरको जाते ही दाहिनी ओर विशाल बुद्ध-मूर्त्ति दिखलाई पडी। मस्तकपर मुकुट और गलेमे आभूषण थे। भामडल बौद्ध कलाकी मौलिकताका प्रतीक था। ऊपरके भागमे पीपलकी पत्तियाँ सूक्ष्मतासे उत्कीर्णित की गई थी तथा दोनो ओर अभय मुद्रामे बुद्धदेव विराजमान

थे। निम्नभागमे बुद्धदेवका निर्वाण बताया गया था। मूर्तिको किसीने जान-बूझकर खराब कर दिया था।

दाहिनी ओर विशाल चतुर्भुजी प्रतिमा अवस्थित है। दाहिने एक हाथमे माला, एक हाथ आशीर्वाद मुद्रामें एव बाये हाथमें पुस्तक और कमण्डल धारण किये हुए है। यज्ञोपवीत, कटि भागमे, कर्ण और गले आभूषणोसे अलकृत है। हाथमे बाजूबन्द भी है। निम्न-भागमें मयूराख्द कार्तिकेय और मूषकपर गणेशजी है। ये दोनो पार्वती-पुत्र है। दायें-बाये चन्द्र-सूर्य हैं। अतिरिक्त परिकरका भाग जैन-मूर्तिके अनुसार है। मस्तकपर शिवलिग है। वर्णनसे ज्ञात होता है कि उक्त मूर्ति पार्वतीकी है।

प्रधान मन्दिरके दाये कमरेमे १३ प्राचीन मूर्तियाँ है। इनमें नाग-नागिन और तान्त्रिक है। बुद्धदेवकी कई मुद्राओवाली मूर्ति भी है। इस सग्रहमे भगवान् बुद्धदेवकी प्रवचन मुद्रावाली एक प्रतिमा है। इसका खनन इस प्रकार हुआ है, मानो कोई स्वतत्र मन्दिर ही हो। ऊपर शिखर दोनो स्तभोपर आधृत है। स्तभ अष्टकोण है। निम्न-भागमें कलशाकृति, बादमे घटाएँ, ऊपर बोर्डस्, पुन. चतुष्कोण होकर गोल बनाये गये है। यहाँपर एक ऐसी खडित प्रतिमा है, जिसमे बुद्धदेवका निर्वाण प्रदर्शित किया गया है। सभी पुरुषके मुखपर औदासिन्य भावोकी छाया है। मालूम पडता है, भिक्षु रो रहे है।

मुख्य मन्दिरका तोरण भी कई अवशेषोसे बना है। सप्ताश्व सूर्यकी प्रतिमाएँ भीतरी भागमे बडी सख्यामे है, जो सभी पाल-युगकी शिल्प-स्मृति बनाये हुए है। मन्दिर तो साधारण है।

रुक्मिणी-स्थान

नालन्दासे २ मीलके फासलेपर रुक्मिणी-स्थान भी जनताके लिए कभी तीर्थस्थान बन जाता है। लोगोका विश्वास है कि यहाँ रुक्मिणीका निवास रहा होगा। इस भ्रमके प्रचारका कारण कुण्डलपुर ग्राम प्रतीत होता

है। कुछ लोग नालन्दाको कुण्डलपुर नामसे ही पुकारते है। यह एक भ्रम ही है, कारण कि रुक्मिणीवाले कुण्डलपुर भी हम लोग हो आये हे। वह विदर्भ देशान्तर्गत आरबीसे ५ मीलपर वर्धा नदीके तटपर अवस्थित है। वहाँ रुक्मिणीका मन्दिर भी है। नालन्दामे जो शिल्प रुक्मिणीके नामपर चढ गया है, वह वस्तुत भगवान् बुद्धदेवका सम्पूर्ण जीवन साकार किये हुए है। एक ही शिलापर जन्मसे महानिर्वाण तककी जीवनकी विशिष्ट घटनाएँ कलात्मक ढगसे अकित हे।

नालन्दा जैन-दृष्टिसे

जैन-साहित्यमें मगधका उल्लेख बडे गौरवसे हुआ है। मगधमे ही श्रमण-सस्कृति पल्लवित हुई। श्रमण-सस्कृतिके सार्वभौम प्रभावके कारण ही काशी देशवालोको कहना पडा था कि मगधमे जो मरेगा, वह गधा होगा। सास्कृतिक साम्राज्यवादका यह एक उदाहरण है। **नालन्दा, राजगृह** और **पाटलिपुत्र** श्रमणोके केन्द्र थे। भगवान् महावीर[1] और बुद्धदेवके जीवनका अधिक भाग यहीपर व्यतीत हुआ था।

नालन्दामे जिस प्रकार बुद्धदेवने चातुर्मास बिताये थे, उसी प्रकार भगवान् महावीरने भी १४ वर्षावास किये थे। उन दिनो नालन्दा स्वतत्र नगर न होकर राजगृहका ही उपनगर था। सूग-कृतागमे नालन्दाका विशद् वर्णन है। महावीरके प्रधान गणधर इन्द्रभूति यहीके—गुब्बर गाँवके निवासी थे आजका बडगाँव वही पुराना गुब्बर गाँव है। ये वैदिक परम्पराके

---

[1]नालंदालंकृते यत्र वर्षारात्रांश्चतुर्दश
अवतस्थे प्रभुर्वीर स्तत्कथं नास्तु पावनम् ॥२५॥
यस्यां नैकानि तीर्थानि नालंदा नायनश्रियाम्
भव्यानां जनितानन्दा नालंदा नः पुनातु सा ॥२६॥

विविधतीर्थकल्प, पृ० २२।

प्रकाण्ड पण्डित और कुशल अध्यापक भी थे। इनका परिवार इतना विशाल था कि तीनो भाइयोके पास १५०० छात्र विद्याध्ययन करते थे। यही बादमे भगवान् महावीरके समवशरणमे जाकर दीक्षित हुए थे। इन्होंने द्वादशाङ्गीकी रचना कर भगवान् महावीरकी कल्याणकारिणी सैद्धातिक विचार-धाराको दर्शनका पुट देकर साहित्यिक रूप दिया। इन्द्र-भूति गौतम स्वामीकी विद्वत्ताके परिचायक ग्रथ या उनके मौलिक विचार सुरक्षित नही है। जैन-आगमोसे सतोष करना पडता है। आज भी नालन्दामें इन्द्रभूतिके गोत्रके सैकडो घर विद्यमान है, परन्तु जैन-समाजने सास्कृतिक महापुरुषकी स्मृति रक्षार्थ कुछ भी नही किया।

श्रमण भगवान् महावीरसे लगाकर १३वी तक नालदाकी जैन-दृष्टिसे क्या स्थिति रही ? इस कालमे जैन-सस्कृति वहाँपर किस रूपमे थी, यह जाननेके ऐतिहासिक साधन हमारे पास नही रहे, यह बडे ही खेदकी बात है।

हाँ, वहाँपर और मगधमे जो जैनमूर्तियाँ उपलब्ध होती है, उनपरसे अर्थात् उनकी निर्माण शैलीपरसे कल्पना अवश्य कर सकते है कि गुप्तकाल व तदुत्तरवर्ती युगमे वहाँपर या उसके निकट जैनोका वास था। ग्रन्थस्थ प्रमाण न मिलनेका एक कारण यह भी जान पडता है कि यहाँके मूल जैन तो आज धर्मसे विमुख हो गये है, वे केवल अपने कुछ गोत्रोके नाम ही सुरक्षित रख सके है। आचारमूलक जैन-सस्कृति आज उनके जीवनसे कोसो दूर है। मेरा तात्पर्य बिहारके सराकोसे है, जो श्रावकका भ्रष्ट रूप है। भाषा समयके साथ बदल सकती है, पर सस्कारोमे शीघ्र परिवर्तन होना कठिन है। मुझे सराकोके प्रदेशमे अधिक तो नही, पर थोडा-सा भ्रमण करनेका अवसर मिला है, उनके पूर्वजो द्वारा विनिर्मित जैनमदिर व मूर्तियाँ भी देखी है, उनपरसे मै इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि अधकारयुगीन जैन-इतिहासकी बहुमूल्य सामग्री, सराकोके धर्मपथसे हटते ही, उनके साथ नष्ट हो गई। इस परपराकी कडियाँ अब भी मिल सकती हैं। पर इसलिए सराक जाति द्वारा निर्मित स्थापत्योका, तात्कालिक लेखोका और उन लोगोको पार-

म्परिक उत्तराधिकारके रूपमे जो मौखिक या लिखित साहित्य प्राप्त हुआ है, उनका गभीर अध्ययन अनिवार्य है। जैनोने, उन्हे धर्मपरिवर्तनके लिए तो उत्प्रेरित किया, पर उनके (और विस्तृत दृष्टिकोणसे देखा जाय तो जैन सस्कृतिके) पुरातन कलावशेषोके क्रमिक इतिहास-शोधनपर तनिक भी ध्यान न दिया, जो जैन-सास्कृतिक इतिहासका एक बहुमूल्य अध्याय है। अस्तु

मै तो ऐसा मानता हूँ कि अभी हमने मगधके जैन-इतिहासपर ध्यान ही नही दिया, जबतक हम यह कार्य न करेगे, तबतक नालदा ही क्यो, हमारी मूल इतिहासकी कडियाँ ही अधकारमे रहेगी।

१२ वी शताब्दीतक नालदामे बौद्धोका विशेष प्रभाव था, अत. जैन क्षीणप्राय हो या उनका अस्तित्व नगण्य-सा रह गया हो तो आश्चर्य नही। उन दिनो **उद्दंडविहार**—(आजका "**बिहार शरीफ**") मे **महत्तियाणवंशीय** जैन थे। श्रमण परम्पराके परम उपासक और मुनिगण अपनी सास्कृतिक जन्मभूमिकी यात्रा करने अवश्य ही, दूर-दूरसे आते रहे होगे। ऐसे मुनिवरोमे सर्वप्रथम स्थान **खरतरगच्छीय** वाचनाचार्य **राजशेखर**का आता है, जो वि० स० १३५२ मे मगध-यात्रार्थ आये थे। योतो इसके पूर्ववर्ती साहित्यमे मगधके उल्लेख प्रचुर आते है पर वे सब आगमाश्रित है।

मध्यवर्ती उत्तरकालमे पाद-यात्राकी विशेष सुविधाके कारण, पश्चिम-भारतसे बहुसख्यक जैन-मुनि मगध-यात्रार्थ आते थे। वे अपने यात्रा-वर्णनको ऐतिहासिक दृष्टिसे लिपिबद्ध भी करते थे। ऐसे उल्लेख गुजराती साहित्यमे, तीर्थमालाके रूपमे उपलब्ध होते है।

श्री **राजशेखर**के बाद वि० स० १५६५मे **मुनि हंससोम** नालदा यात्रार्थ आये, तब वहाँपर १६ जिन मदिर थे[1]।

---

[1] **पच्छिम पोलई समोसरण वीरह वेघीजई**
नालंदई पाड़इं चउद चउमास सुणीजइं

विजयसागर[1] दो मन्दिरोकी सूचना देते है। जयविजय[2] १७ मन्दिरोकी स्थितिका उल्लेख करते है। आज वहाँ केवल एक मन्दिर पाया जाता है, जिसकी बनावट भी बहुत प्राचीन नही प्रतीत होती। **सौभाग्यविजयजी**[3] यहाँपर एक प्रासादकी चर्चा करते हुए गाँवमे एक जैनस्तूपका भी सूचन करते है। यह स्तूप वर्त्तमानमे उपलब्ध नही। प्राचीन जिन-मन्दिरोके अवशेष भी न तो मिलते हैं और न ऐसा स्थान ही दिखलाई पडता है, जिसके साथ जैन-मन्दिरकी कहानी जुडी हो। सौभाग्यविजयजी प्रतिमा-विहीन प्रासादका उल्लेख करते हैं।

वर्त्तमानमे एक मन्दिर है। उसमे जो जैन-प्रतिमाएँ हैं, उनका भारतीय जैन-मूर्त्ति-विधानकी दृष्टिसे बहुत बडा महत्त्व है। कारण कि भारतीय शिल्प-कला एव विशेषत मूर्त्ति-निर्माण कलामे मगधके कलाकार बहुत आगे रहे है। यहाँतक कि सम्पूर्ण भारतमे मागधीय कलाकारोकी अपनी स्वतन्त्र शैली थी। आज भी मगधकी मूर्त्तियाँ दूरसे पहचानी जा सकती है। श्रमण-सस्कृतिका केन्द्र मगधमे होनेके कारण कलाकारोने अपने सास्कृतिक उत्प्रेरक तत्त्वोको प्रेस्तर पर रेखाबद्ध किया। यद्यपि मगधमे जैन-मूर्त्तियोकी सख्या बौद्ध-धर्मापेक्षया बहुत कम है, पर जितनी भी उपलब्ध हैं, वे अन्य प्रान्तोमे प्राप्त जैन-प्रतिमाओकी तुलनामे कलाकी दृष्टिसे अपना स्वतत्र

हवडा लोक प्रसिद्ध ने वडगाम कहीजइ
सोलप्रासाद तिहाँ अछइ जिनबिम्ब नमीजइ
कल्याणक थूम पासइं अच्छइ ए मुनिवर यात्राखाणी,
ते युगतिइं स्युं जोईइं निरमालडी ए कीधी पापनी हाणि
प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, पृ० १७।

[1] प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० ९।

[2] प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० ३०-३१।

[3] प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० ९१।

स्थान रखती है। जैन और बौद्ध मूर्तियोका निर्माण कलाकारों द्वारा हुआ करता था। अत मगधकी मूर्तियोमे पारस्परिक प्रभाव परिकरके निर्माणमें बहुत पडा है। मूल प्रतिमापर तो कलाकारोका कृतित्व उतना नही झलकता, जितना परिकरके निर्माणमे। उदाहरणार्थ मगधकी जितनी भी बुद्ध-मूर्तियाँ पायी जाती है, उनमे अशोक, वृक्षकी पत्तियाँ, देव-दुन्दभि, गगन-विचरण, करते हुए पुष्प मालाधारी किन्नर-किन्नरियाँ पाये जाते है। बौद्ध मूर्ति-विज्ञानकी दृष्टिसे ये उपकरण नही होने चाहिए। वहाँ तो अशोक वृक्षके स्थानपर पीपलकी पत्तियाँ चाहिए, जो बोधि वृक्षका स्मरण दिला सके। अतिरिक्त दो उपकरण जैन मूर्ति-कलाकी बौद्ध मूर्ति-कलाको देन है। जैनोमे ये अष्टप्रातिहार्यके अन्तर्गत माने गये है, जबकि बौद्धोमे अष्टप्रातिहार्य जैसी कोई कल्पना विकसित हुई हो, इसका मुझे पता नही। अष्टप्रातिहार्यमे प्रभावलिका प्रयोग बौद्धोने बहुत किया है और वह भी कलाके साथ, गुप्त-कालीन बौद्ध-मूर्तियोमे प्रभावलीपर विविध आकृतिकी रेखाएँ मिलती है। मगधकी जैन-मूर्तियोके पृष्ठ भागमे दो स्तम्भोपर आधृत अर्द्ध गोलाकार कमान, तदुपरि दीपक-जैसा चिह्न पाया जाता है और मूर्तियाँ कमलासनपर खोदी जाती है। कही-कही निम्न भागमे कमलकी नालपर ही मूर्त्ति आधृत हो, ऐसे भाव एव कुछ मूर्त्तियोके पृष्ठ भागमे सांचीका द्वार भी पाया जाता है। ये सब बौद्ध मूर्त्ति-कलामे विकसित अलकरण है, जिनका व्यवहार जैन-कलाकारो द्वारा भी अपनी मूर्त्तियोमे हुआ है। नालन्दाकी शिखराकृति भी, जो वहाँकी मण्मुद्राओमे पायी जाती है, बौद्धोकी ही देन है। कुछ मूर्त्तियोमे आरती, दीपक, नैवेद्य, शख भी पाये जाते है। इस प्रकार एक ही देशमे एक ही शैलीके कलाकारो द्वारा दोनो धर्मोंकी मूर्त्तियाँ बननेके कारण पारस्परिक आदान-प्रदान कलात्मक दृष्टिसे हुआ है।

नालंदाकी जैन-मूर्तियां

प्राय यह कहा जाता है कि बौद्ध मूर्त्तिकलामे जितने आगे है, उतने ही

जैन पीछे है। परन्तु नालन्दाकी जैन-मूर्त्तियाँ उनकी इस धारणाको विपरीत सिद्ध करती है। इन मूर्त्तियोको गुप्तकालीन बौद्ध मूर्त्तियोकी तुलनामें आसानीसे रखा जा सकता है। मूर्त्तियोके शब्द-चित्रसे ही सतोष करना पडेगा। प्रयत्न करनेपर भी वहाँके कला-प्रिय (?) एक तंत्रीय व्यवस्थापककी आज्ञा फोटोके लिए प्राप्त न हो सकी।

(१) मदिरमें प्रवेश करते दाहिनी ओर एक आलेमें सप्तफणी डेढ़ फुटसे कमकी हीं पार्श्वनाथकी प्रतिमा अवस्थित है। उभय पार्श्वमें चमर-धारी पार्श्वद खडे है। निम्न भागमे चतुर्भुजी देवी, सभवत अधिठातृ होगी। अष्टप्रातिहार्य भी है।

(२) सामने अति श्याम पाषाणपर एक प्रतिमा है, जिसका शारीरिक गठन शिल्प-कलाकी दृष्टिसे अति उच्चकोटिका है। कलाकारने सम्पूर्ण शारीरिक अवयवोके निर्माणमे शैथिल्य नही आने दिया है। प्रतिमा पद्मासनस्थ होते हुए भी लम्बशरीरी प्रतीत होती है। मुखपर प्रशान्त भाव झलक रहे है। दोनो ओर इद्र कमलपत्रपर खडे है। कमल-नाल अलगसे बनायी गयी है। पार्श्वदोकी मुख-कान्ति बता रही है कि वे कितने सेवा-शुश्रूषा और भक्तिसे ओत-प्रोत है, मानो उनकी चित्त-वृत्तिका केन्द्र यह प्रकाश-पुज ही हो। प्रकाश वही है, जिसकी परिचर्यामे वे अपना जीवन दे रहे है। इन्द्रोके मस्तकका मुकुट अन्तिम गुप्त और प्रारम्भिक पाल-कालीन मुकुटकी स्मृति दिलाता है। गोल कर्ण-भूषण भी पाल-कालीनसे लगते हैं। कलाकारने प्रतिमाके निम्न भागको उभय ओर तीन उपभागोमें बाँट दिया है। प्रथम मध्यमे एक बालक, दूसरेमे भक्त करबद्ध भगवान्‌के चरणोमें श्रद्धाजलि दे रहा है, तीसरेमें ग्रास और मध्य भागमे मृगलाछन स्पष्ट है, जो शान्तिनाथकी प्रतिमाका सूचक है। दूसरी ओर प्रस्तर खिर गया है। ऊर्ध्व भागमे प्रतिमाका भामण्डल निरलकृत ही है, जिसपर मागधीय कलाका प्रभाव है। मस्तकपर छत्र है, जो अशोक वृक्षकी लताओंपर आधृत है। मस्तकके दोनो ओर इन्द्रको पुष्प-माला लिये उत्सुकतापूर्वक गगन-मार्गसे

आते हुए बताया गया है। जहाँपर इन्द्र खुदे हुए है, उस भागका कटाव उभरा हुआ है।

अब प्रश्न केवल इतना ही रह जाता है कि इस कमनीय कला-कृतिका निर्माणकाल क्या होगा ? न तो इसपर कोई निर्माण-सूचक लेख है और न बौद्ध-धर्मका 'ये धम्मा हेतुपभवा' मुद्रा लेख ही है, जिससे इसके निर्माणका कुछ अन्दाज लगाया जा सके, क्योकि बौद्ध-धर्मके व्यापक प्रचारका प्रभाव जैन और वैदिक शिल्पपर भी पड़ा था। बौद्ध-कालकी सभी मूर्त्तियोपर प्राय उपर्युक्त लेख खुदवाया जाता था। अस्तु, इस प्रतिमामे लाछन है। फिर भी इन्हे दसवी शतीके पूर्वकी कृति तो मानना ही पड़ेगा; क्योंकि इत. पूर्वकालीन प्रतिमाओमे कुछ एकको छोडकर शेष लछनविहीन है। जो भामण्डल है, वह बिल्कुल सादा है। यदि इसे अतिम गुप्तकालीन प्रतिमाओमे माने तो भी एक अडचन आती है। वह यह कि उन दिनो प्रभावलिके निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। बल्कि प्रभावली ही निर्माण-शतीकी सूचक होती है। अग्निकी ज्वालाएँ भामण्डलके चारो ओर बनायी जाती थी। मध्यमे प्रधान दीपक रहता था, जैसे कोई मशाल हो। गुप्त-कालीन या बादके जो अवशेष मिलते है, शायद ही कोई ऐसे हो, जिनमे प्रभावलि स्पष्ट न हो। इस मूर्त्तिको हमने दसवी और ११वी शती ईस्वीके मध्यकी कलाकृति माना है। काल-निर्णयमे आभूषण और पार्श्वदकी वेशभूषा सहायक सिद्ध हुई है। श्याम पाषाणपर पालिश बहुत परिश्रमसे की गयी है।

(३) इस मदिरमे मूलनायक ऋषभदेव है। मुखाकृति शारीरिक गठनकी अपेक्षा अधिक सुन्दर और उत्प्रेरक है। स्कन्ध प्रदेशपर केशावलि स्पष्ट है। वृषभका चिह्न तथा उसके पास ही भक्तगण अजलिबद्ध खडे है। जहाँपर पुष्प-माला धारण किये इन्द्र खडे है, वहाँ दोनो ओर हाथी इस प्रकार खोदे गये है, मानो मूर्त्तिका अभिषेक कर रहे हो। इसका निर्माण-काल १३ वी शतीके बाद और १२ वीके पूर्वका नही हो सकता।

(४) यह प्रतिमा सामनेकी पाचवी है। २॥ फुटकी है। सप्तफणी पार्श्वनाथकी है। निम्न-भागमे धर्मचक्र और हाथी है। यह प्रतिमा राजगृहके तृतीय पहाड़पर पायी जानेवाली पार्श्वनाथकी प्रतिमासे बहुत अशोंमें मिलती है। प्रेक्षकको कल्पना हो आती है कि दोनो एक ही कलाकारकी कृति तो नही है ? या राजगृहवाली प्रतिमाके आधारपर इसका निर्माण हुआ होगा। कारण कि शारीरिक गठनमे पर्याप्त अन्तर है।

(५) यह प्रतिमा आकार-प्रकारमे छोटी है और कलाकी दृष्टिसे भी सामान्य। धर्मचक्र सुन्दर है। पार्श्वभागमे दाहिने चार और बामें पाच और प्रतिमाएँ हैं जो नवग्रहकी है। निम्नस्थानमे एक लेख खुदा है, पर वह काफी बादका है।

मागधीय कलाकारोने जैन-मूर्त्ति-निर्माणमे जैन-सस्कृतिकी छोटी-से-छोटी बातोपर भी बहुत ध्यान दिया था। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। इन्द्रोके हाथमे जो चामर दिये है, वे चँवरी गायके पुच्छके न होकर गोटेके बने हुए है, जैसा कि लम्बी रेखाओसे ज्ञात होता है। आज भी दिगम्बर जैन-सम्प्रदायमे इसी प्रकारके चँवर व्यवहृत होते है। जैन-मन्दिरमे दादा श्री **जिनदत्तसूरिजी** महाराजके चरण भी विद्यमान है। विशाल धर्मशाला बनी हुई है, जो किसी जेलका स्मरण कराती है। व्यवस्थाके नामपर बुद्ध-देवका शून्यवाद छाया हुआ है। नालन्दामे एक दिगम्बर जैन-मन्दिर और धर्मशाला भी है। प्रयत्न करनेपर भी हम दिगम्बर जैन-मन्दिरका दर्शन न कर सके। अपराध यही था कि हम श्वेताम्बर मुनि थे !

म्यूजियम—नालदासे प्राप्त कला कृतियाँ व वस्तुओंका सग्रह म्यूजियममे सुरक्षित है। कुछ जैन-मूर्तियाँ भी है। नालदामे विकसित सभ्यता और सस्कृतिपर, इन कृतियोसे अच्छा प्रकाश पड़ता है। कतिपय ग्रन्थ भी सुरक्षित हैं। यात्रियोके आरामके लिए भवन भी है।

विचित्र अनुभव !

नालन्दामे तीन दिन रहकर उसके सम्बन्धमे जितना हम लोग जान सके, उसे उपर्युक्त पक्तियोमे लिपिबद्ध करनेका प्रयास किया गया है। यहाँपर हमे पुरातत्त्वकी सामग्रीके सम्बन्धमे ऐसे विचित्र अनुभव हुए, जिनसे हमे बडा दुःख और क्षोभ हुआ। बात यह है कि जिनकी नालन्दाके पास जमीने है, वे कुछ लोगोको कतिपय वर्षोके लिए पट्टा लिख देते है। ये पट्टेदार उक्त अवधिमे खुदाई कर सारी सामग्री उडा ले जाते हैं। उनके द्वारा अवैज्ञानिक ढगसे खुदाई करनेसे एक तो बहुमूल्य पुरातत्त्वकी सामग्री नष्ट हो जाती है, दूसरे जो शेष रहती है, उसको भी अधिकाश रुपयोके लोभमे वे नष्ट कर देते है। अत इस प्रकार देशका बडा अहित होता है। ऐसे एक व्यापारीको तो मै व्यक्तिगत रूपसे जानता हूँ, जिनके यहाँसे छकडो भर सामग्री मिल सकती है। ऐसी बहुत-सी-सामग्री विदेशोमे चली गई है। आश्चर्य तो इस बातसे भी होता है कि यहाँके अधिकारी इसपर कुछ ध्यान नही देते। आस-पासके गाँवोमे खानातलाशी लेनेपर शायद ही कोई ऐसा मकान हो, जिसमे कुछ पुरातत्त्वकी सामग्री छिपी न मिले। ऐसी हालतमे पुरातत्त्वके विद्यार्थियोको बडी कठिनाई होती है, क्योकि सामग्री व्यक्तिगत सग्रहोमे बँट जाती है, जिसतक सबकी पहुँच नही हो सकती।

अत केन्द्रीय सरकारके पुरातत्त्व विभागसे हमारा साग्रह अनुरोध है कि वह इस सम्बन्धमे आवश्यक कार्रवाई करके ऐसी कलाकृतियोका उद्धार करे।

५ अप्रैल १९४९ ई०

विन्ध्याचल-यात्रा

यह स्थान **मिर्जापुरके** निकट, गंगा-तीरपर अवस्थित है। **विन्ध्याचल** कस्बेमे अष्टभुजाका एक मन्दिर व समीपकी पहाड़ीपर **विन्ध्य-वासिनीका** मन्दिर बना हुआ है। तान्त्रिक व पौराणिक साहित्यमे जो उल्लेख आये है, उनसे यह ज्ञात होता है कि यह स्थान शक्तिके सुप्रसिद्ध ५२ पीठोमेंसे एक है। **कथासरित्सागरसे** फलित होता है कि किसी समय यह तीर्थ-यात्राका बहुत बड़ा स्थान था। इसे तान्त्रिक पीठ कबसे माना जाने लगा? इसका पूर्व रूप क्या था? ये दो प्रश्न जिज्ञासुके मनमे उठे बिना न रहेंगे। इनका उत्तर आगे दिया जा रहा है।

तान्त्रिकोका और शक्ति-पूजामे विश्वास करनेवालोका यह तीर्थ ऐतिहासिक दृष्टिसे भी बहुत महत्त्व रखता है। स्व० डाक्टर **काशीप्रसादजी जायसवालका** मन्तव्य है कि **'अन्धकार युगीन भारत'**की **कंतितका** अस्तित्व यहीपर था। वे लिखते है "बघेलखडवाली सडकसे जो यात्री गगाकी ओर चलते है, वे **कंतित**[1] के उस पुराने क़िलेके पास आकर पहुँचते हैं जो मिर्जापुर और विन्ध्याचल कस्बोके बीचमे है। जान पडता है कि यह कतित वही है, जिसे विष्णुकी "कान्तिपुरी" कहा गया है। इस किलेके पत्थरके खभेके एक टुकडेपर मैंने एक बार आधुनिक देवनागरीमे 'कान्ति' लिखा हुआ देखा था। यह गगाके किनारे एक बहुत बडा और प्राय. एक मील लम्बा मिट्टीका किला है, जिसमे एक बडी सीढीनुमा दीवार है और जिसमे कई जगह गुप्तकालकी बनी पत्थरकी मूर्तियाँ या उनके टुकडे आदि पाये जाते हैं। यह क़िला आजकल कतितके राजाओकी जमीदारीमें है।

---

[1] आ० स० इं० २१, पृष्ठ १०८की पादटिप्पणी।

जो कन्नौज और बनारसके गाहडवाल राजाओंके वंशज हैं। मुसलमानोंके समयमें यह किला नष्ट कर दिया गया था और तब यहाँके राजा उठकर पासकी पहाड़ियोंके 'विजयगढ़' और 'माडा' नामक स्थानोंमें चले गये थे, जहाँ अबतक दो शाखाएँ रहती है। कतितके लोग[1] कहा करते है कि गहड़वालोंसे पहिले यह किला भर राजाओंका था। ऐसा जान पड़ता है कि यह 'भर' शब्द उसी भार-शिव शब्दका अपभ्रंश है और इसका मतलब उस भर जातिसे नही है, जिसके मिरज़ापुर और विन्ध्याचलमें शासन होनेका कोई प्रमाण नही मिलता[2]।"

"कतित[3] है भी ऐसे स्थानपर बसा हुआ कि भार-शिवोंके इतिहासके साथ उसका सम्बन्ध बहुत ही उपयुक्त रूपसे बैठ जाता है, क्योंकि भार-शिव राजा बघेलखण्डसे चलकर गंगा-तटपर पहुँचे[4] थे।" जायसवालजीके दोनों उद्धरण इसलिए उद्धृत किये है कि विन्ध्याचलकी भूमिकी प्राचीनता व ऐतिहासिकता समझमें आ सके।

शिवपुराण और **देवीभागवत** तथा अन्य, इस स्थानसे सम्बन्धित जितने भी तान्त्रिक व पौराणिक उल्लेख उपलब्ध होते है, वे सब एक स्वरसे इस विन्ध्याचलको हिन्दू तीर्थ घोषित करते है। **स्व० जायसवालजी** द्वारा उपर्युक्त पंक्तियोंमें मूर्त्तियोंकी चर्चा की है वे भी हिन्दू-धर्माश्रित शिल्प-

---

[1]यहाँ प्रायः ७ फुट लम्बी सूर्यकी मूर्ति है जो स्पष्ट रूपसे गुप्तकालकी जान पड़ती है। आजकल यह क़िलेके फाटकके रक्षक भैरवके रूपमें पूजी जाती है।

[2]काशीप्रसाद जायसवाल—अंधकार-युगीन भारत, पृष्ठ ६०-६१।

[3]यूलका मत है कि टालेमीने जिसे किडिया कहा है, वह आजकलका मिरज़ापुर ही है। देखो मैक् क्रिंडलका Ptolemy, पृ० १३४।

[4]अंधकार युगीन भारत, पृष्ठ ६३।

कृतियाँ है। आज भी विन्ध्याचलका तान्त्रिक महत्त्व उतना ही है, जितना कि कुछ शताब्दियो पूर्व था।

दिसम्बर १९५०मे हमे परमपूज्य उपाध्याय **मुनिवर श्री सुखसागरजी** व **मुनि श्री मंगलसागरजी** महाराजके साथ कुछ दिन मिर्जापुरमे रहकर वर्णित तीर्थस्थान व निकटवर्ती ग्रामो, पहाडियो एव खण्डहरोमे पाये जानेवाले शिल्पावशेषोका अन्वेषणात्मक दृष्टिसे निरीक्षण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

यहाँपर जो खडित अवशेष पाये जाते है, उनमेसे अधिकतर शैव सम्प्रदायसे सबद्ध है, पर कलाकी दृष्टिसे बहुत प्राचीन नही जान पडते। बहुत कम लोग जानते है कि तान्त्रित शक्ति—पीठके पूर्वका विन्ध्याचल पुनीत जैन-तीर्थके रूपमे विख्यात था। अत जैन सस्कृतिकी दृष्टिसे इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। वहाँपर जैन-पुरातत्त्वके अवशेष इतस्तत पाये जाते है। साथ ही तत्समीपवर्ती छह मील इर्द-गिर्द भू-भागपर भी जैनाश्रित शिल्पकृतियाँ छाई हुई है। उन सभीसे और भी स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल और गहड़वालो तक निश्चित रूपसे यहाँ जैन-यात्रियोका आवागमन जारी था।

ता० १२-१२-४९ को मुनि **श्रीमंगलसागरजी** महाराज और बाबू **घेवरचंदजी** जैन और बिहारीलाल (आजमगढ)के साथ मैंने मिर्जापुरसे विंध्याचलकी ओर प्रस्थान किया। मिर्जापुरसे यह स्थान ४ मीलके फासलेपर है। पक्का मार्ग बना हुआ है। तीर्थकी सीमामें पैर रखते ही पडे लोग आ घेरते है। हमारे साथ सरकारी व्यवस्था होनेसे हम लोग तो इन लोगोसे बचे रहे। मार्गदर्शकके रूपमे एक मुख्य पडा बिना किसी स्वार्थके हमारे साथ हो लिया और उसने लाखो वर्षोका इतिहास कहना आरम्भ किया। हम लोगोने भी श्रद्धा न होते हुए भी कर्णद्वारको खुला ही रखा। यद्यपि पहिले विन्ध्यवासिनीका मंदिर पडता है, परन्तु हम लोग सीधे पहाडकी ओर चले गये। मार्गमे हनुमानजीका एक मदिर पडता है। इसके आगे बहुत-सी कला-कृतियोके भग्नावशेष

पडे थे, मुख्यत.वे जैन प्रतिमाएँ ही थी । जब हम लोगोने इसपर गौर करना शुरू किया तो पडाने कहा, "आप लोग इन नगे देवोंकी मूर्तिमे ही उलझ गये इन्हे तो हम लोगोने तोडताडके पुराने मदिरोसे अलग कर दिया है।" उस समय हमने भी उसकी बात मान ली, और मनमे सोचा कि पडा हमको जैन नही समझ रहा है। कारण कि पडोको यदि पता लग जाता कि हम भी जैन है तो सभवत वहाँकी प्रेक्षणीय वस्तुओके दर्शन भी न कर पाते। लोग जानते है कि जैनोका किसी समय आधिपत्य था। पडाने बादमे हमे बहुत-सी बाते बताई, जिनमे एक यह भी थी कि जैनी लोग तो बडे हत्यारे होते हे, गौ-हत्या-तक करते हैं। यदि गौ न मिले तो आटेकी बनाकर समाप्त करते हैं। हम लोग मन ही मन उसके इस अन्वेषणपर हँस रहे थे, पर उस समय हँसी ओठोपर कैसे ला सकते थे। विचार करनेकी बात है कि सास्कृतिक विद्वेषकी विषाक्त भावनाएँ किस प्रकार इन लोगोके मनमे बैठा दी गई है। उसका यह एक उदाहरण है। अस्तु !

जैन गुफा—मध्याह्नमे हम लोग मुख्य मन्दिरमे गये, कुछ सीढियोको पारकर जाना पडता है। यहाँसे प्राकृतिक सौदर्यका आनन्द भी लिया जा सकता है। सौभाग्यसे उस दिन आकाशमें काले बादल मँडरा रहे थे, अत सूर्यका प्रभाव नहीवत् था। देवीका मन्दिर बाहरसे गुफाके समान प्रतीत होता है। दो द्वार जानेके है। भीतर काफी अधकार है। तैलके दीपक अधकारको दूर करनेमे असमर्थ थे। हम यहाँपर श्रद्धाके कारण दर्शनार्थ तो गये नहीं थे, हमे तो सुनी-सुनाई बातोका साक्षात्कार करना था। अत. साथवाले बाबू **घेवरचंदने** प्रकाशदडका उपयोग किया, तब कहीं दीवारमे उत्कीर्णित अष्टप्रतिहार्ययुक्त वीतराग परमात्माकी प्रतिमा पद्मासनस्थ दृष्टिगोचर हुई। प्रतिमा बडी सुन्दर और भावपूर्ण है। प्रतिदिनके तैलस्नानसे चमक भी काफी थी, यह अच्छा हुआ कि सिन्दूरसे विलेपित नही की गई थी। मुख्य देवीकी प्रतिमाको देखनेसे ज्ञात हुआ कि वस्तुत यह कोई मौलिक रूपसे देवीकी मूर्ति नही है, पर किसी प्राचीन मूर्तिमें कुछ परिवर्तन करके

देवीका रूप दिया गया है। यद्यपि वस्त्राच्छादित होनेसे स्पष्ट कहना कठिन है कि भीतरका स्वरूप कैसा रहा होगा। पुजारी किवाड बद करके प्रक्षालन करता है, अत. उसे देखना भी सभव नही। हम लोगोने नीचेका वस्त्र हटाकर देखनेकी कोशिश की, परन्तु असफल रहे। हमे ऐसा लगा कि जिनमूर्ति जो दायें भागमे है, विस्तृत परिकरका उपाग है। ऊपर नीचेके अलंकरण प्राय नष्ट हो चुके है। इससे इतना तो सिद्ध ही है कि किसी समय यह जैन-गुफा-मदिर रहे होगे।

सीताकुंडकी ओर

अष्टभुजाके मदिरसे हम लोग सीढियाँ उतरकर सीताकुडकी ओर चले। सीढियोके पास ही छोटा-सा गड्ढा है, जो शायद कूप रहा होगा। इसके किनारे जैन-शैलीके चरणपादुका अवस्थित है, जो उपेक्षित-से पड़े है। इतना ही अच्छा है किसी ऋषिके नामसे बँधे नही हैं। १०० क़दम चलनेपर एक मदिर दिखलाई पडता है, जो मार्गसे पर्याप्त नीचे है। सामने हनुमानजीकी मूर्ति है। इसीके निकट छोटे-छोटे अवशेषोके टुकड़े बिखरे पडे है। शायद किसी मदिरके स्तभके रहे होगे। मदिरके आगे एक अच्छा-सा चौक है। मदिरके आजू-बाजू दो कमरे है। लगता है पूर्वकालमें शिवलिग रहे होगे। मध्यभागके कमरेमे एक खडित प्रतिमा है, तथापि अवशिष्ट अश निर्णय करनेमें सहायता देता है। मूर्तिका वाहन बिल्कुल अस्पष्ट है। प्रतिमा चतुर्भुजी है। दाँये ऊपरवाले हाथमे कमल पुष्प है। कमलको थामनेमे अँगुलिकाओका मुडाव स्वाभाविक है। निम्न हस्त खडित है। बाँये ऊपरवाले हाथमें पुस्तिका चिह्नित है, निम्न हाथमे जो चिह्न है उसे नरमुड मान लिया गया था। परन्तु वस्तुत वह कमल पुष्पका गुच्छा है। मस्तकपर नागफने है, मध्यभागका कटाव आकर्षक है। देव-देवियाँ जैन-परिकरोके समान है। केश-विन्यास प्रतिस्पर्द्धाकी वस्तु है। कर्णमे केयूर, मुखपर सौम्य भावोका अकन, ओठोपर स्मित हास्य, कठ हँसुली, मालासे

विभूषित है। कटिप्रदेश तो बहुत ही स्वाभाविक है। नागावलीकी सिकुडन सौंदर्यमे और भी अभिवृद्धि करती है। साथवाले पंडेसे ज्ञात हुआ कि यह पद्मा देवी है। यद्यपि उपर्युक्त पक्तियोमे वर्णित लक्षण पद्मा-पद्मावतीपर लागू नही होते। परन्तु वह पार्श्वनाथजीकी अधिष्ठातृ होनेके कारण उसका इस स्थानसे सम्बन्ध स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस गुफा समान मदिरके पार्श्वमे भी एक छोटी-सी गुफा है, जिसमे एक व्यक्ति भी कठिनतासे लेट सकता है। सीताकुड इमीके ऊपर है। स्वाभाविक पानीका स्रोत है, नाम दे रखा है **सीताकुंड**।

कालीखोह—यहीसे बहुत-सी सीढियाँ चढकर ऊपरकी ओर जाना पडता है, वह मार्ग 'कालिकुड'की ओर जाता है। मार्गमे आवास और छोटे-मोटे मदिर भी पडते है। गेरुआ तालाव भी इस बीच पडता है। आम जनताका ख्याल है कि इसके इर्द-गिर्द कुछ फासलेपर महात्माओकी कुटियाँ हैं, जिनमें वे गुप्त रूपसे तप करते है। इधरसे कुछ दूर जानेपर मार्गमे व्यवस्थित जमाये हुए पत्थरोका ढेर दिखा। कोई भी यात्री यहाँसे गुजरता है तो वह पाषाणका गृह बनाकर चल देता है। कहा जाता है कि यहाँपर जो गृह निर्माण करता है, उसे अगले जन्ममे यहीपर—माताके चरणोमे रहनेकी सुविधा हो जाती है।

सीताकुडसे हमे काफी ऊँचे चढना पडा था। अब यहाँ उतरना पडा। हम लोग रूखे पहाड प्रदेशको छोडकर हरे-भरे वृक्ष और लताओसे आवेष्ठित प्रदेशमे पहुँच गये। इस स्थानको लोग **कालीखोह** कहते है। सचमुचमे वह 'खोह' ही है। बडी गहरी भूमि है। नीचे भैरोका स्थान है जहाँपर एक छिद्र है। भूतोको लोग इसी छिद्रमे छोड जाते है। यहीपर एक पत्थरका गडढा है जिसपर **कालीखोह** लिखा है। भैरोजीके निकटसे एक पगदडी जाती है—कालीखोहकी ओर। आधा फर्लांग चलना पड़ता है। मार्ग बडा सँकरा है। सघन वृक्ष भी पर्याप्त हैं। प्रकृतिका सौदर्य एक-एक लता-पर बिखरा पड़ा है। यहाँपर भी पाषाण-शिलासे एक-एक बूद जल गिरता

है। कृत्रिम कुण्ड भी है। यही स्थान भगवान् पार्श्वनाथजीके नामसे सम्बन्धित होना चाहिए। **कलिकुण्ड** तीर्थकी स्थापना और वनहस्ती द्वारा उपसर्गकी जो घटना आती है, वह इसी पर्वतपर घटित होनी चाहिए। नाममे भले ही बाह्य विभिन्नता लगती हो, पर अर्थपर ध्यान देनेसे मूल बात-स्थानमे अन्तर नही पड़ता है। "काली खोह" अभी कहते है। सम्भव है कालान्तरसे कलिका **कालीखोह** हो गया हो, कुण्डस्वरूप झरना तो आज भी है ही। और 'खोह' पहाड़ियोके गहरे स्थानोको कहते है। आज भी चारो ओर ४-५ फर्लांग भयकर झाडी है। यहाँपर यद्यपि प्राचीन स्थान नही दिखलाई पडता। केवल कालिकाका मन्दिरमात्र है। इसीसे 'कलिकुण्ड'का 'कालीकुण्ड' या 'कालीखोह' नाम बन गया है। वस्तुत जैनधर्मके तेईसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ भगवान्का स्मृति स्वरूप यह स्थान होना चाहिए। इसके आजू-बाजू और भी गम्भीरताके साथ अन्वेषण किया जाना चाहिए।

शामको भैरोकुण्ड देखनेको गये, जहाँ पानीका झरना है और कतिपय बगाली तान्त्रिक वहाँ रहते थे। दूसरे दिन पहाडसे चलकर अष्टभुजाका मन्दिर देखा। मन्दिरमे प्रवेश करते ही सडे-गले मासकी दुर्गन्धिसे मन उद्विग्न हो जाता है, नाक फटने लगती है। आश्चर्य होता है उन उपासकोपर, जो मानवताका बलिदान देकर पाशविक वृत्तिसे उत्प्रेरित होकर देवीकी पूजा करते है। मन्दिरके सामनेवाले मन्दिरोमे एक हजार वर्षकी खडित मूर्तियाँ रखी हुई है। देवीके मुख्यमन्दिरमे बडा ही अन्धकार छाया हुआ था। एक पण्डा अखण्ड ज्योतिके नामपर एक दीपक लिये खडा था। इससे केवल देवीके मुखमात्रका हल्का आभास होता था। हम लोगोने दीपकोके सहारे मूर्त्तिके अगोपाग व लक्षण देखनेका प्रयास किया, तो सब पण्डे बिगड पडे और कहने लगे कि देवीके इस मुख्य मन्दिरमे अखण्ड-ज्योतिको छोडकर दूसरा दीपक कभी-भी नही जलाया जा सकता। पण्डोको विदित हो चुका था कि हम लोग जैन-मुनि है, पर अखीरमे वहाँके पुलिस इन्स्पेक्टर श्री **राणाजंगबहादुर**के हस्तक्षेप करनेपर केवल ५ मिनटके लिए घृतके एक

दीपकसे निरीक्षण करने दिया, पर देवीका शरीर वस्त्रावृत्त होनेसे जो हमें जानना था न जान सके। केवल इतना ही ज्ञात हो सका कि देवीके मस्तक-पर पद्मासनस्थ ध्वस्त आकृति है। इससे इनका जैनत्व सिद्ध है।

उपर्युक्त मन्दिरके पाससे एक मार्ग गंगाघाटकी ओर जाता है। मार्गमें कहीं-कहीं पुरातन अवशेषोंके साथ जैन-मूर्तियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। घाटके निकट ही, बाँई ओर एक व्यायामशालाके सामने तीन विशाल जिन मूर्तियाँ औंधी रखी हुई थीं। जब शिलाको हटवाकर देखा तो खड्गासन युक्त तीन जिन-प्रतिमाएँ ज्ञात हुईं। यद्यपि निर्माण-कालसूचक कोई लेख तो खुदा न था, पर मूर्तियोंकी भव्य आकर्षक मुखमुद्रा, घुंघराले बाल, कानों-तक खिंची हुई भौंहे व कमललोचन, तीक्ष्ण नासिका आदि लक्षणोंसे इसे गुप्त कालमें, रखनेमें हमें संकोच नहीं होता। मूर्तियोंकी प्रभावली हमारी उपर्युक्त कल्पनाको और भी पुष्ट करती है। प्रभावलीमें विविध जातिके बेलबूटोंका अंकन, विशेषतः गुप्तकालीन मूर्तियोंमें ही देखा जाता है। घाटपर पीपल वृक्षके निम्नभागमें बहुसंख्यक प्रस्तरावशेष पड़े हैं। कुछ-एकको तो वृक्ष-मूलने दृढ़ताके साथ ऐसा जकड़ रखा है कि, बिना वृक्षमूलको समाप्त किये उनकी उपलब्धि असम्भव है। यहाँपर हमें अपने जीवनमें प्रथम बार ही जैन-मूर्तिके विशाल परिकरमें बाहुबली स्वामीकी मूर्तिका अंकन देखनेको मिला और बादमें विन्ध्यप्रदेश व उसके निकटवर्ती महाकोसलसे प्राप्त जिन-मूर्तियोंमें।

स्वर्गस्थ **काशीप्रसादजी** जायसवालने जिस मिट्टीके दुर्गका उल्लेख किया है और उसमें प्राचीन मूर्तिएँ होना बतलाया है, इस उल्लेखके आधार-पर हम लोग वहाँ गये, पर हमें विशेष सफलता न मिली। किलेके निम्न-भागमें बहुत बड़ा पत्थरोंका ढेर दिखा। पर वह ऐसे खतरनाक स्थान पर था कि बिना नौकाका सहारा लिये, वहाँ पहुँचना असम्भव था।

डाक्टर फुहररके वृत्तान्तसे विदित हुआ कि विन्ध्याचलसे लगभग ३ मील दूर शिवपुर ग्राम है। वहाँके रामेश्वरनाथ-मन्दिरमें खंडित मूर्तियाँ

है। उनमे एक श्री त्रिशलादेवी और भगवान् महावीरकी भी मूर्ति है। एक स्त्रीके शरीराकार पूर्ण मूर्ति एक सिहासनपर पुत्रको गोदमे लिये बैठी है—५ फुट २ इच ऊँची व ३ फुट ८ इचतक चौडी है, व ६ फुट ८ इच मोटी है। दाहिनी भुजा खडित है। बाई भुजामे पुत्र है। सिहासनके नीचे सिह और उसके हरएक ओर सात मुसाहिब है—२ उडते हुए पांच खड़े हुए है—पीछे बडा वृक्ष है। यहाँके लोग इसको शंकटा देवी कहते[1] है"।

उपर्युक्त वर्णित शकटादेवी जैनोकी अम्बिका ही होना चाहिए। डाक्टर साहबने जो वर्णन किया है वह पूर्णतया अम्बिकापर ही चरितार्थ होता है। सिह, अम्बिकाका वाहन है। गोदमे बैठे बालक उसके पुत्र है। पीछेके ओरका वृक्ष आमका ही होना चाहिए। क्योकि इस प्रकारकी मूर्तियोका प्रचलन युक्त प्रान्तमे, कुशाण-कालमे भी था। जैसा कि मथुरा और कोशाम्बीकी खुदाईसे प्राप्त मूर्तियोसे सिद्ध है। यह परम्परा विन्ध्यप्रदेश होते हुए महाकोसलतक फैली और तेरहवी शताब्दी तक इसका अस्तित्व मिलता है।

विन्ध्याचलके निकटवर्ती ग्राम एव पहाडियोमे भ्रमण करते हुए कई जिन-मूर्तियाँ, अन्य अविशेषोके साथ दृष्टिगोचर हुई, पर साधनोके अभावमे हम उनके नोट न ले सके।

इतने विवेचनके बाद यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि किसी समय विन्ध्याचल जैन-संस्कृतिका प्रधान स्थान अवश्य ही रहा होगा। इसके क्रमिक इतिहासपर प्रकाश डाल सके, ऐसे ग्रन्थस्थ उल्लेख व शिलोत्कीर्ण लिपियाँ आज हमारे सम्मुख नही है, पर जो कुछ ऐतिहासिक उल्लेख प्राप्त

---

[1] संयुक्तप्रान्तके प्राचीन जैन-स्मारक पृ० ५९-६०।

सिवनी (मध्यप्रदेश)से १० मील "पुसेरा"में नाककटी एक जैन-मूर्ति है, जिसे लोग "नकटीदेवी" मानते हैं। अन्यत्र भी पुरातन अवशेष ग़लत ढंगसे पूजे जाते हैं।

होते हैं और वहाँ जैन-संस्कृतिसे सम्बद्ध जो कला-कृतियाँ पायी जाती है, उनसे हमारा मार्ग आंशिक रूपमे स्पष्ट हो जाता है।

जैनसाहित्यमे भगवान् पार्श्वनाथकी जीवन-घटनाके साथ '**कलि-कुण्ड तीर्थ**'की स्थापनाका उल्लेख जुडा हुआ है। आचार्य **श्री जिनप्रभ-सूरिजी** इस तीर्थकी घटनाका स्थान अग जनपदान्तर्गत चम्पाके निकट कादम्बरी अटवी मानते हैं। वहाँ '**कली**' नामक पर्वत और उसके अधोभागमे '**कुण्ड**' नामक सरोवर था। वही यूथाधिपति महिधर हाथी हुआ, आदि आदि[1]।

डॉ० हीरालालजी जैनका मन्तव्य है कि कलिकुण्ड तीर्थ दक्षिणमे होना चाहिए। इसके समर्थनमें वे हरिषेनाचार्यकृत कथाकोष व करकण्डुचरित्रके उल्लेख उपस्थित करते है।[2]

परन्तु हमारा अनुमान है कि विन्ध्याचलपर जो स्थान कालीखोहके नामसे विख्यात है, वह कलिकुण्डका ही अपभ्रंश रूप होना चाहिए, क्योंकि वहाँपर निर्मित कालीका मन्दिर बहुत प्राचीन नही है। पर वह आज भी ऐसा एकान्त स्थान है कि (जबकि उन दिनो तो यह स्थान सापेक्षत और भी गुप्त समझा जाता रहा होगा।) तान्त्रिकोको सहज ही आकृष्ट कर सकता है। हुआ भी ऐसा ही जान पडता है। 'कलि कुण्डसे' '**कालिकुण्ड**' हो जाना अस्वाभाविक नही है। गुफास्थित पद्मावतीकी मूर्ति भी इस बातका समर्थन करती है कि भगवान् पार्श्वनाथका सम्बन्ध किसी न किसी रूपमे, विन्ध्याचलसे रहा है।

---

[1] **अगजणवए करकण्डु निवपालिज्जमाणाए चंपानमरीए नाइदूरे कायंबरीनामअडवी हुत्था। तत्थांकलीनामपव्वओ। तस्स अहो भूमीए कुंडं नाम सरवरं। तत्थ जूहाहिवई महिहरो नाम हत्थी हुत्था।**

विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ २६।

[2] **जैन-सिद्धान्त-भास्कर, वर्ष ६, किरण १, पृष्ठ ६२-६३।**

अष्टभुजा गुफाके पृष्ट भागमे जिस चरणका उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियोंमें हुआ है वह जैन शैलीके ही हैं और वह नवीन भी नही जान पडते। बहुत सम्भव है कि वह विन्ध्याचलके ही किसी मन्दिरमे रहे होंगे और परिवर्तन-की धुनिमे उस स्थानपर साम्प्रदायिक चिह्न स्थापित कर इसे उपेक्षित रूपसे कूपके ऊपर रख दिया हो तो आश्चर्य नही।

अष्टभुजामे जो जिन-मूर्त्ति खुदी हुई हैं, उसे देखनेसे मुझे तो ऐसा लगा कि वह मूर्त्ति स्वतन्त्र जिन-प्रतिमा न होकर बहुत बडे परिकरका एक अंश-मात्र है। संभव है बाँई ओर भी परिकरका भाग अवश्य ही रहा होगा। वर्णित मूर्त्तिको पण्डे लोगोने 'मार्कण्डेय' ऋषिकी मूर्त्ति घोषित कर रखा है। उन बेचारोको क्या पता कि किसी सास्कृतिक कला-कृतिको किसी व्यक्ति-विशेषके साथ इस प्रकार सम्बन्ध नही जोडा जा सकता। जैन-मूर्त्ति-विधानको छोडकर 'पद्मासन'का अस्तित्त्व अन्यत्र कही भी न मिलेगा। यदि मिले तो भी जैन-प्रभाव समझना चाहिए। गुफा-का निर्माण कब हुआ होगा ? यह एक समस्या है। हमारा अनुमान है कि गुफा प्राचीन है। जैन गुफाओका निर्माणकाल मौर्यकालसे लगाकर राष्ट्रकूट कालतक गिना जाता है। इस बीचमे यानी गुप्तोके पूर्व इसका निर्माण हुआ होगा, क्योकि जैनोके निर्युक्ति विषयक साहित्य तथा तात्का-लिक कथात्मक ग्रन्थोमे विन्ध्याचलका जैनदृष्टिसे विशद् वर्णन, इस बातका परिचायक है कि तबतक वहाँ जैन प्रभाव था, परन्तु तान्त्रिकोने वहाँ कब प्रभाव जमाया ? निश्चित नही कहा जा सकता। भारतीय तान्त्रिक परम्पराके क्रमिक इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे ज्ञात होता है कि गुप्तकालमे तान्त्रित-परम्परा विकसित हो चुकी थी। तदुत्तरवर्ती संस्कृत-साहित्यके नाटक व कथात्मक ग्रन्थोमे कापालिकोका वर्णन आता है। सम्भव है तान्त्रिकोंके बढते हुए प्रभावके कारण जैनी अपने इस स्थानको खो चुके हों। परन्तु विन्ध्यप्रदेशके इतिहासको देखनेसे तो ऐसा लगता है कि आठवी शतीमे वहाँ तन्त्र परम्पराकी वाम-साधना होती थी। यह प्रवाह उत्तर ही से

दक्षिणकी ओर बहा होगा। इसमे विन्ध्याचलका भी अन्तर्भाव हो जाता है। परन्तु जैन इतिहासके साधनोका अध्ययन करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि चौदहवी शताब्दीतक तो वह जैन-तीर्थके रूपमे अवश्य ही प्रसिद्ध था। आचार्य श्री जिनप्रभसूरिजीके 'विविधतीर्थ कल्प'मे विन्ध्याचल विषयक जो उल्लेख आये है वे इस प्रकार है—

"विन्ध्याद्रौ मलयगिरौ च श्रीश्रेयांसः"[१] "विन्ध्याद्रौ श्रीगुप्तः।"[२]

उपर्युक्त उल्लेखसे सिद्ध है कि विक्रमकी चौदहवी शताब्दीमे वहाँ श्रेयांशनाथका मन्दिर या बिम्ब रहा होगा। इसीकालका जैन स्तुति-स्तोत्र विषयक साहित्यमे विन्ध्याचलका नाम लेकर वहाँके जिन-बिम्बोको नमस्कार किया गया है, पर उत्तरवर्ती साहित्यमे न तो विन्ध्याचलका उल्लेख है एव न सोलहवी-सत्रहवी शताब्दीकी तीर्थ मालाओमे ही विन्ध्याचलका उल्लेख है। मुझे तो उनमे उल्लेख न होनेका यही कारण दिखता है कि जैन-मुनियोका आवागमन अधिकतर आगराकी ओरसे ही होता रहा। महाकोसल और विन्ध्य प्रदेशमे विचरते हुए यदि मगधके लिए जैन-मुनि प्रयाण करते, तो मिर्जापुर बीचमे पडता और विन्ध्याचलका प्रासगिक उल्लेख हो जाता। आजके सुविधाप्राप्त युगमे भी उपर्युक्त मार्ग बडा कठिन है, तब उस युगकी बात ही क्या कही जाय।

चौदहवी शताब्दीके बाद ही जैनोके अधिकारसे विन्ध्याचल निकल गया जान पडता है, क्योकि सूचित समय बादके ऐतिहासिक प्रमाण नही बात् मिलते है। उपर्युक्त पक्तियोमे मैने जिन अनुमानोका उल्लेख किया है, आशा है विज्ञजन इसपर अधिक प्रकाश डाल, एक विलुप्त तीर्थको प्रकाशमें लावेगे।

यहाँपर बिखरे हुए अवशेषोको, कोई भी, कभी भी ले जा सकता था। सभव है इस डकैतीके शिकार जैन-अवशेष भी हुए हो। कुछ वर्ष पूर्व **मौलाना**

---

[१] **विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ८५।**

[२] **विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ८६।**

आज़ाद, स्वास्थ्य-लाभार्थ विन्ध्याचल रहे थे, उन्होने सास्कृतिक तस्करोकी दृष्टिसे बचानेके लिए कुछ अवशेषोको मिट्टीमे दबा दिया था। उन दिनोके आज़ाद साहबका कला-प्रेम सराहनीय है, पर जब वे भारतीय शासनमे शिक्षा-विभागके सिहासनपर बैठे, तब तो यह प्रेम और भी पल्लिवत-पुष्पित होना चाहिए था, पर बडे ही परितापके साथ लिखना पड़ रहा है कि आज मौलाना साहबके विभागके अन्तर्गत पुरातत्त्व विभागकी ओरसे प्राचीन कलात्मक सास्कृतिक कृतियोकी घोर उपेक्षा हो रही है।

मिर्जापुरमे उभय सम्प्रदायोके मन्दिर व उपाश्रय बहुत ही सुन्दर है। हम लोग "बूढामहादेव" मोहल्लेके उपाश्रयमे ठहरे थे, यद्यपि यह स्थान कोई बहुत उपयुक्त तो नही है पर मै इसे नही भूल सकता। प्रत्येक जैन मदिर व उपाश्रयमे पुरातन हस्तलिखित प्रतियोका सग्रह प्राय पाया जाता है। मिर्जापुरमे किसी समय बहुत अच्छा सग्रह था। पर गृहस्थोकी इस ओर रुचि न रहनेके कारण, बहुसख्यक ग्रन्थ नष्ट हो गये। मुझे यहा कुछ १७ शतीकी राजस्थानी बातोकी प्रतियाँ प्राप्त हुई, जिनका ऐतिहासिक दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। कुछ चित्र भी प्राप्त हुए, जो वर्षों तक सर्दीमे रहकर भी अपनी रेखा व रगोको सुरक्षित रख सके थे। मुझे ज्ञात हुआ कि शुरूसे मिर्जापुर खरतरगच्छीय यतियोका केन्द्र रहा है। उनके द्वारा निर्मित अत्यन्त विशाल "दादावाड़ी" आज भी उस युगका सुस्मरण करा रही है।

३०-७-५२

कला-तीर्थ मैहर

मैहर शब्दके भीतर किस सीमा तक इस नामकी सार्थकता निहित है, इस विवादको खडा करनेकी जिम्मेवारी मैं लू अथवा न लू ? मुझे इस शब्द-की व्युत्पत्तिके अतरालमे इस भूखडके सास्कृतिक इतिहासका तथ्य सयुक्त दिख पडा, इसलिए यह बात उठा रहा हूं। आनेवाले वर्णनसे यह पता चलेगा कि **मैहर** शब्दमे **माई और हर** इन दो देवी और देवताकी समन्विति स्पष्टत परिलक्षित है। **माई** भगवान्की शक्ति है। जिसने **हर** अर्थात् भगवान् **शकर**का वरण किया। मैहर नगरका शिवालय और **'शारदा माई'**की मढिया क्या इन्ही शैवो और शाक्तोके समन्वयका प्रतीक है ? क्या तान्त्रिकों और शक्ति पूजकोका इस स्थलपर समागम हुआ और मैहरको उस समागमको चिरजीवी बनानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ ? मैहर तथा माई और हरके बीच शब्द साम्य इतना समीप है कि उससे उसके सास्कृतिक अतीतके विषयमें ऐसा सुझाव सामने रखना मेरी समझमे कोरी अटकल नही। जो हो, इस स्थलपर मैं इस सास्कृतिक समागमकी सभावनाकी ओर सकेत मात्र कर सकता हूँ। सभव है अन्य योग्य अन्वेषकगण अन्य सास्कृतिक उपादानोके आधारपर मेरे सुझावका खडन अथवा समर्थन उपयुक्त सामग्रीके सहयोगसे कर सकेंगे। भगवान् शकरका मदिर और शारदा माईकी मढिया दोनोंकी एक ही स्थानमे स्थिति और समन्विति केवल काकतालीय न्याय नही हो सकता। इसमे किसी चिरकालीन सास्कृतिक परपराओके अणु विद्यमान होगे।

विध्य-प्रदेशमे **शारदा-मैया**के कारण मैहर एक प्रकारसे लौकिक तीर्थ-सा बन गया है। वसन्त पचमी एव नवरात्रि आदि त्योहारोमे यहाँ बडा मेला लगता है। नवरात्रिमे बहुत दूरके तान्त्रिक यहाँ आकर अपनी साधना करते है। उन लोगोकी मान्यता है कि बहुत प्राचीनकालमे ही यह स्थान तान्त्रिक

साधनोका प्रधान केन्द्र रहा है। बताया तो यह भी जाता है कि जगद्गुरू शंकराचार्यने इसे प्रतिष्ठित किया था। शारदाका काश्मीर गमन यहीसे हुआ था। उनका यह स्थान जाग्रत पीठ है। कहनेका तात्पर्य कि जनताकी दृष्टिमे यह स्थान बड़ा चमत्कारिक एव मनोकामनाकी पूर्ति करनेवाला है। वहाँके सम्बन्धमे एक बात ऐमी प्रसिद्ध है, जिसपर एकाएक विश्वास नही किया जा सकता। वह यह कि ठीक दशहरेके दिन आल्हा स्वय मदिरमे प्रतिष्ठित शारदा मैयाकी पूजा करने आता है। प्रात काल नवीन अक्षत एव चन्दनके छीटे दृष्टिगोचर होते हैं। आल्हाको यहीपर शारदाने वरदान दिया था, जिसके बलपर वह विजयी हुआ। इस पवित्र लोकतीर्थके साथ कई किवदतियाँ सदियोसे जुड़ी हुई है। नही कहा जा सकता इनमे तथ्याश कितना है। इतना अवश्य देखा जाता है कि बहुत दूर-दूरसे विपत्ति ग्रस्त ग्रामीण मनौती मानकर वहाँ शरण पाते है।

माई शारदाकी टेकड़ी

यो तो मैहर पहाडोसे परिवेष्टित है, पर इन सबमे शारदा माताकी टेकडी लाखो मनुष्योका आकर्षण बनी हुई है। यही टेकडी ग्रामीण जनताकी आन्तरिक धार्मिक-भावनाका प्रधान केन्द्र है। ऐसा कोई दिन नही जाता जब कि यहाँ दर्जनो यात्री न आते हो और एक दो बच्चोके केश चूल न उतरते हो। शारदा है तो विद्याकी अधिष्ठात्री देवी, पर अशिक्षित जनता उससे अपने सब काम करवा लेती है। अभी पद्रह वर्ष पूर्व तक वहाँ पशुबलिकी भीषण हिसा भी हुआ करती थी—पर सतनावासी धारशी भाईके प्रयत्नोसे वह बद हो गयी है।

शारदा माताका पुण्यस्थान मैहरसे चार मील दूर है। घटाघरसे पश्चिमकी ओर पक्का मार्ग बना हुआ है जो पर्यटकको ढाई मील दूर पहाड़ीके समीप ले जाता है, जहाँसे चढाई शुरू होती है। ऊपर जानेके दो मार्ग दिखलायी पडते है। एक पूर्वकी ओरसे है, परन्तु वह पुराना और ऊबड़-

खाबड होनेसे खतरनाक भी है । चढाई इतनी सीधी पडती है कि पैर फिसलते ही हड्डियोका बचना सभव नही। अत अब उसकी कुछ भी उपयोगिता नही रही । यात्रीगण और पर्यटक नव-निर्मित मार्गसे चढते है, जहाँ सीढियोका अपेक्षाकृत अच्छा प्रबन्ध है। तलहटीमे दाहिनी ओर एक दुमजिली वापिका है । छोटा-सा विश्राम-स्थान भी दिखलाई पडता है। स्नानादिसे निवृत्त होकर ऊपर चढनेमे सुविधा रहती है कारण कि ऊपर जलका अभाव है। ज्यो ही सीढियोपर चढने लगेंगे त्यो ही पर्यटकोकी दृष्टि सिदूरसे लगे हुए कुछ प्राचीन अवशेषोपर पडेगी । भक्तोके लिए इनकी अर्चना अनिवार्य है । उनका विश्वास है कि इन्हे सतुष्ट किये बिना सुखपूर्वक माताके दरबारमे पहुँचना सम्भव नही। भारतमे बेचारे देवता लोग जनसेवार्थ हरसमय प्रस्तुत रहते हे । यहीसे एक मील श्रमसाध्य चढाई है । सीढियाँ डेढफुटसे कम ऊँची न होगी और चौडाई भी पौन फुट होगी। ४ फर्लांग तक तो अपेक्षाकृत मार्ग सुगम है पर बादकी चढाई इतनी विकट और सीधी है कि बिना किसी सहारे चढा नही जा सकता। अत तीनो ओर लोहेके सीकचे लगा रखे है। यह चार फर्लांगका मार्ग एक प्रकारसे शारीरिक बलकी कसौटीका स्थान है। पाचसौसे अधिक सीढियोको चढनेके बाद माता शारदाके दरबारका सिहद्वार दिखता है, जिसपर तिरगा झडा फहरा रहा है। एक प्रकारसे आगतुकोका मौन स्वागत कर रहा है।

भीतर प्रवेश करनेपर एक फर्लांगका भूभाग समतल दिखायी पडेगा । शेष भाग ढालू है। छोटे-से चबूतरेपर शारदा मैयाकी कुटिया-मदिर है। मदिरको मैने सकारण ही कुटिया कहा है । मदिरका गर्भ-गृह इतना सकुचित है कि स्थूलकाय व्यक्ति सुखपूर्वक न बैठ ही सकता है और न खडा ही हो सकता है। यही हाल सभामडपका है। ३॥ फुटसे शायद ही अधिक लबा-चौडा हो। दो स्तम्भोके आधारपर मदिर खडा है । पाषाणकी चौखटमे लौहद्वार गडे हुए है। भीतर श्याम पाषाणपर माता शारदाकी

सौंदर्य सम्पन्न प्रतिमा उत्कीरित है। विभिन्न वस्त्रोसे अलकृत होनेके कारण मूर्तिके वास्तविक अगोपर प्रकाश कैसे डाला जा सकता है। वस्त्रहीन प्रतिमा-को देखनेकी अभिलाषा कलाकारोको अवश्य रहती है, परन्तु एक ही प्रत्युत्तर वहाँ मिला करता है, **माँ को नग्नावस्थामें देखनेकी धृष्टता कैसे की जा सकती है ?** फिर तर्क काम नही आता। मुझे चुपकेसे प्रतिमाके भिन्न अगोको देखनेका कुछ क्षणमात्रका अवसर मिल गया। २४-१ ५०का दिन था। प्रकृति भी प्रतिकूल थी—आकाशमे बादल छाये हुए थे, रिमझिम बारिश हो रही थी। टार्चकी सहायतासे वीणा एव हस स्पष्ट दिखलाई पड गये। अत इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि मूर्ति वीणा-वादिनीकी ही है।

मूर्तिमे विवर्तित पाषाण खजुराहोका प्रतीत होता है। शारदाके मुखपर अद्भुत तेजकी चमक है। वीणापर उँगलियाँ ऐसी साधकर रखी गई है कि उनकी कल्पना और रचना एक पहुँचा हुआ कलाकार ही कर सकता है। शरीरके अन्यत्र सभी अग-प्रत्यग कोमलताकी मार्मिक अभि-व्यक्ति है।

मदिरके दाये ओर भी एक छोटा-सा गर्भगृह है। इसमे नृसिहावतारकी प्रतिमा है। मूर्तिकलाकी दृष्टिसे साधारणत अच्छी है। बाँयी ओर भी प्राचीन प्रतिमाओके कुछ अवशेष बिखरे पडे है। हम लोग केवल एकको ही पहचान सके। वह दशावतारी प्रतिमाके परिकरका वामभाग है। बौद्ध, कच्छ, मच्छ, और नृसिह अवतार सुन्दरतासे उत्कीरित किये गये है। इस खडित प्रस्तरको देखकर हमारे मुँहसे यही निकला—काश यह प्रतिमा सम्पूर्ण होती ?"

चबूतरेके पश्चात् भागमे भी कुछ टुकडे पडे है। यहीसे एक छोटी-सी पगडडी जाती है। मै उसीकी ओर डरते-डरते आगे बढा। दसफीट दूर मुझे वाममार्गियोकी स्मृति दिलानेवाली कुछ मूर्तियाँ मिल गईं। यहाँसे प्रकृतिका वैभव अपने पूरे सौदर्यमे निखरा हुआ दिखता है। हम लोग और

नीचे उतरना चाहते थे, पर एक तो मार्ग वहाँ था ही नही, दूसरे जो था भी वह बारिशमे चिकना और खतरनाक बन गया था। यहाँ एक छोटी-सी गुफा है, जिसमें दस व्यक्ति सुखपूर्वक शयन कर सकते है।

दैवी चमत्कारोमे श्रद्धा न रखकर भी माता शारदाकी प्रतिमाके सम्मुख मैने सरस्वती स्तोत्रका पाठ किया। उसने मेरे हृदयमे एक ऐसी प्रेरणा उत्पन्न की, जिसे अपनी अनेको तीर्थ-यात्राओके बीच अन्यत्र केवल दो स्थलोमे ही मैने पाया है। तात्पर्य यह कि मैहरकी माताका स्थान निस्सन्देह पावन क्षेत्र है।

शारदा माताकी टेकडीपर ३ फुट लबी-चौडी एक शिलापर बारहवी सदीकी लिपिमे एक लेख खुदा हुआ है। लिपि सुन्दर सुपाठ्य और आकर्षक है। खुदाई इतनी गहरी है कि इतने वर्षोतक प्रकृतिकी कठोरताओका सामना करते हुए अपने मौलिक स्वरूपमे अक्षुण्ण बनी है। इस शिलाकी कणिकाएँ यदि न होती तो लेख कबका नष्ट हो गया होता। अधकार था अत प्रतिलिपि लिखना सभव न था। उस लिपिका अक्स ले लिया है, जिसपर यथासमय पुन विचार करूँगा।

इस टेकडीके निकट शिल्पकलाके और भी अवशेष उपलब्ध हुए। टेकडी और इन अवशेषोके आधारपर यह कहा जा सकता है कि इस स्थलपर भी वाममार्गियोका प्राधान्य अवश्य ही रहा होगा। बात यह है कि वाममार्गी अपनी साधनाओंके हेतु, एकान्त पसन्द करते है, जहाँ निर्विघ्न होकर वे साधानाएँ सपन्न कर सके। शक्तिके विभिन्न रूप भी उनके इस कार्यमे सहायक होते है, परन्तु प्रश्न यह है कि शारदाके क्षेत्रमे वाममार्गियोकी सत्ता कैसे, क्यो और कब आई? इसका उत्तर हमे शायद् साहित्य और इतिहासमे खोजना होगा। जो हो, इतिहास और साहित्य चाहे जो सिद्ध करे, किन्तु जिस असीम लोक-श्रद्धा और भक्तिसे माता शारदा मैहरमें है, वह उनकी सार्वभौमिकताका एक ज्वलन्त प्रमाण है। जनताने उन्हे लोकमाताके रूपमे अपना कठहार माना है और इसी रूपमें उन्हे सम्मानित

करती आ रही है। लोक-संस्कृतिकी इस परम्पराकी अवहेलना कर सकना मेरे वशकी बात नही। ऐसे स्थान और ऐसी माता शारदाको मेरा शतश प्रणाम।

शिव-मंदिर

किसप्रकार विवेकहीन अवभक्तिके अतरालमे महान कलाकृतियाँ भी नष्ट होती जाती है, इसका स्पष्ट दृष्टात मैहरका शिवमदिर है। ग्राम रास्तेसे बगलमे दूर लगभग चार फर्लांगपर लतागुल्मोसे परिवेष्टित इस देवगृहकी शिल्प और स्थापत्यकी सुन्दर आकृतियोको चूनेसे पोत-पोतकर कैसा बरबाद कर डाला गया है, यह मैने खुद ही देखा। स्थानीय ग्रामीण भक्तोने वही सेवा की है, जो नादान दोस्त किया करता है। इत्तफाक ऐसा हुआ कि उस वक्त मेरे कैमरेमे फिल्म न होनेसे मै उसके चित्र न ले सका।

सभा-मण्डप

मदिर जमीनसे पाँच फुट ऊपरके चबूतरेपर बना हुआ है। चबूतरेकी कुछ इतनी ज्यादा हिफाजत की गई है कि वह प्राचीनताको लगभग खो बैठा है और इस तरह मदिर चबूतरेसे अधिक प्राचीन बन गया है जो कि बिलकुल अस्वाभाविक है और प्रेक्षकोको शकामे डालता है। सभामडप दस फीट ही लम्बा-चौडा होगा। उसकी छत चार सुदृढ स्तम्भोपर आधारित है। आगेके दो स्तम्भ नीचेसे गोलार्कको लेते हुए मध्यमे अष्टकोण होते हुए ऊपर कई कोणोके हो गये है। सबके ऊपरका भाग डेढ फुट लम्बा है और गुलाई लिये है। उसके भी ऊपर बदरमाल जैसी खुदाई है। चारो ओर चार किन्नरदम्पत्ति विविध वाद्य लिये विचरण करते खुदे हैं।

ऐसी आकृतियाँ गुप्त एव तदुत्तरवर्ती स्तम्भोमे पाई जाती है। पर उनमे चार किन्नर ही दिखाई पड़ते है, जब यहाँ दम्पति वाद्योमे बाँसुरी

और वीणा प्रधान है। स्तम्भोपर जो रेखाएँ खुदी है, वे किसी लताका स्मरण कराती हैं। भीतरके स्तम्भोमे चतुष्कोण और साधारण लताएँ खुदी हुई है। पर कुछ विशेषता भी है। स्तम्भोके निम्न भागमे सुन्दरी परिचारिकाओका यौवन सुन्दरतासे उभरा हुआ है। उनके हाथोमे कमल और चँवर है। केश-विन्यास ऊपरकी ओर जाकर थोडा मुड गया है। आभूषणोके चुनावमे बडा विवेक परिलक्षित है। अन्यत्र तो आभूषणोके बाहुल्यके मारे व्यक्तिका शरीर गौण बना दिया जाता है, परन्तु इन परिचारिकाओके आभूषण स्वल्प है—इतने ही मात्र जिनसे सौभाग्यके शृगारमे न्यूनता न रह जावे। अलकरण अत्यन्त स्वाभाविक और स्वल्प परिमाणमे सजाये गये है। स्तम्भोपर ७×१॥ फुटकी दो शिलाएँ आडी पडी हुई है। इन दोनो शिलाओके ऊपर ही छतके अन्य प्रस्तर जमे हुए है। मध्यभागमे जो कमलाकृति खुदी हुई है, वह भरहूत और भूमराके अवशेषोमे पाई जानेवाली कमलाकृतियोके समान है।

गर्भगृहका तोरण

तोरण-द्वारपर की हुई खुदाईके आधारपर मदिर विशेषके सम्प्रदाय अथवा देवता विशेषके जीवनकी घटनाओका अकन किया जाता है। इनमे केवल धार्मिक तथ्य ही नही रहते। तत्कालीन लौकिक व्यवहारो, रीतियो, प्रथाओ, रहन-सहन, आभूषण इत्यादि भौतिक जीवनके अनेक अगोका भी चित्रण होता है। सामान्यत प्रत्येक तोरण-द्वारमे पार्श्वद अथवा परिचारिकाएँ अनिवार्यत हुआ करती थी। इनके अतिरिक्त उपर्युक्त चीजोका अकन भी होता था।

मुस्लिम आक्रमणोने इस अत्यन्त कठिनता और चतुराईसे की गई कलाको छिन्नभिन्न कर दिया। यत्र-तत्र जो अखडित तोरणद्वार मिलते है, उनमे विन्ध्यप्रदेश एव पश्चिम भारतमे प्राप्त तोरणद्वारोका एक अपना महत्त्व है। इस मदिरका तोरण मध्यकालीन विकसित शिल्पकलाके

तत्त्वोसे ओतप्रोत हैं। स्थिर दृष्टिसे देखनेपर शायद ही उसमे कोई कमी दिख पडे। बुंदेलखंडके कुशल कलाकार तोरण-निर्वाणकी कुशलतामे अप्रतिम रहे है। आज भी विन्ध्यप्रदेश एव मध्यप्रदेशमे कुछ ऐसे तोरण बच गये है जो तत्कालीन भारतीय जन-जीवनका सफल प्रतिनिधित्व करते हैं।

गर्भगृहके तोरणके निम्न भागमे स्त्री-पुरुषोके नृत्यकी भाँकी अभूतपूर्व है। एक ओर गलेमे पडे हुए मृदगका वाद्य-साज और दूसरी ओर उन्हे बजानेमे अँगुलियोकी चचलता तथा चरणोकी गति एक अजीब समाँ बाँधते है। नर्तक-नर्तकियोकी मस्त मडलीमे कुछ बालगोपाल भी है, जिनकी बडोका अनुकरण करनेकी चेष्टाएँ बडी मोहक है—कुछ महिलाएँ गोदमे शिशुओको सँभाले हुए हैं। सब मिलाकर नृत्यकी मस्तीका प्रभाव हृदयपर पडे बिना नही रहता। बीचमे किसी देवताकी आकृति खडी है, परन्तु वह चूनेकी दो सूत मोटी तहोमे ऐसी विकृत हो गई है कि उसे पहचानना कठिन है।

तोरणके ऊपरी भागमे पार्श्वद् और परिचारिकाएँ विविध पुष्पोके गुच्छे लिये हुए आकर्षक ढगसे खडे हुए है। आँखोका यौवनोन्माद, मुखकी स्मिति-रेखाएँ, अगप्रत्यगोका स्वाभाविक गठन और उपरिवर्णित केशविन्यास इत्यादिका सौन्दर्य देखते ही बनता है। यहाँ भी आभूषणोका चयन बडे परिमार्जित स्वरूपमे अल्प मात्रामे किया गया है। केशविन्यासमे कही-कही बीच-बीचमे जटाजूटकी गोलाकृति दिखाई पडती है। इससे ऊपरके भागमे स्तम्भ कुछ उठा हुआ-सा है, जिसके दोनों ओर चार-चार इस तरह आठ मूर्तियाँ बनी हुई है जो कामसूत्रसे सम्बन्धित है। इनकी अत्यन्त शृंगारमयी चेष्टाएँ नितान्त अश्लील ही कही जावेगी। सपरिवार देखना भी अभद्रता होगी। सभी मूर्तियोका निर्माण इसप्रकार हुआ है कि प्रत्येकके वास्ते एक आला बना दिया हो। इन भोगासनवाली प्रतिमाओं-के पासमे, चार-चार मध्यावस्थाके पुरुषोकी मूर्तियाँ भी खुली हुई है, जिनमें

मुझे कोई वैशिष्ट्य नही नजर आया। बिलकुल ऊपरके भागमे पूरी पक्ति खडी मूर्तियोसे भरी है। केवल तीन प्रतिमा बैठी हुई है। दाईं बाईं प्रतिमाएँ क्रमश कार्तिकेय और गणेशकी हैं। मध्यकी प्रतिमा पहिचानी नहीं जाती।

शिखर

भारतीय वास्तुकलामे शिखरका स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है। बुन्देलखडके कलाकारोने शिखरके शास्त्रीय एव प्रान्तीय भेदोके बीचका मार्ग निकालकर एतद्विषयक कलाकी एक नई परम्परा स्पष्ट की। यही कारण है कि यहाँ नागर-शैलीके शिखरोके भी सम्मिश्रण पाये जाते है।

शिखरकी पीठिका जो अभी दिखलाई पडती है अपेक्षाकृत छोटी है। असम्भव नही बहुत भाग भूगर्भमे हो। शिखरके तीन भाग तीनो ओर है। एक-एक भाग सात-सात उपविभागोमे बँटा हुआ है जो क्रमश छोटे-बड़े हैं। बँटे हुए भाग ३से लेकर १॥ फुटतक चौडे है। तन्मध्यमे जो रिक्त स्थान (कोने) है, उन्हे कलश समझा जावे। ऊपरके भागमे उल्लेखित ७ भागोमे तीनो ओरके मध्य भागमे एक-एक आलय-आला है। इसके सिवा छह भाग और भी उठे हुए है। उनपर मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। मै दिशावार एक-एक भागका शब्दचित्र यथासाध्य उपस्थित करूँगा।

शिखरके दक्षिण दिशावाले भागके मध्यआलेमे पूर्वाभिमुख वराह भगवान्‌की बडी सुन्दर सपरिकर मूर्ति है। इसके नीचे गणेशकी नृत्य मुद्रामे एक मूर्ति है। पूर्वकी ओरवाले एक और गवाक्षमे स्त्रीकी खडी मूर्ति अवस्थित है। अतिरिक्त छह भागोपर स्त्री-पुरुषोकी कई प्रकारकी भावसूचक प्रतिमाएँ खुदी है, एव काम-सूत्रके दस आसन उत्कीरित है। मध्यवर्ती जो कोने पडते है उनमे या तो छोटी-बडी कई विभिन्न भावसूचक शिल्पाकृतियाँ है। हाथीकी एक मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है. इस हाथीपर एक बालक बैठा है। हाथीकी शुण्डके पासकी नग्न और कही एक सवस्त्र

नारी बैठी हुई है उठी हुई सूडपर एक 'ग्रास' पशुकी आकृति है। यही क्रम तीनो ओरकी दीवालोपर पाया जाता है। मौलिक भावोमे काफ़ी समानता है, किन्तु सूडपर कही तो अश्वोकी आकृतियाँ है, कही स्त्री-पुरुषोकी जो कही ज्यादा और कही कम हो गई है।

पश्चिम भागके मुख्य आलेमे अर्थात् 'शिखर'के ठीक पश्चात् भागमे सरस्वतीकी अष्टभुजा खडी प्रतिमा है। इसमे दो हाथ खडित है। नीचे-वाले बाये हाथमे कमण्डल और ऊपरवाले बाये हाथमे पुस्तक स्पष्ट दीखती है। दाहिने एक हाथमे माला दृष्टिगोचर होती है। शेष दो हाथ भी खडित है। यह प्रतिमा बडी कोमल और भावपूर्ण है। तूर्णालकार नामक आभूषणने प्रतिमाके स्वाभाविक सौन्दर्यको द्विगुणित कर दिया है। प्रतिमाके दोनो ओर परिचारिकाएँ है। चरणोके पास दो गन्धर्वोंकी हाथमे पुष्पमाला लिये प्रतिमाएँ खुदी है। इस गवाक्षके निम्न भागमे गरुडपर आरूढ विष्णुकी मूर्ति है। दक्षिण दिशामे बुद्ध खडे है। यहाँपर यह बताना प्रासगिक होगा कि बुद्ध भगवान्‌की इस प्रतिमाका आलेखन दशावतारके एक अवतार मात्रकी दृष्टिसे ही किया गया है। विशिष्ट रूपसे बौद्धोकी मनोवृत्तिके अनुकूल नही। अन्य दशावतारी प्रतिमाओमे भी बुद्ध देवका आलेखन इसी दृष्टिसे हुआ है। शंकरगढ़के पासके गढ़वा किलेमे अत्यन्त सुन्दर दशावतारोकी भिन्न-भिन्न प्रतिमाएँ रक्त परस्तरपर अवस्थित है। उनमे भी बुद्ध देव इसी खडी मुद्रामे दिख-लाई पडते है। दशावतारमे कही विष्णुकी ध्यानावस्थाकी मुद्राको देखकर बुद्ध देवकी कल्पना हो आती है, परन्तु बुद्ध देवका खडा रूप ही अवतारोंमे सम्मिलित है। इस भागमे कामसूत्रके दस आसनोके अतिरिक्त शेष मूर्तियाँ दक्षिणके ही समान है।

अब उत्तरकी ओर चले। उत्तरीय आलेके मुख्य भागमे नारी एक प्रतिमा है। अन्य नारी-प्रतिमाएँ भी वहाँ है जो सहजमे हृदयको मोह लेती है। उनके यौवनके उन्मादकी भाव-भगिमा इतनी हू-ब-हू और सजीव

है कि दो मूत चूनेकी लिपाईके बाद भी उनका प्रभाव हृदयपर अवश्य पडता है। कुछ भाव भगिमाओकी झाँकी देखिये—सारा शरीर तो दक्षिणकी ओर अभिमुख है, किन्तु मुखपात्र उत्तरकी ओर। दाहिने पैरकी लचक इतनी गुलाई लिये हुए है कि वह नितम्ब भागतक आ गई है। यद्यपि इस मुद्रामें उद्दडता तो स्पष्ट है पर चेहरेकी मुस्कान उसमें कोमलताकी सरसता भी भर रही है। इस शिल्प-कलामें निस्सदेह तत्कालीन शौर्यपूर्ण काम-सम्बन्धी जीवनका प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। दूसरी नारी-प्रतिमामें भी अनोखी भाव-भगिमा है। दोनो हाथ गर्दनके बिलकुल पीछे इस मुद्रामें हैं मानो प्रतिमा जँभाई ले रही है, जिसके फलस्वरूप मुख कुछ आगे आकर ऊँचा होगया है। मुखके सलौनेपनमें आँखोकी कदर्पवासना अपनी बहार दिखाती है। इन प्रतिमाओमें कामसूत्रके दस आसन आलिखित हैं।

यहाँपर मैंने 'शिखर'के केवल उन्ही शिल्पावशेषोकी चर्चा की है, जो स्पष्ट और सरलतासे पहचाने जा सकते हैं, परन्तु चार दर्जनसे अधिक छोटी-बडी कई ऐसी कलाकृतियाँ है जो काईसे ढक गई हैं। सम्भव है इनमें उन दिनोका लोकजीवन प्रतिबिबित होता हो।

मदिरकी जगती और पीठका भाग मूर्तियोसे आवेष्टित है। ऊपर 'शिखर' भी इतना सुन्दर बना हुआ है कि उसे देखकर कल्पना नही होती कि वह दो कलाकारोकी रचना हो सकता है। अर्धगोलाकृतियाँ चारो ओर पाई जाती हैं। उनका भास्कर्य शिल्प-स्थापत्य-कलाका सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है। शिखरमें लगे हुए पत्थर इतने जमे हुए हैं कि उनके बीच किसी गारे-मलमें इत्यादिका भी प्रयोग हुआ है, यह जान नही पडता। स्पष्ट है कि कलाकारोने अपने ही श्रमके बलसे इतने विशाल पत्थरोकी ऊबडखाबड़ता सुधारकर उन्हे सौन्दर्य-रसमें भिगोया और वहाँ स्थापित भी किया, जहाँ वे हमें आज प्राप्त हैं।

इन कलाके नमूनोमें धनके वैभवकी झाँकी कितनी है, यह हम भले

ही न बता सके, किन्तु कलाकारकी आत्माके रसकी मधुरिमा कितनी आवेग और निश्छलताके साथ इन प्रतिमाओंको परिप्लावित कर रही है, इसकी अनुभूति और चिंतन प्रत्येक सहृदयके मर्मको अपील करनेवाली वस्तु है। यहाँ आत्माके रसका वैभव है। धनके वैभव या ऐश्वर्यकी महिमा नहीं।

निर्माण-काल

अब प्रश्न यह है कि इस मंदिरका शिलान्यास और निर्माण किसके हाथों तथा किस युगविशेषमें हुआ ? निर्माण-कालका संकेत करनेवाला कोई लेख उपलब्ध नहीं है, परन्तु 'शिवलिंग'की उपस्थितिके आधारपर लोग उसे शिव-मंदिर ही मानते हैं। अब कलाकी आन्तरिक विशेषताओं-पर भी विचार करनेसे मंदिरका काल कुछ समझमें आवेगा। इस मंदिर-जैसी शैलीके दो मंदिर विन्ध्यप्रदेशके देवतालाब (लऊर थानेसे १ मील दूर) एवं जसोके कुमार-मठके हैं। इन दोनों मंदिरोंका निर्माण-काल बारहवीं और तेरहवीं सदीके बीचका है। इस तथ्यकी पुष्टिमें कुछ लेख भी प्राप्त हुए हैं—अतः यह निश्चय जान पड़ता है कि यह मंदिर भी इसी सदीकी रचना है। उसके शिखर और जगतीकी रचना इसी मतका पोषण करती है। उक्त मंदिर मूलमें दो मंदिरोंका अनुकरण है। परन्तु अन्य बारी-कियोंमें थोड़ा फर्क भी लिये हुए है। देवतालाबका मंदिर कुमारमठके बाह्य भाग बिलकुल सादे हैं, परंतु इस मंदिरके बाह्य भागमें मूर्तियों और अलंकरणों-की बहुतायत है। देवतालाबके मंदिरके तोरणको लोगोंने तोड़कर अपने स्थानसे हटा दिया है—इस तोरणमें भगवान्की नानाविध नृत्य मुद्राओंकी खुदाई थी—और उस तोरणकी जगहमें अब कृत्रिम टालियाँ जड़ दी हैं। अब मूलमूर्तिसे थोड़ा आगे बढ़कर यदि हम उसके अलंकरणोंपर विचार करें तो उनमें तेरहवीं सदीकी कलाका विकास स्पष्टतः दीखता है। कहनेका सार यह है कि उक्त मंदिरका निर्माण काल १२वीं १३वीं सदीका ही युग है।

मन्दिर किसका है ?

लोकश्रुति भले ही इसे शिवमंदिर घोषित करे, किन्तु अपनी मौलिक अवस्थामें भी यह शिवमंदिर ही हो, ऐसा मत संदिग्ध है। बात यह है कि यदि यह शिवमंदिर था तो उसके तोरणद्वारपर भगवान् शंकरके नृत्यकी विभिन्न मुद्राओं एवं जीवनगत कतिपय विशेषताओंका चित्र उत्कीर्णित करना स्वाभाविक होता, किन्तु ऐसी कोई रचना यहाँ नहीं है। हाँ, भगवान् कार्तिकेय और गणेशजीकी प्रतिमाएँ दूसरी शंका उपस्थित करती है। जो तोरणद्वारके ऊपरी छोरपर अब भी विद्यमान है, परन्तु इसके आधार-पर मंदिरको शिवमंदिर घोषित नहीं किया जा सकता। ये दोनों मूर्तियाँ वाम-मार्गी सम्प्रदायके मंदिरोंमें अन्यत्र पाई जाती है, क्योंकि वे वाम-मार्गी भी शक्तिके उपासक होनेके नाते शैव-संस्कृतिकी एक शाखाके रूपमें प्रसिद्ध रहे है। गणेशजीकी नग्न प्रतिमाएँ अन्य नग्न नारियोंके साथ प्राप्त हुई है। यह सम्भव नहीं कि प्रस्तुत शिवमंदिर भी वाम-मार्गियोंसे संबद्ध हो, एवं उनके साधकोंकी संख्याकी कमी अथवा परिस्थिति या समयके कारण दक्षिणपंथियोंके वशमें रहा हो। यद्यपि वात्स्यायनसूत्रके कतिपय भोगासन भारतकी सभी संस्कृतियोंसे संबंधित मंदिरोंके शिखरोंमें पाये जाते है, परन्तु यहाँ तो अतिरिक्त मूर्तियोंके साथ-साथ तोरणके मुख्य द्वारमें भी उन्हींका प्राधान्य है।

इसतरह सब मिलाकर ३८ अड़तीस प्रतिमाएँ हैं। अब देखना यह होगा कि मंदिरकी शिल्पकला जिन दिनोंकी है, उन दिनों इस ओर वाममार्गका प्रचार था या नहीं। भारतीय साधनाका इतिहास स्पष्ट बतला रहा है कि चन्देल और कलचुरियोंके समय इस भूभागमें वाम-पंथियोंका न केवल प्रचार ही था, अपितु उनके प्रधान केन्द्र भी, इस ओर थे। विन्ध्यप्रदेशसे जो शिल्पकलात्मक अवशेष उपलब्ध हुए है, एवं खंडहरोंमें जो कही-कही पाये गये है, उनसे भी उपर्युक्त मतका ही समर्थन होता है।

पहाडों एव जगलोका बाहुल्य होनेके कारण इसके लिए यहाँ यथेष्ट सुविधाएँ थी। विन्ध्यप्रदेशके पुरातत्वसे यह भी प्रतिबिंबित होता है कि गुप्तकालसे लगाकर १३वी शताब्दीतक शैव-सस्कृतिका यहाँ काफी अच्छा विकास हुआ। प्रसगवशात् मुझे कहना चाहिए कि शैव सस्कृतिके या शिव-चरित्रके अधिकतर जीवन प्रसग यहाँके पुरातत्वमे ही मिलेगे।

जिस शारदा माँकी पहाडीकी चर्चा की है, कहा जाता है कि वह भी एक समय साधकोका अखाडा था। सारा पहाड पोला है, ऐसा भी सुननेमे आया है। कुछ वर्ष पूर्व वहाँ पशुबलि भी हुआ करती थी। एक कल्पना और भी ऐसी ही है जो इन्हे वाममार्गसे सबधित बतलाती है, वह यह कि मैहरसे चार मील ५ फर्लांगपर **पौंडी** नामक ग्राम है। यहाँपर नग्न स्त्री-पुरुषोकी बीसो मूर्तियाँ मदिरोके स्तम्भ आदि अवशेष मिलते हैं। उचहरा और मैहरके रास्तेमे भी ऐसे ही शिल्प दृष्टिगोचर हुए। इन सब कल्पनाओके बाद इस निष्कर्षपर पहुँचना युक्ति-पूर्ण होगा कि उपर्युक्त मदिर किसी समय वामपक्षियोका साधना-केन्द्र रहा होगा। सोलहवी सदीतक **विन्ध्यप्रदेशमे** वाममार्गका प्रचार निश्चित रूपसे था और अब भी कही-कही है।

आवश्यकता इस बातकी है कि कलाके इस उत्कृष्ट मदिरके साथ जिस अवहेलनाका व्यवहार राजाओ और प्रजा दोनोने ही किया, उसका अन्त होकर उसके यथेष्ट जीर्णोद्धार और व्यवस्थाकी सामग्री जुटाई जावे, ताकि वह हमारी ललित सस्कृतिपर अधिक प्रकाश डाल सके।

जैनदृष्टिमें पाटलिपुत्र

मगध प्रान्तके प्रामाणिक इतिहासका आजतक न लिखा जाना एक आश्चर्य है। विद्वानोको अधिक-से-अधिक इतिहास-विषयक साधन-सामग्री इस प्रान्तसे प्राप्त होती है। प्राक्कालीन बहुसख्यक ऐतिहासिक घटनाएँ वस्तुत इसी प्रान्तमे घटी, जिनका न केवल तात्कालिक साहित्यमे यथावत् वर्णन ही मिलता है, अपितु उनमेसे अधिकाश प्रसगोपर प्रकाश डालनेवाले प्राचीन प्रस्तरावशेष भी समुपलब्ध है, जो उन सहृदय व्यक्तियोको उस समयके सास्कृतिक जनजीवनकी वास्तविक कहानी, अतिगभीर रूपसे, पर मूकवाणीमे सुना रहे है, किसी भी प्रान्तकी अत्युन्नत दशाका यथार्थ परिचय यदि उसकी कला द्वारा ही प्राप्त किया जाता हो, तो मानना होगा कि मगध इसका अपवाद नही हो सकता, क्योकि उक्त प्रान्तीय सास्कृतिक तत्त्वोकी गम्भीर गवेषणामे यह स्पष्ट है कि कला मगधके जन-जीवनमे ओत-प्रोत थी। मगधके सूक्ष्म प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारोने अत्यन्त सीमित स्थानमे अपनी पैनी छैनी द्वारा सात्विक हृदयके उच्चतम मनोभाव पाषाण आदिपर बहाकर प्रमाणित कर दिया है कि यहाँका जानतिक जीवन कितना उन्नत और कलामय था।

श्रमण भगवान् **महावीरके** अनुयायी राजा एव उपासकोकी बहुत बडी सख्या मगधमे होनेके कारण उनका प्रधान कर्म-क्षेत्र मगध ही था, जिसमे वर्तमान भौगोलिक दृष्टिसे **पटना** और गया जिले लिये जा सकते है। विदेह, मगध और अग आदि विहार प्रान्तके प्राचीन भौगोलिक और सास्कृतिक इतिहासपटको आलोकित करनेवाले जितने मौलिक साधन जैन-साहित्यमे उपलब्ध है, सम्भवत अन्यत्र नही। इतनी विशाल तथ्यपूर्ण ऐतिहासिक साधन-सामग्रीके रहते हुए भी वर्त्तमान

पुरातत्त्ववेत्ताओने जैन-साहित्य और इतिहासके बिखरे हुए साधनोका समुचित उपयोग बिहारके इतिहासालेखनमे नही किया, यह कम परितापका विषय नही। बिना किसी अतिशयोक्तिके मुझे कहना चाहिए कि जबतक पक्षपात-शून्य दृष्टिसे जैनोके ऐतिहासिक उल्लेखोका तलस्पर्शी अध्ययन नही किया जायगा, तबतक बिहारका सास्कृतिक इतिहास अपूर्ण या धुंधला ही बना रहेगा। प्रसगवश एक बातकी स्पष्टता वाछनीय है। जैनोने मगध या सम्पूर्ण बिहार प्रान्तको लक्ष्यकर जो-जो प्रासगिक उल्लेख किये है, वे केवल साम्प्रदायिक दृष्टिसे ही नही, अपितु, तात्कालिक जन-साधारणके सामाजिक जीवनके प्रधान तत्त्व, आमोद-प्रमोदकी सामग्री, उत्सव, रीति-रिवाज, धार्मिक-मान्यता, राजवश और उनके क्रमिक विकास, भौगोलिक सीमा-निर्द्धारण, दर्शन, वाणिज्य-विषयक आदान-प्रदान, राजनीतिके विभिन्न प्रकार एव तत्कालीन प्रसिद्ध जैन-अजैन व्यक्तियोके परिमार्जित इतिहास, आदिके निष्पक्ष वर्णनके लिए भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैनोने अपने साहित्यमे विरोधी वायुमडलको भी स्थान देकर उन्हे स्थायित्व प्रदान किया। पक्तिगत उल्लेखो-की प्राचीनता, भाषाकी दृष्टिसे, मथुराके शिलालेखोके आधारपर, जर्मन विद्वान् डा० हरमन जेकोबी एव अन्य विदेशी विद्वानोने स्वीकार की है। यो तो विहारसे सम्बन्धित प्रचुर सूचन मिल जाते है, परन्तु यहाँ न तो उन सभीकी विवक्षा है, न प्रसग ही। प्रस्तुत प्रबन्धमे पाटलिपुत्रका जैनदृष्टिसे, प्राचीन इतिहास एव भिन्न-भिन्न समयमे घटित प्रेरणादायिनी घटनाओका उल्लेख ही पर्याप्त होगा, क्योकि जैनसाहित्यमे पाटलिपुत्रका स्थान अत्यन्त उच्च और कई दृष्टियोसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। सर्व-प्रथम मगधसघ, अर्थात्, जैनोकी साहित्य-परिषद्का अधिवेशन नवम् नन्दके समय पाटलिपुत्रमें ही हुआ था, जिसके नेता आचार्य्य स्थूलिभद्र थे। यह घटना ईस्वी सन् पूर्व ३६६की है। पाटलिपुत्र जबसे बसा, तभीसे मौर्यवशके नाश तक जैनसस्कृतिका व्यापक केन्द्र बना रहा।

शिशुनाग, नन्द और मौर्य जैनधर्मके अनुयायी, पोषक एवं परिवर्द्धक थे।

आचार्य **श्रीजिनप्रभसूरि** जैनसमाजके उन प्रतिभासम्पन्न आचार्योंमें थे, जिनकी विशिष्ट दृष्टिकोणसे भ्रमण और विशृंखलित ऐतिहासिक तत्त्वोंके सकलनमें बड़ी गहरी अभिरुचि थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने विविध नगरोंपर स्वानुभव द्वारा संस्कृत, प्राकृतादि भाषाओंमें छोटे-बड़े कई ऐतिहासिक प्रबन्धोंका निर्माण विक्रम संवत् १३८९ में किया, जो **विविध तीर्थकल्प** नामसे प्रसिद्ध है। ये प्रबंध भारतवर्षके प्राचीन प्राप्य भौगोलिक ग्रंथोंमें शिरोमणि रहे है। **मिथिला, चम्पा, वैभारगिरि, पावापुरी, कोटिशिला** आदि बिहारके नगरोंका ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत करते हुए उन्होंने इन शब्दोंमें पाटलिपुत्रकी उत्पत्ति यों बतायी है—

> "श्री नेमिनाथ भगवान्‌को नमस्कार करके अनेक पुरुषरत्नोंके जन्मसे पवित्र श्री **पाटलिपुत्र** नगरका कल्प-प्रबन्ध कहता हूँ।
>
> प्रथम जब महाराज श्रेणिक—**बिम्बिसार** स्वर्गवासी हुए, तब उनका पुत्र कुणिक-अजातशत्रु, पिताके शोकसे व्याकुल होकर चम्पापुरीमें रहा।
>
> कुणिकके परलोकगमनके बाद उसका पुत्र **उदायी** चम्पाका शासक नियुक्त हुआ। वह भी अपने पिताके सभा स्थान, क्रीडास्थान, शयन आदिको देखकर, पूर्वस्मृति जाग्रत हो जानेसे उद्विग्न रहता था। इसने प्रधान अमात्योंकी अनुमतिसे नूतन नगरके निर्माणार्थ प्रवीण नैमित्तिकोंको आदेश दिया। भ्रमण करते-करते वे गगातटपर आये। गुलाबी पुष्पोंसे सुसज्जित छवियुक्त पाटलिवृक्ष (पुन्नागवृक्ष) को देखकर वे आश्चर्यान्वित हुए। तरुकी टहनीपर चाष नामक

पक्षी मुंह खोलकर बैठा था। कीडे स्वय उसमे आ पडते थे। इस घटनाने नैमिनिकोके मस्तिष्कपर वह प्रभाव डाला, जिससे वे सोचने लगे कि यदि इस भूमिपर नव-नगर-निर्माण किया जाय तो निस्सदेह राजाको स्वय लक्ष्मी प्राप्त होगी। राजाने इस शुभ सवादको सुना। वह बहुत प्रसन्न हुआ। वयोवृद्ध नैमित्तिकने कहा—महाराज, यह वृक्ष साधारण नही है, जैसा कि ज्ञानीने कहा है—

पाटलाद्रः पवित्रोऽय महामुनिकरोटिभूः।

एकावतारोऽस्य मूलजीवश्चेति विशेषतः ॥

महामुनिकी खोपडीमेसे उत्पन्न यह पाटलि (पुन्नाग) वृक्ष अत्यन्त पवित्र है। विशेषत इसका जीव एकावतारी है।

राजाने आश्चर्यान्वित मुद्रासे पूछा कि वे महामुनि कौन थे ? नैमित्तिकने सारा वृत्तान्त इस प्रकार कहा—

उत्तर मथुरानिवासी देवदत्त नामक वणिक्पुत्र दिग्यात्रार्थ दक्षिण मथुरामे आये। यहाँ जयसिह नामक वणिक्पुत्रसे उनकी मित्रता स्थापित हुई। एक समय देवदत्त जयसिहके यहाँ भोजनके लिए गया। उनकी बहन अन्निका पखा झल रही थी। उनके सौन्दर्यपर देवदत्तने आत्मसमर्पण करनेका निश्चय किया। वह अपनी इच्छाओके लोभका सवरण न कर सका। अन्तत अपने भृत्योके द्वारा जयसिहसे याचना की। जयसिहने शर्तें रखी कि मै अपनी बहन उसीको दूगा, जो मेरे घरसे अधिक दूर न हो, प्रतिदिन बहन और बहनोईको देख सकूँ, और जबतक एक सतान न हो, तबतक मेरे घरपर रहे। देवदत्तने प्रसन्नतापूर्वक शर्तोंको स्वीकार किया एवं अन्निकाका पाणि-ग्रहणकर सुखमय जीवन-यापन करने लगा। एक दिन देवदत्तके माता-पिताका पत्र आया, जिसे पढकर उसके

नेत्र सजल हो उठे। वह स्नेहकी शृंखलासे आबद्ध था। वह अग्निकाके अनुनयपूर्वक कारण पूछनेपर भी मौन रहा। पतिके कष्टने अग्निकाके हृदयको द्रवित कर पत्र पढनेको बाध्य किया। पत्रमे लिखा था—"हे पुत्र, हम तो अब वृद्ध हो चले हे। यदि देखनेकी इच्छा हो, तो शीघ्र चले आओ।"

अग्निकाने पतिको आश्वस्त किया और भाईसे हटकर देवदत्तको जानेकी आज्ञा दिलवायी। अग्निका सगर्भा थी। मार्गमे पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। उन्होने नवजात शिशुका नामकरण माता-पितापर छोडनेका विचार किया। भृत्योने अग्निकापुत्र नाम दिया। उत्तरमथुरा पहुँचनेपर उन्होने माता-पिताको सविनय नमस्कारकर शिशुको उनके चरणोमे समर्पित किया। उन्होने सधौरण नाम रखा। जनता पूर्व नामसे पुकारनेमे आनन्दका अनुभव करती थी। क्रमश युवावस्था प्राप्त होनेपर भी नश्वर सासारिक भोगोमे उनकी लेशमात्र भी अभिरुचि न रह गई। अब उनकी अन्तर्मुखी चित्तवृत्तिका सुमधुर स्रोत फूट पडा। उन्होने अन्तत गृह त्यागकर, जन-कल्याणार्थ, मुनिधर्मकी दीक्षा, जयसिह आचार्यके पास जाकर अगीकार की।

सघके साथ विचरण करते हुए वृद्धावस्थामे अग्निकाचार्य गगातटपर पुष्पभद्र नगरमे आये, जहाँ पुष्पकेतु शासक थे। उनकी पत्नी पुष्पावती थी। पुष्पचूल, पुष्पचूला—उनके पुत्र-पुत्री अभिन्न हृदय थे। पारस्परिक तीव्र अनुरागके कारण राजा चितित था कि यदि इनमेसे किसीको पृथक् करूँगा, तो दोनोका जीवन बचना असभव है। मै भी इतना दृढहृदयी नही कि इनका विरह सह सकूँ। अत. क्यो न दोनोका पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध ही स्थापित कर दिया जाय। उन्होने वायुमडल तैयार करनेके हेतु अपने प्रधान अमात्य, मित्र और

नगरवासियोंके सम्मुख कपटसे पूछा—"सज्जनो, जो रत्न अंत पुरमे उत्पन्न हो, उसका अधिकारी कौन ?" सबने एक स्वरसे कहा, "हे देव, अन्त पुरमे समुत्पन्न रत्नके विषयमें तो क्या, सारे देशमें जो रत्न उत्पन्न होते है उनपर भी आपका ही अधिकार है, जैसा भी चाहे, उपयोग कर सकते है।" राजाने अब उनके सामने स्वाभिप्राय रखा और रानीकी इच्छा न होने-पर भी उनका पाणिग्रहण करवाया। रानीने अपना अपमान समभकर गृह ससार छोड दिया और दीक्षा ग्रहण की। वह मरकर देवके रूपमे उत्पन्न हुई। पुष्पकेतु जब स्वर्गका अतिथि हुआ, तब पुष्पचूल राजसिंहासनपर बैठा। देवत्वप्राप्त रानीके हृदयमे उन दोनोके अकृत्यको देखकर करुणाका स्रोत उमड पडा। उसने पुष्पचूलाको, प्रतिबोधनार्थ, स्वप्नमे भयकर नारकीय कष्ट-यातनाओके भाव बताये। वह भयभीत हुई। उसने पतिसे कहा· शान्तिके कृत्य किये जानेपर भी स्वप्नका क्रम बन्द न हुआ। राजाने सब धर्मोके नेताओको बुलाकर नार-कीय स्वरूपकी पृच्छा की। किसीने गर्भावासको या गुप्तावासको या दरिद्रताको, और कुछ एकने परतत्रताको ही नरक बताया। रानीको सतोष न हुआ। अग्निकाचार्य्यसे पूछनेपर स्वप्नवत् वर्णन सुनकर रानी प्रभावित हुई। बादमे देवलोकके स्वप्न आनेपर, अग्निकाचार्य्यने तादृश वर्णनकर रानीके मनको सतुष्ट किया। रानीने अग्निकाचार्य्यके पास दीक्षा लेनेकी आज्ञा पतिसे माँगी। राजाने कहा कि एक शर्तपर आज्ञा दे सकता हूँ कि भिक्षा प्रतिदिन मेरे महलसे ली जाय। 'तथास्तु' कहकर वह आचार्य्यकी शिष्या हुई। उसने क्रमश पढकर वैदुष्य प्राप्त किया।

एक बार अग्निकाचार्य्यने अपने ज्ञान-बलसे जाना कि

भविष्यत्मे दुष्काल होनेवाला है। अत उन्होने सारे समुदायको अन्यत्र भेज दिया। वे स्वय वृद्धावस्थाके कारण वही रहे। भिक्षा पुष्पचूला महलसे ला दिया करती थी। वह बडे मनोयोगपूर्वक गुरुकी सेवामे तल्लीन रहा करती थी। क्रमशः उसे केवलज्ञान प्राप्त होनेके कुछ दिन बाद जब आचार्यको मालूम हुआ, तब उन्होने पूछा कि मुझे कब केवलज्ञान होगा ? विदुषीने कहा—गगापार करते समय। आचार्य्य गगापार करनेके लिए नावपर बैठे। जहाँ-जहाँ वे बैठते, नाव डूबने लगती। तब वे मध्यभागमे बैठे। तब तो सम्पूर्ण नौका ही गगाके गहन गर्भमे प्रवेश करने लगी। अत लोगोने उनको उठाकर पानीमे फेका। पूर्व भवमे उनके द्वारा अपमानित स्त्री, व्यतरीके रूपमे, वहाँपर आयी और पानीमे गिरते हुए आचार्य्यको शूलीमे पिरो लिया। शरीरसे रक्तकी धारा प्रवाहित होने लगी। परन्तु, आचार्य्य महोदयको अपनी शारीरिक पीडाका तनिक भी ध्यान न था। वे तो इसी चिन्तामे निमग्न थे कि कही मेरे उष्ण रक्तकी बूदसे जलस्थित जीवोकी विराधना न हो जाय! इस प्रकार अहिंसाकी स्पष्टतम भावनाओके चरम विकास होनेपर उन्हे भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवताओ द्वारा प्रकृष्ट (सर्वोत्कृष्ट) याग (पूजा) होनेसे प्रयाग नामसे उस स्थानकी प्रसिद्धि हुई। वर्तमानमे, अर्थात् विक्रम सवत् १३७९ मे, करवत रखवानेकी परम्परा प्रयागमें थी। वहाँ एक वटवृक्ष है, जो कई बार मुसलमानो द्वारा नष्ट किये जानेपर भी उत्पन्न हो गया है।

जलचर जीवोके ताडनसे टूटती हुई सूरिजीकी खोपडी पानीकी तरगोसे यत्र-तत्र फिरती हुई गगाके किसी प्रदेशमें अटककर रह गयी। उसमे किसी समय पाटला-वृक्षका बीज

पड़ा। अनुक्रमसे खोपड़ीके दक्षिण भागको भेदकर वृक्ष निकला। इस वृक्षके प्रभावसे चाष पक्षीके निमित्तसे नगर बसा।

सियारका शब्द जहाँतक सुनायी दे, उतनी भूमि सूतसे वेष्ठित की जाय। राजाज्ञा प्राप्त कर नैमित्तिकने चारो दिशाओमे वहाँतक सूतके तनु फैला दिये, जहाँतक सियारकी आवाज न सुनायी दे। इस प्रकार चतुष्कोण नगरकी राजाने स्थापना की। इसी वृक्षके नामसे पाटलिपुत्र नगर बसाया गया[1]। पुष्प-बाहुल्यके कारण इसे **कुसुमपुर** भी कहते थे।

—'विविध तीर्थ कल्प' पृष्ठ ६७-६८

आचार्य्य महाराजने शिशुनागवंशीय उदयाश्व या उदायीद्वारा निर्मापित नगरसे सम्बन्धित कोई ऐसा उल्लेख नही किया, जिससे ज्ञात हो सके कि अमुक संवत्मे वह बसा। अत अन्यान्य ऐतिहासिक साधनोके आधारोसे प्रतीत हुआ कि वीर निर्वाण संवत् ३१ मे उपर्युक्त नगर बसा। इतिहासज्ञोने

---

[1] अन्य ग्रन्थोमे उदायी राजाकी माताका नाम पाटलिरानी होनेके कारण नगरका नाम पाटलिपुत्र रखा, ऐसा उल्लेख भी मिलता है। अतः स्पष्ट रूपसे पाटलिपुत्र शब्दका अर्थ उदायी राजा ही किया जा सकता है। यात्रियोके वर्णनसे ज्ञात होता है कि 'कुसुमपुर' पाटलिपुत्रका एक अंग था।

पुराणोमे उदायी राजा और पाटलिपुत्रके निर्माणके लिए निम्नोक्त उल्लेख दृष्टिगोचर होते हैं—

उदायी भविता तस्मात्, त्रयस्त्रिंशत्समानृपः॥
सर्वे· पुरवरं रम्य, पृथिव्यांकुसुमाह्वयम ॥
गंगाया दक्षिणे कूले, चतर्थेऽब्दे करिष्यति ॥

—वायुपुराण, उत्तरखंड, अध्याय ३७, पृष्ट १७५
ब्रह्माण्डपुराण म० भा० ३ पो० तीन अध्याय ७४।

इसके विस्तारके सबधमे विभिन्न मत दिये है। उनमे साम्य केवल इतना ही है कि उसके ६४ दरवाजे और दुर्गकी ५७० बुर्जें थी। आकस्मिक आक्रमणोको रोकनेके लिए ३० हाथ गहरी और ६०० हाथ चौडी खाई थी। इसप्रकारकी खाइयाँ मध्यकालमे भी दुर्गोत्तरवर्ती भागमे बनवायी जाती थी। कही-कही इनमे पानी भरा जाता था और कही-कही युद्धके दिनोमे जलते हुए कोयले बिछा दिये जाते थे।

उदयाश्व महाराज श्रेणिकके पौत्र और कुणिकके पुत्र थे। इनका राज्याभिषेक चम्पामे ही हुआ था। पर पिताके परलोकगमनसे उनकी वस्तुओको देखनेसे प्रतिदिन मन बडा उद्विग्न रहा करता था, जिसके निवारणार्थ पाटलिपुत्र बसाया गया। 'महावग्ग' मे उल्लेख मिलता है कि वैशालीके वज्जियोके आक्रमणको रोकनेके लिए अजातशत्रुने सुनिद्ध और वस्सकार नामक प्रधान मत्रियो द्वारा ईसवी पूर्व ४८० मे पटना बसाया या एक किला बनवाया। ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर प्रतीत होता है कि उपर्युक्त कथन भ्रामक है, क्योंकि कुणिककी राजधानी चम्पा[1] रही है, जिस पूर्तिस्वरूप अनेक उल्लेख प्राप्त हो चुके है।

---

[1] भागलपुरसे पश्चिम चार मीलपर अवस्थित है। किसी समय अंगदेशकी राजधानी थी। रामायण, मत्स्यपुराण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें चम्पाका वर्णन उपलब्ध होता है। जैनोंके औपपातिक सूत्रमें चम्पाके विकासका प्रत्यक्षदर्शी वर्णन मार्मिक ढंगसे किया गया है। ह्यू आन चुआङ भी चम्पामें आया था। उसने शहरके चारों ओर दीवालके खडितावशेषोका जो वर्णन किया है वह आज भी नाथनगर रेलवे स्टेशनके पास अवस्थित है। एक समय अंग मगधके ही आधिपत्यमें था। चम्पापुरी जैनोका अत्यन्त प्राचीन तीर्थस्थान माना जाता है। वहाँ भगवान् महावीरने तीन चातुर्मास व्यतीत किये थे। वहाँ उनके अनेक शिष्योका विहार हुआ करता था। भगवान् महावीरके आर्यासंघकी प्रधान श्रमणिका

विष्णुपुराण (खड ४, अध्याय ४) मे उल्लेख आया है कि उदयाश्व अजातशत्रुका पौत्र था, परन्तु नही कहा जा सकता, इस कथनमे कहाँतक सत्य है। कुछ लोग मानते है कि अजातशत्रुके बाद दर्शक उत्तराधिकारी हुआ। परन्तु जैन, बौद्ध और सिहली-साहित्यके निर्माताओंने दर्शकके नामका उल्लेख न कर स्पष्ट शब्दोमे लिखा है कि अजातशत्रुका पुत्र उदयाश्व था। हमारे सामने ऐसा कोई कारण नही कि हम उदायीको अजातशत्रुका पौत्र माने। प० जयचन्द्र विद्यालकारने 'भारतीय इतिहासकी रूपरेखा' में लिखा है कि 'जैन अनुश्रुति' नो उदायीको भी नन्दोमे गिनती है। यह भ्रामक है। यहाँपर एक बात स्मरण रखनी आवश्यक है कि मगधनरेशोने चम्पा और पाटलिपुत्रमे राजधानियाँ परिवर्तित की। उस समय राजगृहको भी, जो मूल राजधानी थी, किसी प्रकार नुकसान न पहुँचे, इस बातका उन्हे पूर्ण ध्यान था। अत वहाँ शिशुनागवशीय किसी माडलिकको राजाके रूपमें नियुक्त किया था, जिसे 'इतिहास-दर्शक' या 'वशक' के रूपमे मानते हैं[1]।

उदयाश्व भगवान् महावीरका परम अनुयायी था। इसने पाटलिपुत्र बसाते समय औषधिशाला, जिनालय, आदि बनवाये थे, जिनके उल्लेख 'आवश्यक सूत्रवृत्ति' और 'विविध तीर्थकल्प' मे क्रमश पाये जाते हैं।

चन्दनबाला यहींकी राजपुत्री थी। जैनोके बारहवें तीर्थकर वासुपूज्यके पाँचों कल्याणक यहींपर हुए। आज भी एक जैनमंदिर सुरक्षित है। 'दशकुमारचरितमें आया है कि चम्पामें किसी समय बदमाशोंकी बस्ती अधिक थी। चम्पक श्रेष्ठि कथासे भी यह ज्ञात होता है।

[1] अस्माकं महराज दर्शकस्य भगिनी पद्मावती

—स्वप्नवासवदत्ता, अंक १ पृष्ठ १४

अजातशत्रुर्भविता, सप्तत्रिंशत्समा नृपः।

चतुर्विंशत्समा राजा वंशकस्तु भविष्यति ॥

—मत्स्यपुराण, अध्याय २७२।

"त किर वियणगसंठिय णयर णयराभिएय उदाइणा चेइहरं काराविय, एसा पाटलिपुत्तस्स उप्पत्ति"—आवश्यक सूत्रवृत्ति

"तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राज्ञाऽकारी। तत्र पुरे गजाश्वरथशाला-प्रासाद सौधप्राकार गोपुरपण्यशाला सत्राकार पोषधागाररम्ये चिरं राज्यं जैनधर्मं चापालयदुयायि नरेन्द्रः।

विविध तीर्थकल्प, पृष्ठ ६८।

सन् १८१२ में पाटलिपुत्रके समीप दो मूर्त्तियाँ उपलब्ध हुई थी, जो वर्तमानमें कलकत्ताके **इंडियनम्यूजियममें भरहुतगैलरीमें** सुरक्षित है। इन दोनों पर जो लेखोत्कीर्णित हैं, उनका डा० **काशीप्रसाद जायसवालने** इस प्रकार वाचन किया था

"भगो अचो छोनिधि से"

(पृथ्वीके स्वामी महराज अज)

२—सप्तखते वन्दि

सम्राट् वर्तिनन्दि

ऐतिहासिक विद्वान् इनमें पाठ भेद मानते है। पर जायसवालजीका अनुमान है कि प्रथम प्रतिमा महाराज उदयाश्वकी ही होनी चाहिए, 'अज' उनका अपर नाम भी था, 'पट्टावली समुच्चय' में **'अजयः उवाली उदायी'** स्पष्टोल्लेख है।

उदयाश्वका अन्त मुनिवेशधारी **विनयरत्नकी** छुरीसे ईस्वी सन् पूर्व ४६६ मे हुआ। साथ-ही-साथ मगध साम्राज्यपर राज्य करनेवाले शिशु-नागवशका भी अंत हुआ।

नन्दकालीन पाटलिपुत्र

मगधकी राजधानी पाटलिपुत्रको शिशुनागवंशीय श्री उदायीने अपने पुरुषार्थसे समृद्ध करनेकी पूरी चेष्टा की थी, जिसके कारण उनकी कीर्ति दिग्दिगन्तव्यापिनी हुई। परन्तु उदयाश्वके पुत्र न होनेसे पाटलिपुत्रपर नन्दोका अधिकार हुआ। मगधके सिंहासनपर वे जैनकालगणनाके अनुसार

१५० वर्ष एव अन्य गणनानुसार १०० वर्ष तक रहे। वह किस धर्मके अनुयायी थे, इसका प्रमाण कही कुछ नही मिलता। बौद्ध-साहित्य बिलकुल मौन है। ब्राह्मण-ग्रन्थ भी मूल्यवान् सूचना नही देते। जैन-साहित्यमे जो उल्लेख है, उनसे कुछ धुधला आभास मिलता है कि वे जैन थे। विसेंट स्मिथका कहना है कि वे नन्दराजा ब्राह्मणधर्मके द्वेषी और जैनधर्मके प्रेमी थे। केम्ब्रिज हिस्ट्री भी इस बातका समर्थन करती है। इसमे कोई शक नही कि नन्दोके समयमे जैनधर्म बहुत कुछ विकसित अवस्थामे था। इस वशके प्रारम्भसे अन्तिम नन्दतकके सभी प्रधान अमात्य जैन थे। असम्भव नही है कि नन्द राजाओने एक ही वशके मत्रियोको अपनी सेवाके योग्य समझकर चुना हो।

यशोभद्रसूरि

श्रीयशोभद्रसूरि पाटलिपुत्रमे ही जन्मे थे। वे जातिसे ब्राह्मण थे! आपका जन्मकाल--सूचक सवत् अद्यावधि प्राप्त नही। परन्तु उनकी दीक्षा ईस्वी सन् पूर्व ४४२ मे हुई थी। यहाँ पर नन्दीवर्द्धनका राज्याधिकार था। उपर्युक्त आचार्य्य अपने समयके परम गीतार्थ और प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे।

अभी तक जैन-सघके नेता एक ही होते आये थे, पर अब आर्य्य यशोभद्रसूरिके पट्टपर **सम्भूतिविजयसूरि** और **भद्रबाहु** दोनो एक ही साथ आये। प्रथमाचार्य्यके विषयमे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वे ईस्वी सन पूर्व ३७० वर्षमे महाप्रस्थानको प्राप्त हुए।

आर्य भद्रबाहु और स्थविर स्थूलिभद्र

यद्यपि **भद्रबाहु** स्वामी **पटना**के निवासी न थे, परन्तु जैन-समाजके नेता होनेके कारण बिहारसे उनका घनिष्टतम सम्बन्ध था। उन्होने भारतीय साहित्य रूपी सरस्वती-मदिरमे ग्रथ रूपी पुष्प प्रचुर प्रमाणमे

चढाये है । आचार्य्य **स्थूलिभद्र** कल्पकानुयायी नन्दके प्रधान मत्री **शकडालके** ज्येष्ठ पुत्र थे। उनका जन्मकाल स्पष्टत ज्ञात नही । ईस्वी पूर्व ३८० मे उन्होने मुनि-दीक्षा अगीकार की। इस पूर्व आप पाटलिपुत्रकी सुप्रसिद्ध गणिका **कोशाके** यहाँ १२ वर्ष तक रहे थे। परन्तु, **वररुचि भट्टके** राजनीतिक प्रपचजालसे पिताकी करुणाजनक मृत्युके सवादने इन्हे जनकल्याणके प्रशस्त मार्गकी ओर चलनेको बाध्य किया। उन्होने पितृ-स्थानपर लघुबन्धु श्रियकको बैठाया।

पाटलिपुत्री-वाचना

पाटलिपुत्रके इतिहासमे यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अभूतपूर्व सुघटना है । भारतीय साहित्यके सरक्षण और विकासमे इसका स्थान सर्वोच्च माना जाता है । आज मागधी या अर्ध मागधी भाषाका जो कुछ साहित्य उपलब्ध होता है, इसके लिए पाटलिपुत्रका जैनसघ ही साधुवादका अधिकारी है । विशाल जैन-साहित्यसम्मेलनकी प्रथम सभा पाटलिपुत्रमें होनेके उल्लेख दृष्टिगोचर होते है ।

नन्द-वशके राजत्वकालमे मगधमे १२ वर्षोका भयकर दुष्काल पडा था जिस कारण जैनमुनि अन्य देशोमे प्रस्थान कर गये । फिर भी, कुछ मगधमे रह गये और दुष्कालजनित कष्ट-परम्पराको धैर्यपूर्वक झेलते हुए अपने अन्तिम साध्य-आध्यात्मिक विकासकी साधनामे तत्पर रहे। दुष्काल उन्हे अपने कठोर मार्गसे विचलित न कर सका। यह तो मानना ही होगा कि विचारोपर दुष्कालका प्रभाव भले ही न पडे, पर शरीरपर तो अवश्य ही पडता है। अध्ययन सुव्यवस्थित न हो सकनेके कारण बहुसख्यक मुनि कठीकृत शास्त्रोको भूल गये। मगधमे रहनेवाले मुनियों-की सख्या ५०० थी, जिनके नेता स्थ० स्थूलिभद्र थे। वे उन दिनो प्रकाण्ड विद्वानोमे गिने जाते थे । आशिक कठस्थ श्रुतज्ञानको पुन सूत्रारूढ करनेकी भावनासे उत्प्रेरित होकर पाटलिपुत्रके श्रीसघने उनको खास

तौरसे रोक रखा था। बादमे चतुर्विध सघ और नन्दराजाकी पूर्ण सहायतासे कठस्थ साहित्यको ग्रन्थका रूप देनेका पुनीत कार्य प्रारम्भ हुआ, जिसमे २ वर्षोंसे कुछ अधिक समय लगा। उन्होने ११ अगोंको तो सुव्यवस्थित रूपसे ग्रन्थारूढ किया, पर १२वाँ दृष्टिवाद भद्रबाहुको छोडकर कोई जानता न था। वे उन दिनो नेपालमे महाप्राणायाम-ध्यानकी साधना-मे तल्लीन थे। पाटलिपुत्रके जैनसघने मुनियोको नेपाल भेजकर उनसे कहलाया कि स्थूलिभद्रकी अध्यक्षतामे बहुत कार्य हो चुका है, अवशिष्ट कार्यकी पूर्तिके लिए आपकी अपेक्षा है। अत आप कृपया यहाँ चले आइए। भद्रबाहुने सकारण पाटलिपुत्र आनेमे असमर्थता प्रकट की। मुनियोसे सघने उपर्युक्त सवाद सुना, तब पुन अन्य मुनियोको भेजकर कहलाया कि सघाज्ञाका उल्लघन करनेवालोको क्या दड दिया जाय? आचार्यश्रीने कहा, "उसे सघसे बहिष्कृत कर दिया जाय" आचार्यश्रीने दीर्घ दृष्टिसे विचारकर कहा कि महाप्राणायाम-ध्यान चल रहा है। अत मै तो न आ सकूँगा। श्रीसघ मेरे पास यदि किन्ही सूक्ष्मप्रतिभासम्पन्न मुनियोको भेजे तो उपर्युक्त कार्य यहीपर बैठा हुआ मै पूर्ण कर सकता हूँ। सघको उपर्युक्त सवाद मिला। ५०० मुनियोको लेकर स्थूलिभद्र नेपालको चले! परन्तु, वहाँ बहुत समयमे अल्प अध्ययनके कारण बहु-सख्यक मुनि धैर्य न रख सके। अत वे क्रमश खिसकने लगे। केवल स्थूलिभद्र ही रह गये। वह आठ वर्षोंमे आठ ही पूर्वका पारायणकर सके। भद्रबाहुने कहा कि अब मेरी साधना पूर्ण होनेको है। अत अधिक अध्ययन-कार्य चलेगा। स्थूलिभद्र इतने बडे विद्वान् स्थविर होते हुए भी अपने आपपर अधिकार न रख सके। कहने लगे, "प्रभो, अब कितना अध्ययन अवशिष्ट है। आचार्यश्रीने कहा अभी तो बिन्दु मात्र हुआ है, समुद्रतुल्य शेष है।" ईस्वी पूर्व ३५६ मे भद्रबाहुका स्वर्गवास हुआ।

इस प्रकार स्थूलिभद्रने आपत्ति कालमे मगधमे रहकर जैन-साहित्य-की बहुत बडी सेवा की। इसी कारण मगध-सस्कृतिके इतिहासमें इनका

स्थान अनुपम है। जैनसाहित्यमे **पाटलिपुत्र-परिषद्** प्रसिद्ध है। आव-श्यक निर्युक्ति **हरिभद्रसूरि** कृत **उपदेश-पद**[1] आदि ग्रन्थोमे इस घटनाका वर्णन विस्तारके साथ दिया गया है।

स्थूलिभद्र ईस्वी पूर्व ३११मे पाटलिपुत्रमे ही स्वर्गस्थ हुए। इनका स्मारक अरक्षित अवस्थामे आज भी गुलजारबाग (पटना) स्टेशनके सामने **कमलहृद** (कमलदह)मे वर्तमान है। ईस्वी सन्की ७वी शताब्दीमे भी उपर्युक्त स्थानका अस्तित्व चीनी यात्री **ह्यूआनचुआङ्**के उल्लेखसे प्रामाणित होता है। उन दिनो निर्वाण-स्थान सार्वत्रिक प्रसिद्धिको प्राप्त कर चुका था। चीनी यात्री लिखता है कि—

"पाखडियोके रहनेका स्थान–उपाश्रय वहाँ है।"

पाखडी कहनेका तात्पर्य धार्मिक असहिष्णु मनोवृत्ति ही है। ऐति-हासिक दृष्टिसे इस उल्लेखका बहुत बडा मूल्य है। आचार्य स्थूलिभद्रके समयमे मगधमे जबर्दस्त राजनीतिक परिवर्तन हुआ, नन्द वशका नाश और मौर्य्य साम्राज्यका उदय।

मौर्य्य-काल

ससारका नियम है कि जब राजनैतिक परिवर्तन होता है, तब जानतिक शाति स्वाभाविक रूपसे भग हो जाती है। विकृत वायुमडलकी सृष्टिसे जन-जीवन विक्षुब्ध होकर प्रवाहोमे बहने लगता है। आत्मिक विभूतियोका

---

[1] **जाओ अ तम्मिसमए दुक्कालो दोय वसय वरिसाणि।**
सव्वो साहुसमूहो गओ जलहितीरेसु॥
तदुवरमे सोपुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
संघेणं सुयविसया चिन्ता किं कस्स अत्थेति॥
अजस्स असिपासे उम्मसउभयण माइ संघेडिउं।
तं सव्व एक्कारयं अंगाइं तहेव ठवियाइं॥

सस्मरण, अन्य समस्याएँ सम्मुख रहनेके कारण, हो नही पाता। आध्यात्मिक साधनाके लिए भौतिक शान्ति अनिवार्य्य भले ही न हो, पर आवश्यक अवश्य है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। अत सामयिक परिस्थितिके प्रभावसे बच नही सकता। आजकी बात तो नही कर रहा हूँ, परन्तु, प्राचीन कालकी बात है कि राजनीतिक परिवर्तनोके सबसे कटु अनुभव उनको हुआ करते थे जो किसी भी प्रकारके वाहनका उपयोग न कर, पाद-भ्रमणको ही महत्त्व देते थे। जिस देशकी जनताने वर्षोतक सास्कृतिक जीवन बिताया हो, वह चाहे कैसी भी भीषण परिस्थिति आये, फिर भी आनुवशिक सस्कारोके कारण सद्विचारोका त्याग नही कर सकती। मगधकी जनता तो भगवान् महावीर और बुद्ध-जैसे जन-कल्याणकारक ऋषियोके उपदेशामृतोका पान कर चुकी थी, अपितु उनके औपदेशिक स्वर्णिम सूत्रोको आत्मसात् भी करनेके सौभाग्यसे मडित थी। अत. परिस्थितिकी भीषणताने मगधके समाजके बाह्यावरणोपर आशिक प्रभाव डाला सही, पर हृदय एव मस्तिष्कमे किसी भी प्रकारकी दुर्भावनाओका उदय न होने दिया। अत मगधका सास्कृतिक वायुमडल परिमार्जित ही रहा।

जिसप्रकार मगधके सिहासनपर पूर्व दो राजवश जैनधर्मानुयायी थे, मौर्य्य भी जैनधर्मको विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते थे। इनमे **चन्द्रगुप्त, सम्प्रति** आदि प्रमुख है। वर्तमान ऐतिह्यतत्त्वविदोने अब मौर्य्यका जैनत्व स्वीकार कर लिया है। जैनसाहित्यमे महाराजा **सम्प्रतिका** वही स्थान है, जो **बौद्धसाहित्यमे अशोकका**। इसने जैनसस्कृतिके प्रभावको केवल भारतमे ही वेग नही दिया, अपितु विदेशोमे भी जैनधर्मके व्यापक प्रभावके लिए सब कुछ किया।

आर्यसुहस्तिसूरि

इनका परिचय उपलब्ध नही होता। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व ३०५मे दीक्षित हुए तथा ईस्वी पूर्व २८१मे जैनसघके नेता

बने। स्थूलिभद्रकी बहन यक्षाने पुत्रवत् इनका पालन किया था। एक समय आपने पाटलिपुत्र आनेपर वसुभूति नामके श्रीमन्तको नवतत्त्वादिका ज्ञाता बनाकर जैनधर्ममे दीक्षित किया। आपके कालमे एक घटना ऐसी घटी, जिसका बहुत कुछ महत्त्व है। मौर्य्यकुलदिनमणि सम्राट् सम्प्रतिको इन्ही आचार्योने पूर्व भवमे प्रबुद्ध किया था। उसने अनार्य देशोमे जैन सस्कृतिके प्रचारार्थ अपने सैनिकोको जैनमुनियोका वेश पहनाकर, वहाके लोगोको समझवाया कि मुनियोके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। बादमे सच्चे जैनश्रमण भेजे, जैसा कि **आवश्यक निर्युक्ति, निशीथचूर्णि, परिशिष्ट पर्व** आदि ग्रन्थोसे फलित होता है। आज भी यूनानमे **समनिया** नामक एक ऐसी जाति पाई जाती है, जो मास-मदिरा सेवन करना बहुत बुरा समझती है। रात्रिभोजन न करनेवाला इस जातिमे सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है। यह 'समनिया' श्रमण शब्दका विकृत ही रूप हो, तो मानना होगा कि सम्प्रतिद्वारा प्रबोधित जैनोके अवशेष है। गवेषणाकी अपेक्षा है।

वाचक उमास्वाति

आप स्वय अपना परिचय इस प्रकार देते है—श्री **उमास्वाति** वाचकेश **श्रीशिव** श्रीप्रव्रज्याके प्रशिष्य थे। ११ अगके धारक **श्रीघोषनन्दि** क्षमण (महातपस्वी क्षमण)के प्रव्रज्या शिष्य थे। महावाचक मुडपादके वाचना प्रशिष्य थे। वाचकाचार्य्य मूलके वाचना शिष्य थे। **न्यग्रोधिकाके** रहनेवाले थे, **कौभीषिणी** गोत्रवाले थे। स्वाति (पिता) और वात्सी गोत्रवाली **उमा** (माता)के पुत्र थे। उच्चानागरी शाखाके वाचनाचार्य्य थे। आपने गुरुगमसे अर्हदवाणीको ग्रहण करके **कुसुमपुर** (पटना)मे मिथ्याशास्त्र वचनमे फँसे हुए जीवोके हितके लिए **तत्त्वार्थाधिगम** शास्त्र बनाया। आपका नाम था उमास्वातिर्ज[1]। **श्रीजिनप्रभसूरिजीने**

---

[1] **वाचक मुख्यस्य शिवश्रिय, प्रकाशयस प्रशिष्येण।**
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशांगविदः ॥१॥

अपने '**विविध तीर्थकल्प**'[1] मे भी उमास्वातिका उल्लेख गौरवके साथ किया है।

उमास्वातिके अस्तित्वपर प्रकाश डालनेवाले ऐतिहासिक साधनोका अभाव है। केवल प्रशस्तिमे जो **उच्चानागरी शब्द आया है उसीपर** कुछ कल्पना की जा सकती है। यह शाखा विक्रमकी प्रथम शतीसे तीसरी शतीके मध्यकालका सूचन करती है। जबतक किसी पुष्ट प्रमाणकी उपलब्धि नही होती, तबतक यदि उमास्वातिका यही अस्तित्व समय मान लिया जाय तो आपत्ति ही क्या है। यही मगधके प्रथम विद्वान् है, जिन्होने सर्वप्रथम जैनसाहित्यके निर्माणमे संस्कृत भाषाका उपयोग किया। इत. पूर्व प्राकृत या उसकी उपभाषाओमे ही जैनसाहित्य ग्रथित होता था।

पादलिप्तसूरि और पाटलिपुत्रका मुरुण्ड

पादलिप्तसूरिजी यो तो **अयोध्याके** निवासी थे, परन्तु पाटलिपुत्रके इतिहासमे भी आपका इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है कि उसकी उपेक्षा नही

वाचनया च महावाचकक्षमण मुण्डपाद शिष्यस्य।
शिष्येण श वाचकाचार्य मूलनाम्न-प्रथितकीर्ते ॥२॥
न्यग्रोधिका प्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
कौभीषणिना स्वाति तनयेन वात्सी सुते नाध्यम् ॥३॥
अर्हद्वचनं सम्यग गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
दुखार्तं च दुरागम विहित मति लोकम वगम्य ॥४॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन, सत्त्वानुकपया दृब्धम्।
तत्त्वार्थाधि गमाख्यं, स्पष्टमुमा स्वातिना शास्त्रम् ॥५॥
—तत्त्वार्थसूत्रीय प्रशस्ति

[1] **उमास्वातिवाचकश्च कौभीषणिगोत्रः पंचशतसंस्कृतप्रकरण प्रसिद्ध-स्तत्रैव तत्त्वार्थाधिगमं सभाष्यं व्यरचयत्। चतुरशीतिर्वादशालाश्च तत्रैव विदुषां परितोषाय पर्यणं सिषुः।**

की जा सकती। वे जब पाटलिपुत्र पधारे, तब मुरुण्डका शासन था। सूरिजीकी प्रशंसा वह पूर्व सुन चुका था। ऐसी स्थितिमे प्रत्यक्ष मिलनेपर अनिर्वचनीय आनन्दकी प्राप्ति होना स्वाभाविक है। राजाने स्वबुद्धि-बलसे जब पुन सूरिजीका परीक्षण किया तो और भी स्नेह सवर्द्धित हुआ। कारण कि मुरुण्ड स्वय गीता कथित **वाङ्मयतप** करते थे, उत्कृष्ट विद्वान् इनकी सभाके भूषण थे।

एक समय **मुरुण्डके** मस्तिष्कमे पीडा उत्पन्न हुई। सूरिजीने स्वय तर्जनीको घुटनेपर फिरा कर पीडा शान्त की (सभव है नसोंसे सम्बन्ध रखनेवाली यह घटना हो)। इस प्रसगपर प्रकाश डालनेवाली एक गाथा **निशीथभाष्यादि** ग्रन्थोमे इस प्रकार आई है——

जह जह पएसिणि जाणुयंमि पलित्तउ भमाडेई।
तह तह से सिर वियणा पणस्सई मुण्डरायस्स॥

राजा प्रकृतिस्थ होनेपर सूरिजीके निवासस्थानपर जाकर प्रतिदिन धार्मिक वार्तालाप करने लगा। राजाने आचार्यश्रीसे प्रश्न किया कि "महाराज हमारे वेतनभोगी भृत्य भी चित्त लगाकर काम नही करते और आपके शिष्य बिना किसी प्रकारके वेतनके सारा कार्य दत्तचित्त होकर करते है एव सदैव आपके आदेशकी प्रतीक्षा करते है।" आचार्यश्रीने कहा "हे राजन्, हमारे शिष्य उभय लोक साधक भावनाके वशीभूत होकर हमारी आज्ञाका तत्परतासे पालन करते है।" राजाको विश्वास न हुआ। पर, बादमे "गगा किस दिशामे बहती है" इसकी जाँचके लिए राजभृत्य और मुनि पृथक पृथक भेजे गये। मालूम हुआ "गगा पूर्वमुखी बहती है"।[1]

---

[1]इस घटनाका सुविस्तृत उल्लेख प्रभावकचरित्रान्तर्गत पादलिप्त-सूरि चरित्र श्लोक ४४से ९० तक किया गया है। स्थानाभाववशात् मूल-उद्धरण देनेका लोभ संवरण करना पड़ रहा है।

इस घटनाका उल्लेख **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** विशेषश्रावश्यकभाष्यमें किया है—

> **निवपुच्छिएण भणियो गुरुणा गंथवा कुर्ओ महो वहइ ।**
> **संपाइयवं सीसो जह तह सव्वत्थ कायव्वं ॥**

तित्थोगली पयन्ना और **विविधतीर्थकल्पमें** प्रतिपदाचार्यका उल्लेख आया है। वे कौन थे? विचारार्णीन प्रश्न है। परन्तु, आंशिक नाम भेद एव घटना समय साम्यको देखकर जी ललचाता है कि **पादलिप्तसूरि** या **महेन्द्रको** ही क्यो न **पाड़िवत्** या **प्रातिपदाचार्य** मान ले। **प्रभावकचरित्र** मे विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। प्राचीन प्राकृत-साहित्यमे भी इनका प्रासगिक उल्लेख पाया जाता है।

अब यहाँपर दो प्रश्न प्रमुख रूपमे उपस्थित होते है। प्रथम, मुरुण्ड कौन था और द्वितीय, पादलिप्ताचार्य्यका समय क्या हो सकता है। **मुनि कल्याण-विजयजीके** मतानुसार मुरुण्ड कुषाण थे और पादलिप्तके समकालीन मुरुण्ड राजा कुषाणोके राजस्थानीय थे। पुराणोमें इनका नाम **'वनस्फणि'** (अशुद्ध विश्वस्फाटिक, स्फणि स्फूर्ति) था। इस आधारपर तो पादलिप्त-का समय विक्रमकी दूसरी शतीका अंत भाग या तीसरीका आरम्भ काल मानना होगा। अच्छा तो यह होगा कि पादलिप्तके समयको ठीकसे जाननेके पूर्व हम मुरुण्डोके इतिहासको समुचित रूपसे जान ले। यो तो भिन्न-भिन्न विद्वानोने इसपर प्राप्त सामग्रीके आधारपर अपने-अपने अभिमत व्यक्त किये है। कलकत्ता विश्वविद्यालयके प्रोफेसर **डा० प्रबोधचन्द्र बागचीने इंडियन हिस्ट्री कांग्रेसमे** प्राचीन इतिहास विभागके आसनसे जो भाषण दिया है, वह बडा ही गभीर एव तथ्यपूर्ण है, जो मुरुण्डोकी स्थितिपर सार्व-भौमिक प्रकाश डालता है।[1] **स्टीन कोनो** मुरुण्डको शक मानते है; कारण कि शक भाषामे मुरुण्डका अर्थ होता है स्वामी। पर, बागची

---

[1] **दि प्रोसीडिंग्स आफ़ दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस सिक्स्थ सेशन १९४३।**

इससे भिन्न मत रखते है, गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्तके इलाहाबादस्थ लेखमे मुरुण्डका पता चलता है। खोहके छठवी शताब्दी ताम्रपत्रमे भी आता है। **उच्चकल्प—उचहराके** महाराज सर्वनाथकी माता **मुरुण्डदेवी** या **मुरुण्ड स्वामिनी** थी (वही पृष्ट ४०)।

फ्रासके सुप्रसिद्ध अन्वेषक प्रोफेसर **सिलवेनलेवीने** अपनी स्वतन्त्र खोजोके अनुसार प्राचीन चीनी साहित्यमे भी मुरुण्ड शब्दका पता लगाया है। सन् २२२—२७७के बीत दूत मडल फूनानके राजा द्वारा भारतवर्ष भेजा गया। करीब ७००० लीकी महद्यात्रा समाप्त करके मडल इगित स्थानको पहुँचा। तात्कालिक भारतीय सम्राट्ने फूनानके राजाको बहुत-सी भेट वस्तुएँ भेजी, जिनमे यू-ची देशके चार अश्व भी सम्मिलित थे। फूनानवाले भारतीय दूत-मडलकी मुलाकात चीनी दूतसे फूनान दरबारमे हुई। भारतके सम्बन्धमे पूछे जानेपर दूतमडलने बतलाया कि भारतके सम्राट्की पदवी **'मिउ-लुन'**[1] थी और इसकी राजधानी, जहाँ वह रहता था, दो शहर पनाहोसे घिरी थी एव शहरकी खातोमे जल सरिताकी नहरोसे आता था। पाठक सोच ले यह पाटलिपुत्रका ही सुस्मरण कराता है।—वही पृष्ठ ४०।

बहुत परिपक्व आधारोके न रहते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि कुषाण और गुप्तकालके बीच मुरुण्ड राज्य करते थे। **टॅलेमी**[2]की भूगोल और चीनी साहित्यके आधारोसे अवगत होता है कि ईसाकी दूसरी या तीसरी शताब्दीमे मुरुण्ड पूर्वी भारतमे राज्य करते थे। (वही पृष्ठ ४०।)

प्रोफेसर **बागचीने** अतिम निर्णय यही दिया है कि मुरुण्ड, तुखारोके साथ प्रथम तो भृत्योके रूपमे आये, बादमे उन्होंने स्वतन्त्र राज्य स्थापित

---

[1]यह शब्द चीनी भाषामें मुरुण्डका रूपान्तर मात्र है।
[2]इनका अस्तित्व समय ईस्वी सन् ८० है।

किया। यू-ची अश्वोसे ही उनका यू-ची देशसे सम्बन्ध प्रतीत होता है। मुरुण्ड, कुषाणोकी तरह तुखारोका एक कबीला था, जो कुषाणोके पतन और गुप्तोके अभ्युत्थानके इतिहासके बीच खाली हिस्सेकी पूर्ति करता है।

ग्रीक और रोमन लेखक जैसे **स्त्राबो, लीनी और पेरिप्लेट** एक **फ्रिनोयी** या **फुनि** नामक कबीले का नाम लेते हैं, जो तुखारो के सन्निकट रहता था। फ्रिनीका संस्कृत रूपान्तर मुरुण्ड भलीभाँति हो सकता है। इसीको वायु आदि पुराणकारोंने मुरुण्ड न लिखकर पुरुण्ड या पुरण्ड लिखा है। (—वही पृष्ठ ४१।)

मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड पुराणोके आधारपर १४ तुखार राजाओके बाद उनका राज्यकाल १०७ या १०५ वर्षोंतक सीमित था। १३ मुरुण्ड या मुसण्ड राजाओंने मत्स्यपुराणके अनुसार २०० वर्षतक और वायु तथा ब्रह्माण्डके अनुसार ३५० वर्षतक राज्य किया। लेकिन, **पार्जिटरके** अनुसार ३५० वर्ष २०० वर्षका अपवाद है, क्योकि विष्णु और भागवत पुराणोमें मुरुण्डोका राज्यकाल ठीक-ठीक १९९ वर्ष दिया है[1]। अब पौराणिक काल-गणनाके अनुसार तुखारोने १०७ या १०५ वर्ष राज्य किया। और अगर तुखार और कुषाण एक ही है तो कुषाणोका राज्य १८३ या १८५ ईस्वीतक आता है। अगर इस गणनामें हम मुरुण्ड राज्य-कालके भी २०० वर्ष जोड दे तो मुरुण्डोका अन्त करीब ३०५ ईस्वीमें पडता है। समुद्रगुप्त द्वारा विजय भी इसी कालके आसपास आकर पडता है[2]।

इतने लम्बे विवेचनके बाद एक प्रश्न और भी जटिल हो जाता है कि मुरुण्ड राज्यकालावधिके किस भागमें पादलिप्पाचार्य्य हुए? मुरुण्ड राज्यकाल १८५ ईस्वीसे ३८५ तक रहा। आश्चर्यकी बात तो यह है कि

---

[1] "डाइनेस्टीज आफ़ कलि एज", पृष्ठ ४४-४५, लंदन १९१३।

[2] प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३२।

इतिहासकारोने किसी भी राजाको नामसे सम्बोधित करना न जाने क्यों उचित नही समझा। नामाभावके कारण कठिनाई और भी बढ जाती है। **अनुयोगद्वार**की अनुश्रुत्यनुसार पादलिप्तका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दी ठहरता है। जब मुरुण्ड स्वतन्त्र शासक न होकर कुषाणोके ही सेवक थे। **बृहत्कल्पभाष्य** भाग तीन, पृष्ठ २२९-९३मे एक कहानी आती है, जिससे फलित होता है कि पाटलिपुत्रके मुरुण्डने एक दूत पेशावर भेजा था, जो राजासे तीन दिनतक न मिल सका। इससे पाटलिपुत्रके मुरुण्डो और पुरुषपुर—पेशावरके कुषाणोके घनिष्ठ सम्बन्धका पता चलता है। साथ ही साथ उपर्युक्त ग्रन्थान्तर्गत विभिन्न सास्कृतिक उल्लेखोसे तात्कालिक धार्मिक और राजनैतिक स्थितियोका धुंधला चित्र अकित होता है। कुषाणोकी धर्मान्धताके कारण जैनोको कष्ट झेलना पडा। परन्तु कनिष्क और वासुदेवकालमे वे स्वतन्त्रतापूर्वक उपासना कर सकते थे, जैसा कि मथुरा के शिलालेखो से अवभासित होता है।

दाहड़ और महेन्द्र

पादलिप्तसूरिके प्रसगमे उपाध्याय महेन्द्र और पाटलिपुत्रके राजा दाहडका उल्लेख पाया जाता है[1]। यह राजा लेशमात्र भी धर्मकी परवा

---

[1] अथो महेन्द्रनामाऽस्ति शिष्यस्तेषा प्रभावभूः।
सिद्धप्राभृतनिष्णातस्तद्वृत्त प्रस्तुवीमहि ॥
नगरी पाटलिपुत्रं वृत्रारिपुरसप्रभम्।
दाहडो नाम राजाऽत्र मिथ्यादृष्टिर्निकृष्टधीः ॥
दर्शनव्यवहाराणां विलोपेन वहन्मुदम्।
बौद्धानां नग्नताम् शैवव्रजे निर्जटतां च सः ॥
वैष्णवाना विष्णुपूजात्याजनं कौल दर्शने।
धम्मिल्लं मस्तके नास्तिकानामास्तिकतां तथा ॥

न करता था। बौद्ध साधुओंको अनावृत करवा देता था। शैव साधुओंकी जटाएँ मुंडवा देता था। वैष्णव साधुओंको मूर्ति-पूजा छुडवानेको बाध्य करता था। जैनसाधुओंको सुरापानके लिए मजबूर करता था, और ब्राह्मणोंको चरणोंमें प्रणाम करवाता था। पाटलिपुत्रके सघने इस अत्याचारको शान्त करनेके लिए भरौचसे उपाध्याय महेन्द्रको बुलाया, जिसने अपनी शक्तिसे राजाको प्रबुद्ध कर न केवल जैन ही बनाया, अपितु कई ब्राह्मणो सहित जैन-मुनि-धर्मकी दीक्षा भी अगीकार करवाई। (प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ३५।) तित्थोगालीपयन्ना भी एक कलकी राजाकी सूचना देता है। तात्कालिक कुषाण राजाओंके लेखो एव ब्रह्माण्ड, वायुपुराणोसे प्रमाणित होता है कि वह राजा वनस्फर ही था। परन्तु, इतिहासविदोंमें एतद्विषयक मतैक्य नही है। जिनप्रभसूरि भी कलकी राजाकी सूचना करते हैं। हो सकता है वह वनस्फर ही हो, जिसका समय ईस्वी सन ८१से १२० तक था।

मुझे यहाँपर प्रासगिक रूपसे सूचित कर देना चाहिए कि इन दिनों

ब्राह्मणेभ्यः प्रणाम च जैनर्षीणा स पापभूः।
तेषां च मदिरापानमन्विच्छन् धर्म निह्नवी ॥
आज्ञा ददौ च सर्वेषामाज्ञाभगे स चाविशत्।
तेषां प्राणहर दण्डमत्र प्रतिविधिर्हि कः ॥
नगरस्थितसघाय समादिष्ट च भू भुजा।
प्रणम्या ब्राह्मणाः पुण्या भवद्भिर्वोऽन्यथा वधः।
धन-प्रमाविलोभेन मेने तद्वचनं परैः।
निष्किचनाः पुनर्जैनाः पर्यालोच्य प्रपेदिरे ॥
देहत्यागाच्च नो दुःखं शासनस्याप्रभावना।
तत् पीडयति को मोहो देहे यायावरे पुनः ॥ (?)

—प्रभावकचरित्र, पृष्ठ ३४।

बिहारकी कलापर **ईरानी प्रभाव** पर्याप्त था। **बसाढ़की** जो मृण्मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है, जिनमे दो मस्तक प्रधान हैं, उनमे वर्तुलाकार टोप और चागेदार टोपी है, जो स्पष्टत विदेशी है। इसका निर्माण-काल मौर्यान्त या शुगकाल निर्द्धारित किया गया है। मैंने बालकोंके खिलौनेकी कुछ चद्दरे देखी हैं। उनके आधारपर मै कह सकता हूं कि वे ईरानी कलासे बहुत-कुछ अशोंमे साम्य रखती है। यद्यपि मागधीय प्रस्तरोंपर उत्कीर्णित प्राचीनतम कलावशेषोका सुव्यवस्थित अध्ययन अद्यावधि नही हो पाया है। फिर भी अपेक्षित ज्ञान और साधनोंकी अपूर्णताके कारण जो कुछ भी खडित सास्कृतिक प्रतीक उपलब्ध हुए है उनको देखनेसे पता लगता है कि अशोकके राज्यकालमे ईरानी कलाके कुछ अलकरण सौन्दर्य सम्पन्न होनेके कारण बिहारके कलाकारोंने अपना लिये थे। ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीमे ईरानी व्यापारी बनकर **मथुरा** तक आ गये थे। ऐसी स्थितिमे उनकी कलाका प्रभाव भारतपर पडना असम्भव नही। जहाँ सास्कृतिक और बुद्धिजीवी राष्ट्र या मानवोका पारस्परिक सम्मेलन होता है, वहाँ एक दूसरोके उन्नतिमूलक तत्त्वोका आदान-प्रदान होता ही है। बिहारमे मुरुण्ड और कुषाणकालके प्राचीन प्रतीक मृण्मूर्तियाँ ही है। पुराण, जैन और चीनीसाहित्यसे स्पष्ट विदित होता है कि बिहारके कुछ भागोपर विदेशी मुरुण्डोका आधिपत्य था। बिहारमे सूर्यपूजाका जो विस्तृत प्रचार पाया जाता है, तदनुसार सूर्यकी जो प्राचीन कलापूर्ण सख्यातीत मूर्तियाँ नालन्दादि खण्डहरोमे उपलब्ध होती है, उनसे प्रमाणित होता है कि वे भी ईरानके ही प्रभावके प्रतीक हो, तो आश्चर्य ही क्या है। क्योकि सूर्य-पूजा ईरानियोमे शताब्दियो पूर्व ही प्रसिद्ध थी। यो तो श्रमणभगवान् महावीरकालीन सामाजिक आचार-पद्धतिका अध्ययन करनेसे मालूम होता है कि बिहारमे सूर्य और चन्द्र-पूजा विशिष्ट प्रकारसे की जाती थी। बालक-जन्मके बारहवे दिन सूर्य-चन्द्रकी मूर्तियाँ बनवाकर सूर्य-चन्द्रके दर्शनका विधान समाप्त किया जाता था। सूर्यके प्राचीन अवशेष—

मंदिर, सरोवर आदि आज भी नालदामें वर्तमान हैं।[1] परन्तु, आश्चर्य है कि इसपर कलाकी दृष्टिसे आजतक कुछ अध्ययन हुआ ही नहीं।

पाटलिपुत्र और वैशालीमें अभीतक पूर्णतया वैज्ञानिक रूपसे खुदाई नहीं हुई। मेरा विश्वास है कि बिहार-सरकार यदि सांस्कृतिक भावनाओंसे उत्प्रेरित होकर उपर्युक्त स्थानोंमें उत्खनन कराये तो न केवल प्राचीन मागधीय उन्नत सांस्कृतिक तत्त्वोंका ही ज्ञान होगा, अपितु मुरुण्ड-समस्या और कलापर ईरानियोंके प्रभावका प्रश्न भी बहुत-कुछ अंशोंमें सुलझ जायगा।

इन पंक्तियोंका लेखक वैशालीके खडहरोंको व खुदाईसे प्राप्त मृण्मूर्तियोंको देख चुका है, जो पटना-आश्चर्यगृहमें सुरक्षित हैं। आज भी वैशालीमें पुरातन दुर्गकी दीवालोंके चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं, कतिपय मूर्तियाँ वहाँके विस्तृत जलाशयपर बने एक मंदिरमें सुरक्षित हैं। अन्य ऐतिहासिक सामग्री वहींके एक किसानके पास विद्यमान है।

वज्रस्वामी

इनका जन्म ईस्वी सन् ३०में वैश्य-कुलमें हुआ था। गुरुके[2] स्वर्ग-

---

[1]मुनि कान्तिसागर—"मेरी नालंदायात्रा"।

[2]गुरौ प्रयाते दिवं प्राप्ते वज्रस्वामिप्रभुर्ययौ।
पुरं पाटलिपुत्राख्यमुद्याने समवासरत्॥
अन्यदा स कुरूपः सन् धर्मं व्याख्यानयद् विभुः।
गुणानुरूपं नो रूपमिति तत्र जनोऽवदत्॥
अन्युद्युश्चारुरूपेण, धर्माख्याने कृते सति।
पुरक्षोभभयात् सूरिः कुरूपोऽभूज्जनोऽब्रवीत्॥
प्रागेव तद्गुणग्रामगानात् साध्वीभ्य स आवृतः।
धनश्य श्रेष्ठिनः कन्या रुक्मिण्यत्रान्वरज्यत॥
प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ६।

तत्रैव (पाटलिपुत्र) महाधनधनश्रेष्ठिनन्दनीरुक्मिणी श्रीवज्रस्वामिनं पतीयन्ति प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभ चूडामणिना प्रव्राजिता।
—'विविधतीर्थकल्प', पृष्ठ ६९।

वासान्तर वह पाटलिपुत्र उद्यानमें आकर ठहरे। उनकी देहकी कांति कामदेवको भी लज्जित करती थी। नगर-जन क्षुब्ध न हो, इस हेतु वे अपना वास्तविक रूप छिपाकर व्याख्यान देने लगे। पर, जनताने सोचा कि वाणीके अनुसार गुरुका रूप नहीं है। तब आपने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया।

पाटलिपुत्रमें जैन-आर्य्याएँ ठहरी हुई थी। स्थानीयश्रेष्ठिकी पुत्रीने उनके मुखसे वज्रस्वामीके गुणोंकी स्तुति सुनी। अत उनपर अनुरक्त होकर पितासे कहा कि मेरे स्वामी वज्र ही होंगे, अन्यथा अग्नि-शरण जाऊँगी। अब पिता, पुत्रीसहित विराट् सम्पत्तिको लेकर महाराजके पास आया। सारा वृत्तान्त निवेदित किया। आचार्य्यश्रीने स्पष्ट शब्दोमें कहा कि "हे भाई क्या तुम रेणुसे रत्नराशि, तृणसे कल्पवृक्ष, गर्तसे गजेन्द्र, काकसे राजहंस, मातंग-गृहसे राजमहल एवं क्षार जलसे अमृतके अनुसार, कुद्रव्य और विषयास्वादसे मेरे तपोबलका अपहरण करना चाहते हो? भोगयुक्त धनसे तो आत्माके गुणोंका पतन होता है। आपकी पुत्री सचमुच यदि मुझपर अनुराग रखती है, तो वह ज्ञानदर्शन ग्रहण करे।" यह सुनकर पुत्री रुक्मिणीने दीक्षा अंगीकार की। फिर यहाँसे वे उडीसाकी ओर प्रस्थित हुए।

आर्यरक्षित सूरि

आपका जन्म ईस्वी पूर्व ४में हुआ था। ईस्वी १८में दीक्षा ग्रहण की। आप वेद-वेदांगके पारगामी विद्वान् माने जाते थे। सरस्वतीकी तीव्र साधनासे उत्प्रेरित होकर आप पाटलिपुत्र आये और १४ विद्याओंका गम्भीर अध्ययन किया[1]। इस उल्लेखसे सूचित होता है कि ईसाकी

---

[1] अतृप्तः शास्त्रपीयूषे विद्वानप्यार्यरक्षितः।
पिपठीस्तद्विशेषं स प्रययौ पाटलीपुरम्॥

प्रथम शताब्दीमे, पाटलिपुत्रमे ज्ञान-विज्ञानकी सभी शाखाएँ इतनी विस्तृत हो चुकी थी कि इतर प्रान्तीय लोगोको अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करनेके लिए यहाँ आना अनिवार्य होता था। आप जैनमुनि होनेके बाद भी पाटलिपुत्रमे आये थे।[1] आपने जैनसाहित्यको **धर्मकथानुयोग, चरण-करणानुयोग, द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग** चार विभागोमे विभाजित किया। ईस्वी ३१मे आपका स्वर्गवास हुआ।

गुप्त और अन्तिम गुप्तोके समयमे पाटलिपुत्रकी जैनदृष्टिसे कैसी उन्नति रही होगी, पर्याप्त साधनोके अभावमे कुछ नही कहा जा सकता। क्योकि गुप्तोने अपनी राजधानीका भी परिवर्त्तन कर दिया था। सातवी शताब्दीने चीनी यात्री ह्युअान-चूआङ् पाटलिपुत्रमे आया था। उसने यहाँके स्थूलिभद्रके निर्वाण-स्थानका जो उल्लेख किया है, उसपरसे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन दिनो जैन-समाज अवश्य ही उन्नतावस्थामे रहा होगा, और वह स्थान भी सार्वभौमिक प्रसिद्धिको प्राप्त कर चुका होगा। चीनी यात्रीने आगे चलकर सूचित किया है कि **कमलदहमे** पाखण्डियोके रहनेका स्थान-उपाश्रय है। इससे यह ध्वनित होता है कि जैन मुनियोका वहाँ निवास रहा करता था। इन दिनो वे नगर-निवास न कर उद्यानमे ही ठहरते थे। पाखण्डी कहनेका कारण जैन-बौद्ध असहिष्णुता ही है। आज भी यह स्थान एक टीलेपर सुरक्षित[2] है। पुरातत्त्व-विभाग या जैन-समाजके नेताओको चाहिए कि वे वैज्ञानिक दृष्टिसे उसका खनन करवाएँ।

अचिरेणापि कालेन स्फुरत्कुण्डलिनीबलः।
वेदोपनिषदं गोप्यमाप्यैष्ट प्रकृष्टधीः॥ 'प्रभावक चरित्र' पृष्ठ ९।
[1] **अखंडितप्रयाणै. स शुद्धसंयमयात्रया।**
संचरन्नाययौ बन्धुसहितः पाटलीपुरम्॥ 'प्रभावक चरित्र', पृष्ठ १२।
[2] **खण्डहरोंका वैभव, पृ० ४४।**

नागभट्ट-नागावलोक

इसे इतिहासमे **नागभट्ट, नागलोक** और **आम** भी कहते है। यह **मौर्यवंशीय** यशोवर्माका पुत्र था। **ग्वालियर** इसकी राजधानी थी। राजगृहपर आक्रमण कर उसने **समुद्रसेन**को परास्त किया था। १२ वर्ष तक छावनी डालकर उनसे लडा था। इसके पौत्र भोजका ननिहाल पाटलिपुत्रके शासकके यहाँ था। राजगृहके आक्रमणके बाद ही उनका पारिवारिक सम्बन्ध पाटलिपुत्रके शासकके साथ जुडा। यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ग्वालियरके शासकको मगधपर आक्रमण करनेके लिए किन तत्त्वोने उत्प्रेरित किया। क्योकि ग्वालियरसे मगध पडता भी दूर है, एव मार्गमे अनेक छोटे-मोटे भिन्न-भिन्न राज्य पडते थे। यह सचमुचमें एक समस्या है। तात्कालिक और तत्परवर्ती जो कुछ भी ऐतिहासिक साधन-सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उनमेसे ऐसा कोई भी उल्लेख अवलोकनमे नही आया जो समुद्रसेनका ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित कर सके और पाटलिपुत्रके शासकका नाम भी अवलोकनमे नही आता। सम्भवतः उन दिनो पाटलिपुत्र साधारण ग्रामके रूपमे था। इस घटनाका उल्लेख केवल **प्रभावकचरित्र** (रचना काल १३३४ विक्रम)मे ही आता है। **जिनप्रभसूरिजी,** भी मौन है। अत मानना होगा कि चौदहवी शताब्दी तक इस घटनाको सार्वत्रिक जानकारीका रूप न मिला होगा, अथच **'विविधतीर्थकल्प'**कार अवश्य ही कुछ न कुछ लिखते। आमका राजत्वकाल विक्रमकी नवी शती पडता है। विन्सेट-ए स्मिथकी **अर्लि हिस्ट्री आफ इंडिया**से पता चलता है कि आमकालमे मगधपर पाल राजाओका अधिकार था, जो बौद्ध-मतावलम्बी थे। ईस्वी सन्की ८वी ईशताब्दीमें इनकी राजधानी **ओदंडपुर—उदंडपुर**मे थी। यहाँ उन्होने विराट् बौद्ध विहारका निर्माण करवाया। जो इस समय नगरके वायव्य कोणमे निर्जन पहाडपर है। इसमे **अवलोकितेश्वर**की चन्दनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। इसी **उदंडपुर**का बौद्धविहार प्रसिद्ध होनेके कारण ही वर्त्तमान विहारका

नाम बिहार पडा जान पडता है। **शरीफ़** शब्द **मख़दूमसाहकी क़ब्र** होनेके कारण जोड दिया गया। इनकी कब्र ईस्वी सन् १५६९में बनी। इनकी मृत्यु ईस्वी १३८०में हुई, जैसा कि **जरनल आफ़ दि रायल-एशियाटिक सोसयटी आफ़ बंगाल** १८३९' पृष्ठ ३५०से अवगत होता है। स्मरण रखना चाहिए कि चौदहवी शताब्दीके ऐतिहासिक ग्रन्थोमें **उदंड-बिहार** शब्द वर्तमान **बिहारशरीफ़** सूचक अर्थमें आया है। यहाँके ज़मीदार बाबू **जवाहरलालजी** सुचन्तीके संग्रहमें पालकालीन एक बौद्धमूर्ति है, जिसपर **उदंडपुर**का नाम स्पष्टोत्कीर्ण है।

पालकालीन मगध बहुत ही उन्नत था। खासकर तत्कालीन शिल्प-कलाका विकास यहाँ चोटीपर था। यद्यपि इस कालसे सम्बन्धित गृह उपलब्ध नही है, केवल जैन, बौद्ध एव वैदिक तथा तत्र शास्त्रोसे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न प्रकारकी जो प्रतिमाएँ उपलब्ध होती है, उन्हीपरसे कहना पडता है कि कलाकार मस्तिष्क एव हृदय द्वारा मथित उन्नत मनोभावोका व्यक्तीकरण सुकुमार कर द्वारा बडे सुन्दर ढगसे कर पाये है। इन प्रतिमाओंमे वस्त्र-विन्यास, शारीरिक गठन, एव हाव-भावकी मुद्राएँ भरत मुनिके नाटच-शास्त्रका मूर्त रूप उपस्थित करती है। तदुपरि जो आभूषण पाये जाते है, वे न केवल उन दिनोके आर्थिक और सामाजिक विकासके ही ज्वलत प्रतीक है, परन्तु, हमे वे इस बातकी शिक्षा देते हैं कि उन दिनों कौन-कौन-से आभूषण ऐसे थे, जिनका प्रथमोल्लेख सस्कृतादि साहित्यिक ग्रथोमे आया, तथा उनमेसे कब-कब कलाकारोने उनको पाषाणोपर अवतारित किया। ये विषय साधारण प्रतीत होते है, परतु, फिर भी प्रतिमा या गृहका निर्माणकाल निर्धारित करना हो तो इनसे बडी मदद मिलती है। वे ही आभूषण आगे चलकर प्रान्तीय रूप धारण कर लेते है या एक ही अलकरण पृथक-पृथक प्रान्तोमे अपने-अपने ढगसे पनप जाता है। उदाहरणार्थ, हँसली आप किसी प्रान्तके पुरातत्त्वमे देखे, तो उनमे हँसली अवश्य पायेगे। पर उनका अपना अलग-अलग स्थान है। छठवे कालमे, कर्णकुण्डल, नागावलि

आदि पाये जाते हैं जो अपने एक राज्यकालके सूचक हैं। इन विषयोंके गंभीर अध्ययन करते समय हम केशविन्यास-कलाकी उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्येक राज्यकालमें उनमें भी सामयिक परिवर्तन हुआ ही करते हैं। परन्तु, बिहारके विद्वानोंका ध्यान अभीतक इन महत्त्वपूर्ण विषयोंपर आकृष्ट नहीं हो पाया है, यह दुर्भाग्यका विषय है।

यहाँपर प्रासंगिक रूपसे मुझे स्पष्ट कर देना चाहिए कि ईसाकी सातवीं शताब्दीमें पटनाकी हालत सुरक्षित नहीं थी। पालकालीन ताम्रपत्रोंसे अवगत हुआ है कि पाटलिपुत्र भी उनकी राजधानी कभी रही थी। उपर्युक्त पंक्तियोंमें सूचित किया जा चुका है कि सातवीं शताब्दीमें जब ह्यूअान-च्वाङ् ने पाटलिपुत्रकी यात्रा की थी, तब अशोकके गृह खंडहरके रूपमें परिणत हो चुके थे। जिस स्थान पर वह बसा था, उसके उत्तर भागमें गंगातटपर एक दुर्गविषयक ग्राममें केवल हजार मनुष्य बसते थे। ईस्वी ८१०में **धर्मपालका** दरबार वहींपर लगता था। मालूम होता है, तबतक पाटलिपुत्र पुनरुत्थानसे गौरवान्वित हो चुका होगा।

मगधकी उन्नतिपूर्ण स्थिति बारहवीं शताब्दीमें आकर पतनोन्मुख हो जाती है। **कुतुबुद्दीन**-सरदार **बख्तियारके** पुत्र **मुहम्मदने** ईस्वी सन् ११९७के करीब बिहारपर भीषण आक्रमण किया, इसमें न केवल जानतिक ही क्षति हुई, अपितु, जो अकथनीय सांस्कृतिक क्षति हुई, उसे यहाँ किन शब्दोंमें व्यक्त किया जाय ! हृदय उद्वेगसे भर आता है। हजारों ब्राह्मण और बौद्ध-साधु निर्दयतापूर्वक कत्ल किये गये। साथ-ही-साथ न जाने कितने वर्षोंके अथाह परिश्रमद्वारा संचित विविध विषयक साहित्यिक ग्रंथोंको बुरी तरह जलाया गया। इस हत्याकांडमें जैनोंको भी बहुत बडा नुकसान उठाना पडा। मुसलमान सरदारोंने बिहारके पाटनगरपर, ईस्वी सन् १२४३में, अधिकार किया।

एक बातका मुझे अवश्य ही आश्चर्य है कि राज्यगृहमें जो जैन-प्रतिमाएँ पायी जाती हैं, वे मुसलमानोंके अत्याचार होनेके बाद भी अखंडित कैसे रह

गयी। हो सकता है, वे भूमिगृहमे रख दी गयी हो; परन्तु, वैसे भूमिगृहका न तो आजतक कोई पता ही चला है और न किसीने उनका उल्लेख ही किया है।

वाचनाचार्य राजशेखर

चौदहवी शताब्दीके जैन-संस्कृत साहित्यपर दृष्टि केन्द्रित करनेसे विदित होता है कि इन दिनो जैनो द्वारा जो साहित्य निर्मित हुआ, वह केवल साम्प्रदायिक तत्त्वोके आधारपर ही नही, अपितु जनोपयोगी एव विद्वद्भोग्य तथा तत्कालीन जानतिक सास्कृतिक तत्त्वस्फोटक ग्रथ भी प्रचुर परिमाणमें निर्मित हुए, जिनमे **युगप्रधानाचार्य गुर्वावली** मुख्य है। हम इसे ऐतिहासिक दैनन्दिनी भी कह सकते है। इसमे उल्लेख आया है कि **वाचनाचार्य राजशेखरने** अपने सहयोगी मुनियोके साथ **बनारस** होते हुए **राजगृह, पावापुरी, नालन्दाकी** भक्तिसिक्तहृदयसे यात्रा कर, **उदंडविहार** अथवा बिहार (पटना) में वि० १३५२ मे चातुर्मास किया।[1] यद्यपि इसमे पाटलिपुत्रका नामोल्लेख नही है। परन्तु, उनके आवागमनकी भौगोलिक स्थितिको देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वे पाटलिपुत्र अवश्य ही आये होगे। और महत्त्वपूर्ण घटना घटित नही होनेके कारण नामोल्लेख नही किया होगा।

---

[1]सं० १३५२ जिनचन्द्रसूरिगुरूपदेशेन वा० राजशेखरगणिः सुबुद्धि-राजगणि हेमतिलकगणि-पुण्यकीर्तिगणि–रत्नसुन्दर मुनिसहितः श्री-वृहद्ग्रामे विहृतवान्। ततश्चतश्च ठ० रत्नपाल सा० चाहडप्रधान श्रावक प्रोषिताभ्यां स्वभ्रातृ-हेमराज-भागिनेयवांच् श्राविकाभ्यां सपरिवाराभ्यां सा० बोहिथ पुत्रेण सा० मूलदेवश्रावकेण श्रीकौशाम्बी—वाणारसी—काकिन्दी-राजगृह-पावापुरी-नालान्दा-क्षत्रियकुण्ड ग्राम-अयोध्या-रत्नपुरा-दिनगरेषुजिनजन्मादि पवित्रितेषु तीर्थयात्राकृता।

—युगप्रधानाचार्य गुर्वावली, पृष्ठ ६०।

इन दिनो बिहारमे **महत्तियाण**[1] जातिके अधिक जैनी थे । उनकी स्थिति **आर्थिक** दृष्टिसे अच्छी थी । उन लोगोने अपना एक स्वतत्र जैनमदिर भी **बनवाया** था जो आज भी **मखियान महल्लामे** बहुत ही जीर्ण दशामे वर्तमान है। कुछ लोग इसे खरतरगच्छीय मदिर होनेके कारण उठानेके विचारमे है, परन्तु, प्राचीन ऐतिहासिक स्मारक-रूपी मदिरको हटानेमे **बुद्धिमानी** नही होगी । राजगृह, नालदा और पावापुरीके कुछ प्रसस्त-रोत्कीर्ण एव प्रतिमा-लेखोके अन्वेषणसे अवगत हुआ कि १७-१८ शती तक महत्तियाणोका प्राधान्य रहा, बादके गौरव-सूचक उल्लेख नहीके बराबर मिलते है।

कुंरपाल-सोनपाल

दोनो भाई **आगरेके** निवासी थे । आपने आगरेसे बिहार स्थित **सम्मेदशिखर—पार्श्वनाथ हिल्सके** लिए विराट् सघ निकलवाया था। सवत १६७१ मे वह सघ पाटलिपुत्र भी आया था । उन दिनो यहाँ ऋषभदेव स्वामी एव पार्श्वनाथ स्वामीके दो श्वेताबर जैन-मदिर थे । आज भी यहाँके मदिरोमे जो दो-चार बडी जैन-प्रतिमाएँ है, उनपर इनका लेख खुदा हुआ है । हो सकता है, इन्होने यहाँपर प्रतिमाएँ रखी हो । पाटलिपुत्रके जायसवाल **जैनीसाह** और **खडेलवाल मयणु**ने सघको भोज दिया था, इसका वर्णन ठीक उसी समय बने एक रासमे दिया गया है । यह रास तत्कालीन बहुतसे विहारके भौगोलिक तथ्योकी सूचना देता है । इन दिनो पटनामे

---

[1] **इस वंशकी विशाल ऐतिहासिक प्रशस्ति (वि० सं० १४४२ आषाढ़ वदि ६) दो पाषाणोपर वर्तमानमें राजगृहमें स्व० बाबू पूरणचन्दजी नाहरके संग्रहालयमें सुरक्षित है । इसमें फिरोजशाह, उनका मंडलेश्वर तथा तदधीन सेवक सहणासदुरदीनके नामोल्लेख है । बिहारके ऐति-ह्यातत्त्व गवेषकोका मैं इसपर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ ।**

महतियाण जातिके जैन बसते थे। उपर्युक्त रासमे कहा गया है कि आगे पावापुरी जानेका मार्ग सँकड़ा था, अत बैलगाडियाँ यहीपर छोडकर डोलियाँ (पालकी) करनी पडी। वानरवन भी पटनाके सन्निकट बताया गया है और **महानदी** पारकर विहारमे प्रवेश करनेका उल्लेख है। यह उल्लेख शायद **बख्तियारपुर** और **हरनौत**के बीच जो विशाल नाले पडते हैं, उन्हीसे सम्बन्धित है।

कविवर बनारसीदास

सत्रहवी शताब्दीके दार्शनिक ग्रन्थ-प्रणेता और हिन्दीके उत्कृष्टतम ग्रन्थ-निर्माता साधक कवियोमे **बनारसीदास**का स्थान भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आपने हिन्दी-कविता-साहित्यकी दो रूपोसे अभिवृद्धि की, स्वतत्र ग्रन्थ निर्मित कर और प्राकृत-सस्कृत भाषाओके प्राचीन ग्रन्थोका प्रामाणिक अनुवाद कर आपने आध्यात्मिक धाराको ही अपनाया था। भौतिकवादी तत्त्वोको प्रोत्साहन देनेवाली कविताके निर्माणका कटुफल आप युवावस्थामे ही चख चुके थे। इनका साहित्य जनकल्याणके लिए प्रचार-योग्य है। हिन्दीके जीवनचरित्र-विषयक ग्रन्थोमे **अर्धकथानक** इनकी अमर कृति मानी जाती है। इनके पिता **खरगसेन** पाटलिपुत्र आये थे। उनको यहाँ उदर-रोग भी उत्पन्न हुआ था।[1] इनकी बडी पुत्री यानी बनारसीकी बहनका विवाह भी पाटलिपुत्रमे ही वि० स० १६६४मे हुआ था।[2] कविवर स्वयं

---

[1] "मासि चारि ऐसी बिधि भए, खरगसेन पटने उठि गए

× × ×

साठें करि पटनेसौं गौन, खरगसेन आए निज भौन,

× × ×

[2] खरगसेन पटनेमैं आइ, जहमति परे महा दुख पाइ
उपजी बिथा उदरके रोग, फिरि उपसमी आउबलजोग २४०

"अर्धकथानक"

नरोत्तमदासके साथ व्यवसायार्थ पटना आये और यहाँ ६-७ मास तक रहे थे।[1] इन उल्लेखोसे विदित होता है कि उन दिनो पाटलिपुत्रमे श्रीमाल जातिके लोग भी बस गये होगे, और आज भी उनके कुछ घर है, जिनमे बाबू पदमसिंह बदलिया प्रमुख हैं।

हीरानन्द साह

बगालके राजनैतिक इतिहासमे जगत्सेठका स्थान महत्त्वपूर्ण है। १८ वी शताब्दीमे उनके वशके सदस्योकी परिगणना बगालके भाग्य-विधाताओमे की जाती थी। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध पटनासे भी था। स्पष्ट कहा जाय तो न केवल यहाँसे उनका पारिवारिक सम्बन्ध ही था, अपितु उनके कुछ भाई पटनामे रहते भी थे। अत कहना चाहिए कि जगत्-सेठकी उन्नतिकी पूर्व भूमिका पाटलिपुत्रमे ही निर्मित हुई।

जगत्सेठ और उनके वशजोकी सुकृतिपर प्रकाश डालनेवाले गुजराती और अगरेजी भाषामे कुछ ग्रथ मिले हैं। मुझे कलकत्ताके स्वर्गीय बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरके सग्रहसे माणकदेवीरास नामक ऐतिहासिक कृति प्राप्त हुई है, जिसमे जगत्सेठकी माताका सम्पूर्ण जीवनचरित वर्णित है। इस कृतिको मै इसलिए प्रामाणिक मानता हूँ कि इसके निर्माता यति निहाल, वर्षों तक उनके सान्निध्यमे रहे एव माणकदेवीके स्वर्गस्थ होनेके ठीक तेरहवे दिन इसकी रचना की।

---

[1] आयौ सबल चौसठा, कहौं तहाँकी बात। २७७
खरगसेन श्रीमालके हुती सुता द्वै ठौर
एक बियाही जौनपुर, दुतिय कुमारी और। २७८
सोऊ ब्याही चोसठै, संवत फागुन मास
गई पाडलीपुर विसै, करि चिंता दुख नास। २७८ (अर्धकथानक)
बैठे तब उठि बोले साहु, तुम बनारसी पटनें जाहु। (अर्धकथानक)

उपर्युक्त 'रास' मे बताया गया है कि गगानदीके तीर पर, **शाहीजादपुरमें बिडाणी** गोत्रीय[1] **पूरणमलकी** धर्मपत्नी **गुल्लो** बहुकी रत्न-कुक्षिसे सवत् १७३७ श्रावण वदि एकादशीके दिन **किशोरकुँवरि—अशोका** जन्म हुआ। क्रमश युवावस्था प्राप्त होनेपर **हीरानन्दके** पुत्र **माणिकचन्द्रके** साथ उनका विवाह हुआ। धनधान्यसे परिपूर्ण होनेके कारण उनका **माणिकदेवी** नाम ससुरालमे रखा गया।

बात यह है कि जगत्सेठके पूर्वज **गहिलड़ा गोत्रीय हीरानन्द** मूलत **नागौरके** निवासी थे, पर बगाल जानेके पूर्व पटनामे बस गये[2]। इनके सात पुत्रोंमेसे कुछ एक बगालकी ओर गये एव कुछ पाटलिपुत्रमे ही रह

---

[1] **बिडाणी गोत्रीय जैनोंकी पर्याप्त संख्या १७वीं शताब्दीसे ही शाहीजादपुरमें होनेका उल्लेख सोनपाल, कुँवरपाल संघवर्णनमें (संवत् १६७१) तथा भिन्न-भिन्न तीर्थमालाओंमें पाया जाता है। सम्मेदशिखरके मंदिरोंमें एक लेख भी पाया गया है।**

कविवर बनारसीदासजीका पारिवारिक सम्बन्ध भी यहाँसे था। १७-१८ शतीकी तीर्थमालाओंमें जैनोंके गौरवपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं। पता नहीं, वर्त्तमानमें क्या हाल है।

[2] **नगर सुबस पटणेबसै, ओशवंश सिरदार।**
गोत गहिलड़ा जगप्रगट, दौलतवंत दातार ॥१॥
हीनन्द नरीन्द्रसम, मानै सहु कोई आंण।
सत पुत्र तेहने प्रगट, अदभुत गुण माणि खांण ॥२॥
मांणकचंद्र नरेन्द्रसम, चौदह विद्या भंडार।
लछन अंग बत्तीस तसु, काम तणों अवतार ॥३॥
बर देषित हरषित भए, कीनो तिलक तिवार।
करी सगाई ब्याहनी, रची बरात विस्तार ॥४॥

—'माणकदेवी रास'

गये। पाटलिपुत्रमे हीरानन्दने जैन-धर्मके मदिर एव **श्रीजिनदत्तसूरिजीकी दादावाड़ी**[1] बनवायी थी, जैसा कि उनके दस्तावेजोसे प्रतीत होता है। वर्तमानमे, वह पाटलिपुत्र स्थित समस्त जैन-सस्थाओके प्रधान कार्यवाहक **सेठ मंगरचन्दजी शिवचन्द्र श्रावकके** अधिकारमे है। इस समय पटना सिटी चौकके उत्तर एक गली पायी जाती है, जिसे **हीरानन्द हासकी गली** कहते है। इसका सम्बन्ध उपर्युक्त हीरानन्दसे ही है। कहा जाता है, आपका बनवाया हुआ मकान भी किसी समय सुरक्षित था, पर वह कालवशात गगाके गर्भमे प्रविष्ट हो गया। घाट भी आप ही का बनवाया हुआ है। स्मरण रखना चाहिए कि **हीरानन्द, शाहजादा सलीमके** कृपा-पात्र एव खास जौहरी थे[2]। पटना जैसी ही दिल्लीमे भी **हीरानन्दकी गली** प्रसिद्ध है।

गुजराती साहित्यमें पटना

मगध, जैन-सस्कृतिका प्रधान क्षेत्र होनेके कारण, एव जैनोके ऐतिहासिक अति प्राचीन तीर्थ तथा शासनाधीश्वर **वर्द्धमान महावीरकी** विहार-भूमि होनेके कारण जैन-मुनियोका एव बृहत्तर सघोका आगमन समय-समयपर यहाँ हुआ ही करता था। यद्यपि वर्तमान-समान पूर्वकालमे आवागमनकी सुविधा नही थी, तथापि भक्त लोग बडे-बडे सघोको लेकर तीर्थ-लाभ प्राप्त करते थे। जैनश्रमण पश्चिम भारतसे पैदल चलकर १८ वी शताब्दीमे अधिकाश रूपसे मगध आये थे। उनमेसे बहुतोने अपने भ्रमणको लिपिबद्ध कर ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान किया है, जो गुजराती

---

[1] यह स्थान वर्तमान पटना सिटी स्टेशनके दक्षिणमें पड़ता है।

[2] आयौ संवत् इकसठा, चैत मास सित दूज। २२३
साहिब साह सलीम कौ, हीरानन्द मुकीम।
ओसवाल कुल जौंहरी, बनिक वित्तकी सीम॥ २२४

—अर्धकथानक, पृष्ठ २१।

भाषामे परिगुम्फित है। बिहारके इतिहासतत्त्व-गवेषकोका ध्यान इस ओर जाना चाहिए। यद्यपि चीनी यात्रियोके समान वर्णनका स्थान विशेषत विशिष्ट रूपसे वर्णित नही है, तथापि तत्कालीन बिहारके प्रधान नगर एव प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानोके भावपूर्ण वर्णन-परम्पराकी उपलब्धि होती है। १७ वी शताब्दीके बादके बिहारका ऐतिहासिक परिच्छेद बिना इनके अध्ययनके पूर्ण नही हो सकता। मुझे यहाँ पाटलिपुत्रसे सम्बन्धित जो उल्लेख मिले है, उन्हीकी चर्चा अपेक्षित है। विक्रम सवत् १७१७ मे लिखित तीर्थ-मालाओमे पाटलिपुत्रका उल्लेख करते हुए कवि **मुनि विजयसागर** इस प्रकार लिखते है —

> **पहुता[1] पुरवर पाडली[2] भेटया[3] श्रीगुरुहीरोजी[4]**
> **थूभि[5] नमुं थिरथापना[6] नन्दपहाडिनि तीरो जी**
> **सीरीओ[7] सुदर्शन पादुका, थूलिभद्र बहिनड[8] सातोजी**
> **अवर अनेक इहां हूआ, पुहुक[9] पुरुष वीख्यातोजी**
> **नयरि मझारि बोइ देहरां,[10] समणावसही एकोजी**
> **बिम्ब बहूअ देहरासरे, घरि-घरि नमुंअ विवेकोजी**
> **सघ मिल्यो श्रीअ आगरा, पाडलीपुर नओ समेल्यो जी**
>
> **प्राचीन तर्थमाला संग्रह, पृष्ठ ५**

उपर्युक्त उल्लेखमे सूचित किया गया है कि उन दिनो पटनामे राजा नन्दकी पाँच पहाडियाँ प्रसिद्ध थी और आज भी है। **स्थूलिभद्र श्रमणके** सिवा दो अन्य जैन-मदिर भी विद्यमान थे। ऐसे ही कई अन्य उल्लेख भी प्राप्त है जिनकी ऐतिहासिकोने घोर उपेक्षा की है।

मुनि सौभाग्यविजयने वि० स० १७५०मे समस्त बिहार प्रान्तके जैन और अजैन तीर्थोपर ऐतिहासिक दृष्टिसे अन्वेषण करते हुए जो विचार

---

[1]पहुंचा, [2]पाटलीपुत्र, [3]भेटे, [4]विजयहीरसूरि, [5]स्तूप, [6]स्थापना। [7]श्रियक स्थूलिभद्रके छोटे भाई, [8]बहनें, [9]पृथ्वी, [10]मंदिर।

व्यक्त किये है, उनपर ध्यान दिया जाना चाहिए । उन्होने पटनाको प्रमुख मानकर यहाँसे चतुर्दिग् कितनी दूरीपर कौन-सा तीर्थ है, उसका लक्षण कैसा है, मंदिर कितने है, मार्गमे कितने कोसपर कौन-कौन ग्राम पडते है, उनमे मुखिया कौन है, आदि बातोका जैसा वर्णन पद्यबद्ध रूपमे किया है । शायद बिहारके किसी भी कविने नही किया होगा । आपने पाटलिपुत्रकी उत्पत्ति भी दी है, जिसकी चर्चा बहुत पहले मै कर चुका हूँ । वे भी सूचित करते है कि दो जैन-मंदिर पाटलिपुत्रमे और एक बेगमपुरमे था। महाराजा नन्दकी पंच पहाडी इन दिनो ईंटोके टीलेके रूपमे प्रसिद्ध थी, यह केवल किंवदन्ती रह गई थी।[1] स्थूलिभद्रका जन्म-स्थान भी आपने पाटलिपुत्र ही बताया है।[2] एक तीर्थमालामे हाजीपुरको उनकी जन्मभूमि माना है[3]। पटनाके जैनोको कविने धर्मात्मा और धनवंत रूपसे उल्लेख किया है । यहाँ मै सूचित कर दू कि उपर्युक्त वर्णन सुना-सुनाया नही, बल्कि स्वयं पाद-विहार करते हुए वे पाटलिपुत्र आये थे, चातुर्मासमे रहे थे, और अपनी उक्तिको बादमे लिपिबद्ध किया था ।

जैन-लेखोंमें पाटलिपुत्र

जिस किसी भी नगरका इतिहास लिखना हो, उसके पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि तत्रस्थ समस्त साधनोका पर्यवेक्षण हो, जिनमे शिलालेखोपर

---

[1] पंचपहाड़ी परगडी जिहाँ छे इंटनीखाण हो
तेहने गुरमुख साभली, नन्दपहाडि जाणा हो सु० १३
वही

[2] थूलिभद्र पण इणपुरी अवजतरिया ब्रह्मचार,
वही

[3] हाजीपुरपट्टण सुभगाम थूलिभद्र जनम्या तिणिठांम
शीलविजय, वि० स० १७ भू

विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। क्योंकि प्रस्तरोत्कीर्ण शिलाखडोपर सीमित स्थानमे ही, विशिष्ट भावोका प्रकन होता था। इसी कारणसे शिलालेखोकी यथार्थता असदिग्ध होती हैं। पाटलिपुत्रमे जैन-सस्कृतिके व्यापक प्रभाव-सूचक उल्लेख प्राचीन प्राकृत-संस्कृत साहित्यमे विद्यमान है। उल्लेख प्रस्तर पर खुदे हुए उतने प्राचीन और कही नही मिले है। पाटलिपुत्रसे सम्बन्धित लेखोमेसे कुछ एकका उल्लेख यहाँ नीचे दिया जाता है।

(१) सवत् १६८२, मार्गशीर्ष शुदी ५ सा० कटारमल तस्यात्मज सा० कल्याणमल पुत्र चिन्तामणि श्रीजिनकुशलसूरि० बेगमपुर वासतव्य।

(२) सवत् १६९९ पूर्वदेशे पाडलिपुरनगरे बेगमपुर।[1]

(३) तपागच्छे भ० श्री ५ श्रीहीरविजयसूरि जगत पादुकेभ्यो नमः पम० चन्द्रकुशल गणि नित्य प्रणमतिश्च। संवत् १७६२ वर्ष कार्त्तिक शुक्ल ९ सा० वेणिदास पुत्र भीनसेन पुत्र मायाचन्द वीराणी गोत्रे प्रतिष्ठितम् वीराणी मयाचन्द प्र० क० पाडलिपुरे।

तीन लेख इस लेखसे साम्य रखनेवाले उपलब्ध हुए है अतः उनका उल्लेख नहीं किया।

(४) १८४८ वर्षे मार्गशिर वदि ५ सोमवारे श्रीपाडली वास्तव्य श्रीसकलसघ सुमवायेन श्रीस्थूलभद्रस्वामीजी प्रसादस्य कारापितं कार्य्यस्वास्वरी श्रतपागच्छीय श्राद्धः श्रीलोढा श्रीगुलाबचन्दजी प्रतिष्ठितं सकलसूरिभिः।

(५) सं० १८४८॥ भाद्र सुदि ११ श्रसंघेन। श्रुतकेवलि श्रीस्थूलभद्राचार्याणां देवगृहं कारयित्वा तेषां चरणन्यासः कारितः प्रतिष्ठत श्रीअमृतधर्मवचनाचार्यैः॥

(६) संवत् १८४८ मिति भद्र सुदि ११ तिथौ॥ श्रीपाटलिपुत्रे आल्हू गोत्रे सा० हुकुमचन्दजी पुत्र गुलाबचन्द भार्या फुलों बीबीकया

इष्टसिध्यर्थं श्रीचतुर्विंशतिजिनमातृस्थापना कारिता प्रतिष्ठिता च श्री श्रीजिनभक्तिसूरि प्र शिष्य श्रीअमृतधर्म वाचनाचार्य्यै श्रीरस्तु।

(७) १८५२ वर्षे पोष शुक्ल ५ भृगुवासरे पडलीपुर वास्तव्य। श्रीसकलसंघसमुदायेन श्रीविशाल स्वामी। श्रीपार्श्वनाथ स्वामी प्रासादस्यजीर्णोद्धर कारापितं। कार्य्यस्याग्रेश्वरो तपागच्छीय श्राद्धः। कुहाड श्रीज्ञानचन्द्रजी प्रतिष्ठितं च श्रीसकलसूरिभिः शुभं भूयात्।

(८) शुभ संवत् १८७७ वर्षे वैसाख शुक्ल पंचम्यां चन्द्रवासरे श्रीजिनकुशलसूरीश्वर सद्गुरुणा चरण पादुका प्रतिष्ठिता श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छे भट्टारक श्रीजिनअक्षयसूरि पट्टालंकृत श्रीजिनचन्द्रसुरिभिः श्रीमत्पाटलिपुर वास्तव्य समस्तश्रीसंघः प्रतिष्ठा कारापिता। प। गणि श्रीकीर्त्युदयोपदेशात्॥ श्रीरस्तु।

(९) सवत् १८७७ वर्षे वैशाख शुक्ल पंचम्या चन्द्रवासरे श्रीजिनकुशलसूरीश्वर सद्गुरुणाम् चरण पादुका प्रतिष्ठिता भट्टारक श्रीजिनअज(?क्ष)यसूरि पट्टालंकृत श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः मनेर वास्तव्य श्रीमालान्वये बवलिया[1] गोत्रे सुश्रावक श्रीकल्याणचन्द तत्पुत्र श्रीभग्गुलाल कीर्तचन्द तत्पौत्र किसनप्रसाद अभयचन्द्रादि परिवारेण स्वश्रेयोर्थम् प्रतिष्ठा करापिता पं। ग-कीर्त्य(द)योपदेशात्।

(१०) श्री सवत् १९१० शाके १७७५ साल मिती वैसाख शुक्ल पचम्या गोरो पाटलीपुर सर जिनालय पूर्वक श्री श्रीनेमनाथ मंदिर जेसवाल माणकचन्द तत्पुत्र मटरूमल तत्पुत्र सीवनलाल प्रतिष्ठा कारापितं श्रीअस्तु॥

उपर्युक्त शिलालेखोमे सत्तरहवी शताब्दीके बाद जो सुकृत किये गये थे, उनमेसे कुछ एकके ही उल्लेख यहाँ है। **बिडाणी** गोत्रके जैनोकी कीर्त्ति

---

[1] यह स्थान पटना सिटी स्टेशनके उस पार है। आज भी श्रीजिनदत्तसूरिजीका स्थान बना हुआ है।

पावापुरी, सम्मेदशिखर आदि तीर्थोंमे नामोत्कीर्णित है। पटनामे निवास करनेवाले जैनोकी वशावली नही मिलती और जो कुछ प्राप्त होती भी है, वह ४-५ पीढीसे ऊपर नही जा सकती। अत. यह शका होने लगती है कि यहांके स्थायी निवास करनेवाले जैनी कौन थे ? क्योकि वर्तमान पटनामें जो श्वेताम्बर जैनी निवास करते हैं, वे १००-१५० वर्ष पूर्वके नही हैं। ये लोग लखनऊ या कानपुरसे आकर यहाँ स्वतत्र बस गये या किसीकी गोद आये।

गुजराती साहित्यके पाटलिपुर सम्बन्धित उल्लेखोंसे पता चलता है कि उन दिनो यहाँ जैनोकी सख्या पर्याप्त थी। स्थानीय वयोवृद्ध इतिहास-प्रेमी बाबू पन्नालालजी कोचर (सभापति, पटना-जैन-प्रगतिशील सभा) से मुझे मालूम हुआ कि ४० वर्ष पूर्व जैनयतियो (काम चलाउ जैन-धर्म गुरू) के उपाश्रय—निवासस्थान चार-पाँच थे, जिनमेंसे गोविन्दचन्दजी गोकुलचंदजी प्रमख थे। इनके मरनेके बाद उपाश्रयोंकी सम्पत्तिपर उन्हीके चेले कहलाने-वाले उपासक गृहस्थ अधिकार जमा बैठे। गोविन्दचदजीके यहाँ हस्तलिखित प्रतियोका भी एक अच्छा सग्रह था जो जैन-सस्कृति और विशेषत आयुर्वेदसे सम्बन्धित था। आप आयुर्वेदमे सिद्धहस्त माने जाते थे। महाराज दरभंगाकी ओरसे आपको मासिक वृत्ति भी मिलती थी। इस सग्रहको पटनाके एक जैन सिहने कलकत्तामे जाकर बेच दिया। अहिंसक व्यक्तिके लिए इन सास्कृतिक साधनोंकी हत्याके अतिरिक्त और हिंसा हो ही क्या सकती है ? चान्दीके टुकडेके गुलामने पटनाकी ऐतिहासिक सामग्रीको सदाके लिए नष्ट कर दिया, क्योकि, यतियोके सग्रह मैने कई स्थानोपर देखे है, उनका ऐतिहासिक दृष्टिसे पर्यवेक्षण करनेपर मूल्यवान् सूचनाएँ मिलती हैं।

पाटलिपुत्र और जैन-पुरातत्त्व

कोई भी राष्ट्र या अन्य प्रान्त अन्योके सम्मुख तभी समुचित रूपसे

समादृत हो सकता है, जब उसके पास कलात्मक सम्पत्ति परिपूर्ण हो। पुरातत्त्वके गम्भीर अध्ययनसे ही किसी भी नगरकी प्राचीनतम संस्कृति और सभ्यताकी उच्चताका पता चल सकता है। अत जिस नगरपर कुछ भी लिखना हो, उसके पूर्व सर्वप्रथम वहाँके अवशेष या वहाँपर सुरक्षित अन्यान्य त्रुटिताशोका सर्वांगीण दृष्टिसे अभ्यास करना चाहिए। पाटलिपुत्र इन दोनो पुरातत्त्वका आकर है। जहाँ कही भी आज खुदाई होती है, कुछ न कुछ निकलता ही है। यहाँ भूमिसे निकली हुई कलात्मक सम्पत्ति पर्याप्तरूपमे यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पड़ी है, जिनपर सुव्यवस्थित अध्ययन नही हो रहा है। जनता इन्हे पाषाण समझकर छोड देती है, कुछ समझदार अपने बाग-बगीचोमे सजा देते है, बस यही नागरिक कर्तव्यकी इतिश्री समझिये। पर उन्हे क्या पता कि ये हमारे नगरके सास्कृतिक इतिहासके अनन्य प्रतीक है। हमारा अतीत इन्हीके कारण चमका था, इनमे एक प्रकारका स्पन्दन है। आजके युगमे हम यदि इनकी उपेक्षा कर बैठेगे तो बडा अनर्थ होगा।

यो तो पाटलिपुत्रके इन खडहरोपर कोई सहृदय सूक्ष्मदर्शी लिखने बैठे तो आसानीसे १००० पृष्ठ लिख सकता है। मैने अपना क्षेत्र प्रस्तुत प्रबन्धमे अत्यन्त सीमित रखा है। अत पाटलिपुत्रमे जो जैन-कलात्मक प्रतिमाएँ, मदिर आदि मिले है, उनकी एव स्थानीय सग्रहालयोमे जो सामग्री मेरे विषयसे सम्बन्धित है उन्हीकी चर्चा करूँगा। पुरातत्त्व सास्कृतिक इतिहास रूपी भवन-निर्माणमे प्रधान साधन है। स्थानीय **पाटलिपुत्र आश्चर्यगृह** और सिटीके अनन्य कलाभक्त **दीवान बहादुर श्रीयुत राधाकृष्णजी जालान**के सग्रहमे जैन-कलाके उत्कृष्टतम नमूने विद्यमान है। **जालानजी**का सग्रह मैने देखा है। वहाँ पाँच अष्टधातुकी प्रतिमाएँ तथा चार पाषाण मूर्तियाँ है जो सोलहवी-सत्रहवी शतीकी है। किसी एकको मदिर स्थित काष्ठ चौखटके उपरि भागमे रखा गया है, जिसके मध्य भागमे जैन-कलश और चतुर्दश स्वप्न सुदर ढगसे उत्कीर्णित है। नि सन्देह

यह जैन-मंदिरका ही भाग है। क्योंकि चौदह स्वप्न और किसी भी धर्मके अवशेषोमे नही मिलते। ये काष्ठका अलकरण ओड़िसाका प्रतीत होता है। कारण कि उस पर भुवनेश्वरकी शिखराकृति स्पष्ट है। यह १४वीं शताब्दी-का ज्ञात होता है। आज भी ओडिसाके कलाकार काष्ठको अपना माध्यम बनाए हुए हैं। इनके अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रन्थोका सकलन भी अच्छा ही है। कुछ जैन-चित्रकलाके नमूने हैं, जिनमें संवत् भी लिखे गये हैं। रग और रेखाओके विकासकी दृष्टिसे कलाकारोंको चाहिए कि इनका निष्पक्ष मनोभावोसे अध्ययन करे।

स्थानीय श्वेताम्बर-मन्दिरके अग्रभागमें विराट् काष्ट-पट्टिकाके ऊपर एक भावपूर्ण, प्रभावोत्पादक वर-यात्रा उत्कीर्णित है। बिहारियों-की घुटनो तक धोती, देहपर अर्धउत्तरीय वस्त्र, सिरपर पगड़ी आदि विशिष्ट वेशभूषा एव पालकीकी आकृति तथा रथचक्र प्रभृति उपकरणोको देखकर, बिना किसी सकोचके कहा जा सकता है कि यह बिहारके शिल्पियो द्वारा शुद्ध लनि कलात्मक प्रतीकके नमूने हैं। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि यह वरयात्रा किसकी होनी चाहिए? क्योंकि बिहारकी सास्कृतिक एव सामाजिक पृष्ठभूमिपर दृष्टि केन्द्रित करनेसे विदित होता है कि प्रान्तमें घटित घटनाओमे ऐसी कोई जनश्रुति नही, जिसका वर-यात्रासे विशेष सम्बन्ध हो। परन्तु, मालूम होता है, यह जैनोके बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथकी बारात है। अन्य प्रान्तीय शिल्प-स्थापत्य कलामे भी इसे स्थान दिया गया है।

पटना सिटी (बाडेकी गलीवाले) श्वेताम्बर जैन-मन्दिरमें भी तीन प्रतिमाएँ वर्तमान है, जिनमे दो जैन और एक बौद्ध हैं। एक जैन-प्रतिमापर सप्तफणी सर्पकी आकृति होनेसे पार्श्वनाथ—जो ऐतिहासिक व्यक्ति थे उनका ज्ञान होता है। इस मूर्तिमें कुछ ऐसी विशेषता है जो बिहारकी कुछेक मूर्त्तियोंको छोड़कर और कही भी न मिलेगी। यह जैन-प्रतिमा स्पष्टतः बौद्धकलासे प्रभावित है। कारण कि प्रतिमापर

इस प्रकार जो उत्तरीय वस्त्र पडा हुआ है और जिससे दोनो हाथ ढँके हुए हैं, वह भगवान् बुद्धकी मूर्त्तिके समान ही है। जैन-तीर्थंकरोकी अद्यावधि जितनी भी प्राचीन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है, उनपर इस प्रकार वस्त्रचिह्न कहीं नही पाया जाता। जैन-स्थापत्यशिल्पके ग्रन्थोमे तीर्थंकर प्रतिमापर वस्त्राच्छादित करनेका उल्लेख भी वास्तुशास्त्रमें अद्यावधि मेरे अवलोकनमे नही आया। प्रतिमाके निम्न भागके उभय पक्षमे त्रिफणयुक्त अधिष्ठात् अंकित हैं। जो धरणेन्द्र और पद्मावती है। आभूषणोमे हँसुली पाई जाती है। वह गुप्तोके अन्तिम समयके आभूषणोसे साम्य रखती है। दोनोकी नाक चिपटी होनेके कारण नि सन्देह कहा जा सकता है कि इस मूर्तिका निर्माण मगध देशमे मागधीय कलाकारो द्वारा हुआ था। गुप्तोके अन्तिम समयकी लिपिमे '**ये धम्मा हेतुपभवा**' बौद्ध-मुद्रालेख भी मूर्त्तिके पृष्ठ भागमे अकित है। अत. मै इस निश्चयपर पहुँचा हूँ कि इस मूर्तिका निर्माणकाल गुप्तोका अन्तिम समय होना चाहिए। प्रतिमा श्याम पाषाण-पर उत्कीर्णित है, जो विहारका खास प्रस्तर है।

उपर्युक्त मूर्तिके बाये भागमे एक श्याम शिलापर भगवान्की प्रतिमा खुदी हुई है। जिसके उभय पक्षमे इन्द्र-इन्द्राणी चामर लिये खडे है। प्रतिमा बडी मनोज्ञ और आध्यामित्क भावोको लिये हुए है । सौन्दर्यकी दृष्टिसे ऐसी मूर्तियाँ कम देखनेमे आती है। निम्न भागमें उभय ओर वृषभ और मध्यमे धर्मचक्र है। प्रतिमा ऋषभदेव भगवान्की है उपरि भागमें देवतागण पुष्पमाला लिये खडे है। तदुपरि वाद्योको अदृश्य हस्त बजा रहे हैं। कल्पवृक्षकी पँखुडियाँ है। इस प्रकारका अगविन्यास केवल मगधके कलाकार ही बना सके हैं। मगधकी बनी प्रतिमाएँ दूरसे ही पहचानी जाती हैं। इस प्रकारकी प्रतिमाओके कुछ चित्र तो आ० स० इ० १८२६के वृत्तपत्रमें प्रकट भी हुए हैं। मगधके कलाकारोंमें जो प्रतिमा या शिल्प स्थापत्य-कला-निर्माण-विषयक विशेषता पाई जाती है, वह यह कि वे अपने प्रान्तमें प्राप्त पाषाणोका ही उपयोग करते थे और वह भी

पूर्ण सफलताके साथ। उनपरकी पालिश आजके सगमरमरके पाषाणोंसे कही अधिक चमकदार है। जैन-मन्दिरमें एक मुकुटधारी बौद्ध मूर्ति भी अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण है। जिसमे बन्दरका चिह्न अकित है। कुछ धातु प्रतिमाएँ भी हे. जो प्राचीन और कलापूर्ण हैं।

पाटलिपुत्र आश्चर्यगृहमे भी जैनतीर्थंकर और यक्षोकी प्राचीनतम प्रतिमाएँ विद्यमान है, जिनमेसे कुछेक पटनासे ही प्राप्त की गई है और अवशिष्ट बिहारके अन्य स्थानोसे। इन प्रतिमाओके चित्र भी आश्चर्यगृहसे सरलतासे प्राप्त किये जा सकते है। उनपर कलात्मक विवेचन डालनेवाला साहित्य अभीतक तैयार नही हो पाया है। पटना जैन-समाज अन्य कार्योंमे अपनी क्रियाशीलताका परिचय देनेमे पश्चात्पाद नही रहता, पर ऐसे सास्कृतिक कार्योंमे न जाने क्यो चुप्पी साध लेता है।

उपर्युक्त पक्तियोसे सूचित होता है कि पाटलिपुत्रका महत्त्व जैनदृष्टिसे कितना गौरवपूर्ण है। इतिहासकारोने अभीतक जैनोकी ऐतिहासिक दृष्टिको समझा ही नही था। अब भी यदि गम्भीर गवेषणा हो तो बहुमूल्य तथ्य प्रकाशमे आ सकते है। विद्वानोकी मान्यता है कि प्राचीन बिहारका इतिहास ही भारतका इतिहास है; और बिहारके इतिहासका अधिकांश भाग जैन-इतिहाससे सुसम्बन्धित है।

ज्ञानपीठके सुरुचिपूर्ण हिन्दी प्रकाशन